CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

भावत्रयफलप्रदर्शी तथा बोधामृतसार

(अशुभ-शुभ-शुद्ध परिणामों से होनेवाला फल)

रचयिता

१०८ मुनिश्री कुंथुसागर

सम्पादक

पं. वर्धमान पार्श्वनाथशास्त्री

हिन्दी टीकाकार

धर्मरत्न पं. लालारामशास्त्री

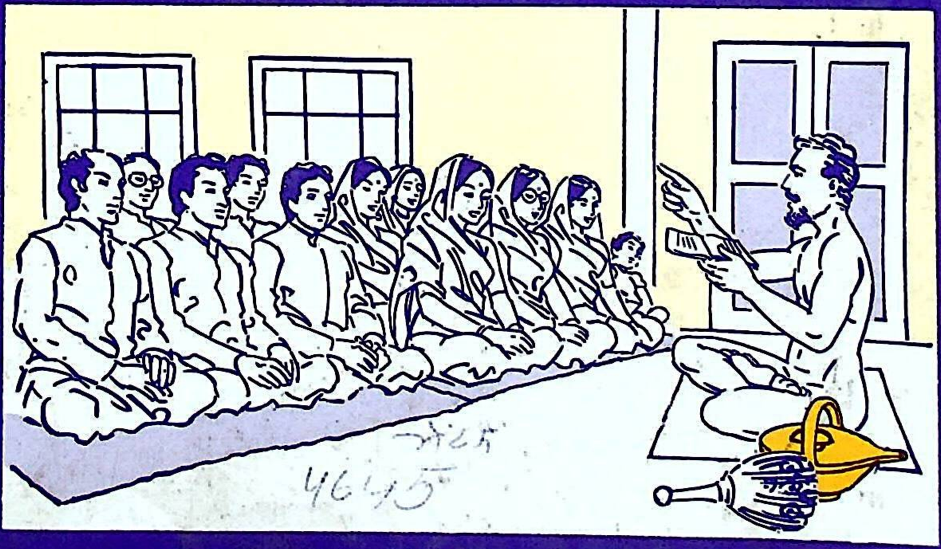

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

11.6

4645

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

भावत्रयफलप्रदर्शी
तथा
बोधामृतसार

(अशुभ-शुभ-शुद्ध परिणामों से होनेवाला फल)

4645

❀ रचयिता ❀

१०८ मुनिश्री कुंथुसागरजी

❀ सम्पादक ❀

पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

❀ हिन्दी टीकाकार ❀

धर्मरत्न पं. लालाराम शास्त्री

इस ग्रंथ के पुन: प्रकाशन के प्रेरणा स्रोत

१०८ मुनि श्री भूतबली सागर

❀ पुस्तक प्राप्ति स्थान ❀

श्रीमती लक्ष्मी जैन
धर्मपत्नि श्री गुरुचरणदास जैन
१४४, मूवी टावर्स, मिल्लत नगर,
लोखंडवाला कांपलेक्स, अंधेरी (प.), मुंबई.
फोन : ०२२-६३२ ७१५२ / ६३१ २१२५

एस. टी. पी. सिस्टम कं. प्रा. लि.
१६/१७, विष्णु सदन,
विजय सेल्स के सामने,
गोरेगांव (प.), मुंबई.
फोन : ०२२-८५७ १८३१ / ८७२ ९९८९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

❑ परमपूज्य श्री १०८ मुनि कुंथुसागर विरचित
भावत्रयफलप्रदर्शी एवं
बोधामृतसार

❑ **सम्पादक :**
पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

❑ **हिन्दी अनुवाद :**
धर्मरत्न पं. लालारामजी शास्त्री

❑ **प्रतियाँ :** १०००

❑ **प्रकाशन तिथि :**
५ नवम्बर, २००० / वीर निर्वाण सम्वत, २०२७

❑ **मूल्य :** लागत मूल्य ६५/- रुपये
बिक्री मूल्य २०/- रुपये

❑ **आवरण शिल्पी :** श्री सुरेश म्हात्रे

❑ **मुद्रक :** सन्मति प्रकाशन, मुंबई - ४०० ००४.
फोन : ०२२ - ३८६ २८ २९

-: इस प्रकाशन में आर्थिक सहयोग :-
एक सद्‌गृहस्थ द्वारा रू.२५,०००/- शेष राशि गुप्तदान से प्राप्त।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री

समर्पण

श्रीमदाचार्यवर्य पूज्यपाद गुरुवर्य

श्री १०८ शान्तिसागरजी (भोज) महाराजके

पुनीत करकमलोंमें,

भगवन् !

आपकी ही कृपासे सांसारिकतृष्णासे मुक्त होकर
मैंने यह पवित्र रत्नत्रय धारण किया है
तथा आपकी ही भक्तिके प्रसादसे यह अत्यंत
स्वल्परूपा विद्या प्राप्त की है और
उसीके फल स्वरूप ये ग्रंथ
प्रगट हुए हैं । इसलिए मैं
आपके ही पवित्र करकमलोंमें
भावत्रयफलप्रदर्शी तथा बोधामृतसार
इन दोनों ग्रंथों का समर्पण करता हूं और भावना
रखता हूं कि आपके पवित्र चरण कमलोंकी
भक्ति मेरे हृदयमें सदा बनी रहे ।

चरणसंरोरुहसेवी शिष्य

निर्ग्रंथ श्री कुंथुसागर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तुत संस्करण एवं सन्दर्भ

जे स्वरूप समज्या विना पाम्यो दु:ख अनंत;
समजाव्युं ते पदनमुं, श्री सद्‌गुरू भगवंत

परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी मुनि महाराज के परम शिष्य १०८ मुनिश्री कुंथुसागरजी महाराज द्वारा रचित **'भावत्रयफलप्रदर्शी एवं बोधामृत सार तथा लघुबोधामृत सार'** वर्षों से अनुपलब्ध थे । पूज्य मुनिश्री के मूल तीन ग्रंथ है । जिनके पढ़ने से किये हुए कर्मों के परिणामों का चित्रण तथा जैन धर्म के सिद्धान्तों को पढ़ने से धर्मरूपी पुण्य के सहारे से देवपूजा गुरु पास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान इन छ क्रियाओं को करते हुए केवलज्ञान रूपी फल को पाने की अग्रसर होओगे ।

स्वाध्याय प्रेमी, जिन विद्याव्यसनी परमपूज्य मुनिश्री १०८ भूतबलीसागरजी महाराज का चातुर्मास पिछले कुछ वर्षों से मुंबई महानगर तथा इसके आस पास हो रहा है । उनके सान्निध्य के कारण इस मोहमयी मायानगरी के मोह को कम करते हुए जैन धर्म का प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव बढ़ रहा है । एक बार जो उनके दर्शन करले चाहे जिस जाति-धर्म का हो मन से जैन भक्त बन जाता है । जैन साहित्य के अनुपलब्ध ग्रंथों को प्रकाशित करने को वे हमेशा जैन समाज को प्रोत्साहित करते रहते हैं ।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में एक सद्‌गृहस्थ ने रू.२५,०००/- का आर्थिक सहयोग तथा शेष राशि गुप्तदान से प्राप्त हुई है । अत: वे सभी साधुवाद के पात्र हैं । जिनवाणी के प्रचार, प्रसार में सदा उनका मन भविष्य में भी लगा रहे है । संभव है कुछ प्रुफ की त्रुटियां रह गई हों तो सुधिजन सुधारकर पढ़ेंगे तथा तदर्थ क्षमा करेंगें । इसी शुभ भावना के साथ...

५ नवम्बर, २०००
मुंबई.

- देवेन्द्र जैन
के वन्दन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनाचार्योंका अनुग्रह

संसारमें श्रुताराधना भवबंधनसे मुक्त होनेके लिए अत्यंत उपयुक्त साधन है। जैनागम भगवान् सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित हुआ। पुनः गणधरादिकके द्वारा उसकी परंपरा श्रौत और स्मार्तके रूपसे बराबर चली आती रही। प्रत्येक आचार्य अपने गुरुसे जो भी तत्वको श्रुतिपथमें ग्रहण कर लेते थे उसे स्मृतिमें रखकर अपने शिष्योंको श्रवण कराते थे वे पुनः अपने शिष्योंको सुनाते थे। वे निर्मलज्ञानधारी तपोनिधि मुनिपुंगव अत्यंत विशिष्ट कर्मक्षयोपशमके प्रभावसे एकपाठी द्विपाठी आदि होते थे। अतएव गुरुसे जिस प्रकार सुनते थे उसी प्रकार स्मरणमें रखकर उसे अपने शिष्योंको उपदेश देते थे।

प्राचीन इतिहासको देखनेपर मालूम होता है कि श्रुतज्ञानकी परंपरा प्रातःस्मरणीय महर्षियोंके अनुग्रहसे अविछि्छन्न रूपसे चली आती रही।

भगवान् महावीरका यह तीर्थ है, वीर-प्रभुके मोक्ष सिधारने के बाद तीन अनुबद्ध केवली हुए। भगवान् जिस समय मोक्ष पधारे उसी समय गौतम गणधरको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई। केवलज्ञानकी अवस्थामें उन्होंने १२ वर्षतक विहार कर धर्मोपदेश दिया। भगवान् गौतमस्वामी जिस समय मुक्त हुए उस समय लोहार्यको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई। लोहार्यका ही अपरनाम सुधर्मस्वामी था। सुधर्मस्वामीने भी १२ वर्षतक विहार कर धर्मवर्षा की। भगवान् सुधर्मस्वामीने जब मोक्ष प्राप्त किया उसी समय जंबूस्वामीको केवलज्ञान हुआ। जंबूस्वामीने ३८ वर्षपर्यंत केवलज्ञान अवस्थामें विहार किया। व धर्मोपदेश देकर प्राणियोंका उद्धार किया। जंबूस्वामी अंतिम केवली कहलाते हैं। जंबूस्वामीके बाद केवली कोई नहीं हुए हों यह बात नहीं है, उनके बाद भी अन्य केवली हुए हैं। परंतु अनुबद्ध केवलियोंमें जंबूस्वामी ही अंतिम हैं। जंबूस्वामी तक ही अनुबद्ध केवलियोंकी परंपरा रही। इस प्रकार भगवान् महावीरके निर्वाणके बाद १२ वर्ष गौतम स्वामीका, १२ वर्ष सुधर्मस्वामीका और ३८ वर्ष जंबूस्वामीका विहारकाल रहा। अर्थात् ६२ वर्षतक अनुबद्ध केवलियोनें अपने दिव्यवाणीसे संसारका उपकार किया। तदनंतर १०० वर्षोंमें पांच श्रुतकेवली हुए। जंबूस्वामीकी मुक्ति सिधारनेके बाद १४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्षतक श्रुतकेवली विष्णु स्वामीका समय रहा । तदनंतर १६ वर्षतक नंदिमित्र स्वामीने श्रुतकेवली होकर श्रुतज्ञानको प्रकाशित किया, बाद २२ वर्षतक अपराजित मुनिने श्रुतज्ञानसे विश्वका उपकार किया । तदनंतर १९ वर्षतक भगवान् गोवर्धन स्वामीने श्रुतज्ञानका उद्योत किया एवं अंतमें २९ वर्षतक भगवान् भद्रबाहुने श्रुतज्ञान प्रकाशसे भव्योंका उपकार किया । इस प्रकार पांच श्रुतकेवलियोंका समय १०० वर्षका होता है । यहांतक भगवान् महावीरके निर्वाण होकर १६२ वर्ष व्यतीत होते हैं ।

तदनंतर दशपूर्वधारी ग्यारह आचार्य हुए । उनका क्रमशः विहारकाल इस प्रकार है । मुनिराज विशाखाचार्य १० वर्ष, प्रोष्ठिलस्वामीने १९ वर्ष, क्षत्रियगुरुने १७ वर्ष, जयसेन स्वामीने २१ वर्ष, नागसेन स्वामीने १८ वर्ष, सिद्धार्थयतिने १७ वर्ष, धृतिषेणने १८ वर्ष, विजयगुरुने १३ वर्ष, बुद्धिल्लनने २० वर्ष, गंगदेव स्वामीने १४ वर्ष और धर्मसेनने १४ वर्ष (१६ वर्ष किसी किसीके मतसे) तक पुण्यविहारकर श्रुतज्ञानका उद्योत किया । इनका कुल समय १८१ या १८३ वर्ष रहा । अर्थात् महावीर निर्वतिके ३४३ (३४५) वर्षतक दशपूर्वधारियोंका अस्तित्व रहा । इसके बाद २२० वर्षतक ग्यारह अंगरूप श्रुतज्ञानके धारी कृत्स्न व एकदेशके रूपमें थे । ग्यारह अंगके धारी नक्षत्राचार्य (१८) जयपाल (२०) पांडव (३९) ध्रुवसेन (१४) और कंसाचार्य (३२) इस प्रकार पांच आचार्य १२३ वर्षोंमें हुए । इन पांचोंके बाद इस भरतमें ग्यारह अंगके धारी नहीं हुए । तदनंतर ९७ वर्षोंमें दस, नव, आठ गके धारी सुभद्र (६) यशोभद्र (१८) भद्रबाहु (२३) और लोहाचार्य (५०) इस प्रकार पांच आचार्योंने जिनशासनका उद्योत किया । यहांतक वीर निर्वाण काल ५६५ वर्ष होता है । तदनंतर ११८ वर्षोंमें एक अंगके धारी अर्हद्बलि (२८) माघनंदि (२१) धरसेनाचार्य (१९) पुष्पदंत (३०) भूतबलि (२०) इस प्रकार पांच आचार्य हुए । यहांतक वीर निर्वाणकाल ६८३ वर्ष होते हैं ।

इस प्रकार भगवान् महावीरके निर्वाणके अनंतर ६८३ वर्ष तक श्रुतज्ञान सूर्य चमककर अस्त होगया । पांच केवली, पांच श्रुतकेवली, ग्यारह दश पूर्वी, पांच एकादशांगधारी, और दशनवांगधारियोंका जो वर्णन किया है वह सब अनुबद्धोंकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपेक्षासे है । यह वर्णन अनुबद्ध परंपराका है, इसके अलावा आचार्योंकी अनेक परंपरायें थी । उनमें भी अनेक उद्भट विद्वान आचार्य हुए हैं, उन्होंने जिनशासनका विशेष उद्योत किया । आचारांग धारियोंके अनंतर कितने ही एकदेशांगधारी विद्वान् आरातीय आचार्य हुए हैं । उन्होंने उस एकदेशांग ज्ञानवलसे श्रुतका उपदेश इस भरतमें दिया । एक पट्टावलीमें अर्हद्वलि आदि पांच आचार्योंको एकांगधारी बतलाया गया है, दूसरी जगह उनको एकदेशांगधारी होनेका उल्लेख मिलता है । सुभद्र यशोभद्र, भद्रबाहु, लोहाचार्य को एकांगधारी बतलाया गया है । इस तरह महावीर प्रभुके निर्वाणके बाद अनेक प्रकांड विद्वान् श्रुतपारगामी महर्षियोने जिनशासनकी प्रभावना की ।

आगमोंके विभागके अनुसार एक २ पूर्वमें अनेक वस्तुएं और एक एक वस्तुमें कई प्राभृत होते हैं । आरातीय आचार्योंमें कितने ही आचार्य कितनी ही वस्तुओंके और कितने ही केवल कितने ही प्राभृतोंके ज्ञाता रहे थे । महार्षि धरषेणाचार्यको दूसरे आग्रायणी पूर्वकी पांचवी वस्तुके चौथे महाकर्म प्राभृतका पूर्ण ज्ञान था । और गुणधर आचार्य पांचवें ज्ञानप्रवाद पूर्वकी दशमी वस्तुके तीसरे प्रेयोदोष प्राभृतके पूर्णज्ञाता थे । धरषेणाचार्यने भूतबलि और पुष्पदंताचार्य को महाकर्म प्रकृति-प्राभृतको पढ़ाया और गुणधर स्वामीने सोलह हजार ग्रंथप्रमाण प्रेयोदोष प्राभृतको संक्षिप्त कर एकसोअस्सी सूत्रगाथावोंमें और करीब पांचसौ भाष्यगाथाओंमें कषाय प्राभृत नामक ग्रंथ रचा । यहांतक प्राभृतोंका ज्ञान रहा । बाद वह भी नष्ट होगया एवं उनका अंशरूप ज्ञान रहा ।

भगवान् पुष्पदंतने 'जीवट्ठाण' का पहिला अधिकार सत्प्ररूपणाके एकसौ बीस सूत्र रचकर अपने भानजे जिनपालिकतको पढ़ाये और उनको भगवान् भूतबलि के पास भेजा, जिनपालितने भूतबलीको सत्प्ररूपणाको सुनाया, भूतबलीने पुष्पदंतस्वामीके अभिप्रायको समझकर महाकर्म प्रकृति प्राभृतको संक्षिप्त कर उसे छह खंडोंमें विभक्त किया उन्होंने पुष्पदंत आचार्यके सूत्रोंसहित पांच खंडोंके छह हजार सूत्र और छट्ठे महाबंधके तीस हजार सूत्र लिखे एवं ज्येष्ठ शुक्ल पंचमीके रोज चतु:संघके सामने उस षट्खंडागमकी पूजा की । तभीसे वह पंचमी श्रुतपंचमीके नामसे प्रसिद्ध हुई ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इससे पहिले लेखन पद्धति ही नहीं थी यह बात नहीं है। परंतु अंग और पूर्व शास्त्रोंको लिखनेकी परिपाटी नहीं थी। उनका पठन पाठन मौखिक ही गुरु परंपरामें होता था।

उस समय अंग और पूर्वशास्त्रोंके अलावा श्रावकोंको स्वाध्याय करने योग्य साररूप अनेक रचनायें थी। परंतु उन सबका व्यवहार मौखिक ही होता था। परंतु जब आचार्योंने देखा कि मनुष्योंकी आयु और बुद्धि उत्तरोत्तर अल्प होने लगी है, ऐसी अवस्थामें आगे चलकर श्रुतका विच्छेद होगा। श्रुतका विच्छेद होनेसे जीवोंका अकल्याण होगा, इस भयसे भव्योंके भावी हितको दृष्टिकोणमें रखकर ग्रंथोंको लिपिबद्ध किया। ताडपत्रोंपर उस श्रुतदेवीकी स्थापना की।

तदनंतर गुरुपरंपरासे आगमोंकी रचना होने लगी। प्रात:स्मरणीय ऋषियोंने अपने ध्यानाध्ययनसे बचे हुए समयको ग्रंथरचनाके कार्यमें उपयोग किया। क्योंकि चित्तकी चंचलताको दूर करनेके लिए ग्रंथस्वाध्याय या रचनाके सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं है। ध्यानकी अवस्थामें अधिक समयका रहना कठिन हैं, अतएव उस चंचल चित्तको यदि ग्रंथ रचनाके कार्यमें उपयोग किया तो उससे स्वत:के आत्म-परिणाममें विशुद्धिके साथ दूसरे अनंत भव्योंका कल्याण होता है। अतएव यह एक विशिष्ठ धर्म्यध्यान है, अतएव महर्षियोंने इस मार्गका अवलंबन किया। आज यदि पूर्वाचार्योंने ग्रंथ रचना नहीं की होती तो हम लोग बिलकुल अंधेरेमें रहते। हम कौन हैं यह भी समझनेके लिए हमारे पास कोई मार्ग नहीं था। अतएव उन महर्षियोंका हमपर अनंत अनुग्रह है।

बादके कालमें अनेक उद्भट आचार्योंने आध्यात्मिक, सैद्धांतिक, ज्योतिष्य, वैद्यक आदि विषयोमें उत्तमोत्तम रचनावोंको रचकर श्रुतदेवीके कंठहार बनाये। महर्षि कुंदकुंद स्वामीके प्राभृतशास्त्र, आध्यात्मिक शास्त्र, भगवदुमा स्वामीका तत्वार्थ ग्रंथ, समंतभद्र स्वामीका आचार शास्त्र, वैद्यक शास्त्र एवं न्याय शास्त्र, पूज्यपाद स्वामीकी सर्वार्थसिद्धी, समाधिशतक, संहिताशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, भट्टारकलंकदेवका राजवार्तिक, न्यायशास्त्र, भगवान् वीरसेन स्वामीकी धवला टीका एवं आर्य महापुराण, नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तिके गोम्मटसार, क्षपणासारक, विद्यानंदिके श्लोकवार्तिक आदि रचनायें आज इस बातके लिए पर्यप्त साक्षी हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि उन महर्षियोंके ह्रदयमें श्रुतोद्धारकी कितनी उत्कट चिंता थी एवं भव्योंके उद्धारकी कितनी विशुद्ध भावना थी परंतु खेद है कि उनकी कितनी ही बहुमूल्य-रचनायें आज उपलब्ध होनेपर भी कितने ही लिपिबद्ध श्रुत भी आज उपलब्ध नहीं है । उच्चरणाचार्यके १२ हजार उच्चारणासूत्र, कुंदकुंद स्वामीके बारह हजार परिकर्म सूत्र, शामकुंडाचार्यके १२ हजार प्रमाणपद्धति, तुंबुलूराचार्यके ८४००० श्लोक प्रमाण चूडामणि, समंतभद्रकी प्रथम सिद्धांतकी ४८००० प्रमाण टीका व गंध हस्तिमहाभाष्य, कहां गये ? इसी प्रकार विद्यानंदि स्वामीके विद्यानंद महोदय, पूज्यपादका सारसंग्रह आदि ग्रंथ भी अदृश्य हैं । यह सब हमारे प्रमादका फल है । परंतु इतना निर्विवाद कहना पड़ता है उन वंदनीय विभूतियोंने श्रुतसंरक्षणमें कोई कमी नहीं की । इसीलिए उनकी धवलकीर्ति आज आचंद्रार्क स्थायी होगई है । आर्वाचीन आचार्योंमें सैकड़ों ऋषियोंने ग्रंथ निर्माण कर विश्वको उपकृत किया । महर्षि प्रभाचंद्राचार्य, इंद्रनंदि वीरनंदि, अभयचंद्र, कुमुदचंद्र, कनकनंदि, कनकसेन, कुमारसेन, गुणनंदी, गुणभद्र, चामुंडराय आदि सेंकड़ों आचार्योंने सैकड़ों ग्रंथोंकी रचना कर जैन साहित्यिक क्षेत्रमें रत्नोंको उपस्थित किया है । उन आचार्योंके उपकारसे हम कभी उऋण नहीं हो सकते । इस प्रकार अनेक उद्भट आचार्योंने जैनतत्वज्ञान, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र-वाद आदिके अनेक ग्रंथोंकी रचना कर हमलोगोंको अनंत उपकार किये हैं । कुंदकुंद स्वामीसे लेकर वर्तमानके महान् आचार्य शांतिसागर महाराज पर्यंत ऐसे हजारों साधु हो गये हैं । जिन्होंने अपने पुण्यविहारसे, भव्योंका कल्याण किया है । उन्हींके शिष्योंसे परम प्रभावक विद्वान् आचार्य कुंथुसागर महाराज हुए । वर्तमान समयमें सामयिक प्रभावसे जब कि लोगोंकी धर्मकर्मसे आस्था उठी जारही थी, आगमोंकी अवहेलना करने लगे थे, गुरुवोंके प्रति उपास्यभावनाकी कमी होती जाती थी, ऐसे समयमें विशिष्ट ज्ञानज्योतिको जगानेवाले साधु सत्पुरुषोंकी आवश्यकता थी । हमें हर्ष है कि समयकी मांगको श्रीपरमपूज्य, प्रातःस्मरणीय विश्ववंद्य तपोनिधि आचार्य महाराजके के पवित्र अवतारने पूर्ण किया । आपने अपने दिव्यविहारसे असंख्य आत्मावोंके उद्धारके साथ अनेक उत्तम नीतिप्रद बोधपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की । और आप ध्यान संयम आदि नियत क्रियावोंसे निवृत्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होकर घंटों मौनसे व्यतीत करते हैं एवं स्वपरकल्याणकारी ग्रंथोंकी रचना करते हैं। भारतमें जहां जहां आपका विहार होता है वहांके जैन क्या जैनेतर क्या, राजा क्या प्रजायें क्या सभी आपके चरणोंकी उपासनामें अपनेको धन्य मानते हैं। अनेक रियासतके शासक आपके परम भक्त हैं। आपकी मधुरवाणीसे विश्वका अपार कल्याण हो रहा है। सचमुचमें प्राचीन ऋषियोंकी परंपराके समान ही भव्योंपर यह महदनुग्रह है।

आचार्य चरणसेवक,
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीपरमपूज्य, प्रातःस्मरणीय, विश्ववंद्य तपोनिधि मुनि श्री १०८ कुंथुसागर महाराजका

परिचय

आद्य वक्तव्य ।

सम्यग्दर्शनदीपप्रकाशका मेयबोधसंभूताः ।
भूरिचरित्रपताका-स्ते साधुगुणास्तु मां पान्तु ॥

जो सम्यग्दर्शनरूपी दीपकसे भव्य जीवोंके मनके अंधकारको दूर कर उनके मनमें प्रकाश करनेवाले हैं जीवादिक समस्त पदार्थोंके ज्ञानसे सुशोभित हैं और अतिशय चारित्रकी पताका जिन्होंने फहरा रक्खी है ऐसे साधुगण मेरी रक्षा करें ।

गृहस्थोंके मुख्य कर्तव्य इज्या व दत्ति है ! दोनों कार्योंके लिये गुरु प्रधान आधार हैं । जिस पंचम कालमें साक्षात् तीर्थंकर व इतर केवलियोंका एवं ऋद्धिधारी तपस्वियोंका अभाव है, एवं दिव्यज्ञानि मुनियोंके अभाव के साथ शास्त्रोंके अर्थको अनर्थ करनेवाले भोले लागोंको भड़काने वालोंकी भी अधिकता है, इस विकट परिस्थिति में पूज्यपाद जगद्वंद्य शांतिसागर महाराज सदृश महापुरुषोंका उदय होना सचमुच में भाग्यसूचक है । महर्षि के प्रसादसे आज भी आसेतु हिमाचल (दक्षिणसे लेकर उत्तर तक) धर्मप्रवाहका संचार हो रहा है । आजके युगमें आचार्य महाराज अलौकिक महापुरुष हैं । जगद्वंद्य है । संसारके दुःखोंसे भयभीत प्राणियोंको तारने के लिये अकारणबंधु है । आचार्य महाराजके दिव्य विहार से ही आज धर्मकी प्राचीन संस्कृति यत्रतत्र दृष्टिगोचर हो रही है । आपके ह्रदयकी गंभीरता, अचल धीरता व शांतिप्रियताको देखते हुए सचमुचमें आपके नामका सार्थक्य समझ में आता है । जिन्होंने भक्तिपूर्वक आपका एक दफे दर्शन किया हो उनको आपकी महत्ताका परिज्ञान हुए बिना नहीं रहसकता है । एकदफे आपके सामने कोई क्रूर ह्रदयी शत्रु भी क्यों न आवें; आपकी शांतमुद्राको देखकर वह द्रवित हो जाता है । इतना ही क्यों बड़ेसे बड़े क्रूर मृग, विषधर आदि भी शांत हो जाते हैं । आपका माहात्म्य इसीसे स्पष्ट है कि कई दफे प्राणकंटक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपसर्ग आनेपर भी उनसे महाराजकी सिंहवृत्तिमें कोई विराधना नहीं हो सकी। ऐसे प्रात:स्मरणीय साधुवोंके दर्शन, स्तवन व वैयावृत्यके लिये ही नहीं नामोच्च-रण करनेके लिए भी पूर्वोपार्जित पुण्यकी आवश्यकता है। यह सर्वसाधारणके लिये सुगम नहीं है।

महर्षि कुंथुसागर महाराजने पूर्वभव में भी विशिष्ट तपश्चर्या की होगी जिससे कि उन्हें महर्षि शांतिसागर महाराज सदृश गुरुवोंकी प्राप्ति हुई व उन्हींके पादमूल में उन्हींके चरित्र चित्रण करनेका भी भाग्य मिला यह साहजिक है। आत्मसंयमका फल व्यर्थ नहीं जाया करता है। आचार्य महाराजका चरित्र श्री पूज्य कुंथुसागर महाराजने पहिले लिखा था।

श्रीपरमपूज्य, विश्ववंद्य आचार्य श्री कुंथुसागर महाराजका परिचय आज देनेकी आवश्यकता नहीं है। कारण वे अपनी प्रतिभाशाली विद्वत्ता, अगाध ज्ञान, निर्मल चारित्र, व घोरतर तपश्चर्यासे लोकविख्यात हुए हैं। तथापि प्रस्तुत पुस्तक पूज्य श्रीके द्वारा विरचित होनेके कारण उनके संबंधमें कुछ भी लिखना आवश्यक है। अत: यहां संक्षेपसे लिखा जाता है।

आपकी जन्मभूमि कर्नाटक प्रांत है जिसे पूर्वमें कितने ही महर्षियोंने अलंकृत कर जैनधर्मका मुख उज्ज्वल किया था।

कर्नाटक प्रांतके ऐश्वर्यभूत बेलगाम जिलेमें ऐनापूर नामक सुंदर ग्राम है। वहांपर चतुर्थकुलमें ललामभूत अत्यंत शांतस्वभाव वाले सातप्पा नामक श्रावकोत्तम रहते हैं। आपकी धर्मपत्नी साक्षात् सरस्वतीके समान सद्गुणसंपन्न थी। इसलिए सरस्वतीके नामसे ही प्रसिद्ध थी। सातप्पा व सरस्वती दोनों अत्यंत प्रेम व उत्साहसे देवपूजा, गुरुपास्ति आदि सत्कार्यमें सदा मग्न रहते थे। धर्मकार्यको वे प्रधान कार्य समझते थे। उनके हृदयमें आंतरिक धार्मिक श्रद्धा थी। श्रीमती सौ. सरस्वतीने वीरसं. २४२० कार्तिक शु. २ को एक पुत्र-रत्नको जन्म दिया। इस पुत्रका जन्म शुल्कपक्षकी द्वितीयाको हुआ। इसलिए शुक्लपक्षके चंद्रमाके समान दिनपर दिन अनेक कलावोंसे वृद्धिंगत होने लगा। मातापिताओंने पुत्रका जीवन सुसंस्कृत हो इस सुविचारसे जन्मसे ही आगमौक्त संस्कारोंसे संस्कृत किया। जातकर्मसंस्कार होनेके बाद शुभ मुहूर्तमें नामकरणसंस्कार किया गया जिसमें इस पुत्रका नाम रामचंद्र रखा गया। बादमें चौलकर्म, अक्षराभ्यास,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुस्तकग्रहण आदि संस्कारोंसे संस्कृत कर सद्विद्याका अध्ययन कराया। रामचंद्रके हृदयमें बाल्यकालसे ही विनय, शील व सदाचार आदि भाव जागृत हुए थे जिसे देखकर लोग आश्चर्य व संतुष्ट होते थे। रामचंद्रको मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र के समान ही बाल्यावस्था में साधु संयमियों के दर्शनमें उत्कट इच्छा रहती थी। कोई साधु ऐनापुरमें आते तो यह बालक दौड़कर उनकी वंदनाके लिए पहुंचता था। बाल्यकालसे ही हृदयमें धर्ममें अभिरुचि थी। सदा अपने सहधर्मियोंके साथ में तत्त्वचर्चा करनेमें ही इसका समय बीतता था। इस प्रकार सोलह वर्ष व्यतीत हुए। अब मातापितावोंने रामचंद्रको विवाह करनेका विचार प्रगट किया। नैसर्गिक गुणसे प्रेरित होकर रामचंद्रने विवाहके लिए निषेध किया एवं प्रार्थना की कि पिताजी ! इस लौकिकविवाहसे मुझे संतोष नहीं होगा। मैं अलौकिक विवाह अर्थात् मुक्तिलक्ष्मीके साथ विवाह कर लेना चाहता हूं। माता पितावोंने आग्रह किया कि पुत्र ! तुम्हें लौकिकविवाह भी करके हम लोगोंकी आंखोंको तृप्त करना चाहिये। मातापितावोंके आज्ञाल्लंघन भयसे इच्छा न होते हुए भी रामचंद्रने विवाहकी स्वीकृति दी। मातापितावोंने विवाह किया। रामचंद्रको अनुभव होता था कि मै विवाह कर बड़े बंधनमें पड़ गया हूं।

विशेष विषय यह है कि बाल्यकालमें संस्कारोंसे सुदृढ़ होनेके कारण यौवनावस्थामें भी रामचंद्रको कोई व्यसन नहीं था। व्यसन था तो केवल धर्मचर्चा, सत्संगती व शास्त्रस्वाध्यायका था। बाकी व्यसन तो उससे घबराकर दूर भागते थे। इस प्रकार पच्चीस वर्षतक रामचंद्रने किसी तरह घरमें वास किया, खेतीवाड़ी करते हुए भी निस्पृह होकर अपने वैराग्य और शारिरिक शक्ति के साथ चार एकड़ खेत में फैले हुए रुई के सूखे पेड़ों को आठ घंटे में हाथ से उखाड़कर, गठरी बनाकर रखते थे। उनकी यह विशेष शक्ति घर में रहते हुए अपार दिखती थी। परन्तु बीच २ में मनमें यह भावना जागृत होती थी कि भगवन् ! मैं इस गृहबंधनसे कब छूटूं। जिनदीक्षा लेनेका भाग्य कब मिलेगा ? वह दिन कब आवेगा जब कि सर्वसंगपरित्याग कर मैं स्वपर कल्याण कर सकूं।

रामचंद्रके श्वसुर भी धनिक थे। उनके पास बहुत संपत्ति थी। परंतु उनको कोई संतान नहीं था। वे रामचंद्रसे कई दफा कहते थे कि यह संपत्ति घर वगैरे तुम ही ले लो। मेरे यहांके सब कारोबार तुम ही चलावो। परंतु रामचंद्र उन्हें दुःख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न हो इस विचारसे कुछ दिन रहा भी, परंतु मन मनमें यह विचार किया करता था कि मैं अपना भी घरदार छोड़ना चाहता हूं । इनकी संपत्तिको लेकर मैं क्या करूं । रामचंद्रकी इस प्रकारकी वृत्तिसे श्वसुरको दु:ख होता था । परंतु रामचंद्र लाचार था । जब उसने सर्वथा गृहत्याग करनेका निश्चय ही कर लिया तो उनके श्वसुरको बहुत अधिक दु:ख हुआ ।

दैवत् इस बीचमें मातापितावोंका स्वर्गवास हुआ । विकरालकालकी कृपासे एक भाई बहिनने भी विदाई ली । अब रामचंद्र का चित्त और भी उदास हुआ । उसका बंधन छूट गया । अब संसारकी अस्थिरताका उन्होंने स्वानुभवसे पक्का निश्चय किया और उसका चित्त और भी धर्ममार्गपर स्थिर हुआ ।

इतनेमें भाग्योदयसे ऐनापुरमें प्रात:स्मरणीय पूज्यपाद आचार्य शांतिसागर महाराजका पदार्पण हुआ । वीतरागी तपोधन मुनिको देखकर रामचंद्रके चित्तमें संसारभोगसे विरक्ति उत्पन्न होगई । प्राप्त सत्समागमको खोना उचित नहीं समझकर उन्होंने श्री आचार्य चरणमें आजन्म ब्रह्मचर्यव्रतको ग्रहण किया ।

सन् १९२५ फरवरी महीनेकी बात है । श्रवणबेलगुल महाक्षेत्रमें श्री बाहुबलिस्वामीका महामस्तकाभिषेक था । इस महाभिषेकके समाचार पाकर ब्रह्मचारिजीने वहां जानेकी इच्छा की । श्रवणबेलगुल जानेके पहिले अपने पास जो कुछ भी संपत्ति थी उसे दानधर्म आदि कर उसका सदुपयोग किया । एवं श्रवणबेलगुलमें आचार्य शांतिसागर महाराजसे क्षुल्लकदीक्षा ली । उस समय आपका शुभनाम क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति रखा गया । ध्यान, अध्ययनादि कार्योंमें अपने चित्तको लगाते हुए अपने चारित्रमें आपने वृद्धि की व आचार्य चरणमें ही रहने लगे ।

आपके दीक्षित होनेके बाद आपकी धर्मपत्नीने अपने जीवन को गृहस्थाश्रममें ही धर्ममय व्यतीत किया ।

चार वर्षबाद आचार्यपादका चातुर्मास कुंभोज (बाहुबलि पहाड़) में हुआ । इस समय आचार्य महाराजने क्षुल्लकजीके चारित्रकी निर्मलता को देखकर उन्हें ऐल्लक जो कि श्रावकपदमें उत्तम स्थान है, उससे दीक्षित किया ।

बाहुबलि पहाड़पर एक खास बात यह हुई कि सं. शि. सेठ पूनमचंद घासीलालजी जोहोरी मुंबईवाले आचार्यवंदनाके लिये आये । और महाराजके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरणोंमें प्रार्थना की कि मैं सम्मेदशिखरजीके लिये संघ निकालना चाहता हूं। आप अपने संघसहित पधारकर हमें सेवा करनेका अवसर दें। आचार्य महाराजने संघभक्तशिरोमणिजीकी विनंतिको प्रसादपूर्ण दृष्टिसे सम्मति दी। शुभमुहूर्त में संघने तीर्थराजकी वंदनाके लिए प्रस्थान किया। ऐल्लक पार्श्वकीर्तिने भी संघके साथ श्री तीर्थराजकी वंदनाके लिये विहार किया। सम्मेदशिखरपर संघके पहुंचनेके बाद वहांपर विराट् उत्सव हुआ। महासभा व शास्त्री परिषदके अधिवेशन हुए। यह उत्सव अभूतपूर्व था। स्थावर तीर्थोंके साथ, जंगम तीर्थोंका वहांपर एकत्र संगम हुआ था।

संघने अनेक स्थानोंमें धर्मवर्षा करते हुए कटनीके चातुर्मास को व्यतीत किया। बादमें दूसरे वर्ष संघका पदार्पण चातुर्मासके लिए ललितपुरमें हुआ। यों तो आचार्य महाराजके संघमें सदा ध्यान अध्ययनके सिवाय साधुओंकी दूसरी कोई दिनचर्या ही नहीं है। परंतु ललितपुर चातुर्माससे नियमपूर्वक अध्ययन प्रारंभ हुआ। संघमें क्षुल्लक ज्ञानसागरजी जो बाद मुनिराज सुधर्मसागरजीके नामसे प्रसिद्ध हुए थे, विद्वान व आदर्श साधु थे। उनसे प्रत्येक साधु अध्ययन करते थे। इस परिचयके नायक श्री ऐल्लक पार्श्वकीर्तिने भी उनसे व्याकरण, सिद्धांत व न्यायको अध्ययन करनेके लिए प्रारंभ किया।

आपको तत्वपरिज्ञानमें पहिलेसे अभिरुचि, स्वाभाविक बुद्धि तेज, सतत अध्ययनमें लगन, उसमें भी ऐसे विद्वान् संयमी विद्यागुरुवोंका समागम, फिर कहना ही क्या ? आप बहुत जल्दी निष्णात विद्वान् हुए। इस बीचमें सोनागिर सिद्ध क्षेत्र में आपको श्री आचार्य महाराजने दिगम्बर दीक्षा दी उस समय आपको मुनि कुंथुसागरके नामसे अलंकृत किया। आपको चारित्रमें वृद्धि होनेके बाद ज्ञानमें भी नैर्मल्य बढ़ गया। ललितपुर चातुर्माससे लेकर ईडरके चातुर्मास पर्यंत आप बराबर अध्ययन करते रहे। आज आप कितने ऊंचे दर्जेके विद्वान् बन गये हैं यह लिखना हास्यास्पद होगा। आपकी विद्वत्ता इसीसे स्पष्ट है कि अब आप संस्कृतमें ग्रंथका भी निर्माण करने लग गये हैं। कितने ही वर्ष अध्ययन कर बढ़ी २ उपाधियोंसे विभूषित विद्वानको हम आपसे तुलना नहीं कर सकते। क्योंकि आपमें केवल ज्ञान ही नहीं है अपितु चरित्र जो कि ज्ञान का फल है वह पूर्ण अधिकृत होकर आपमें विद्यमान है इसलिए आपमें स्वपरकल्याणकारी निर्मल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान होनेके कारण आप सर्वजनपूज्य हुए हैं। आपकी जिसप्रकार रचनाकलामें विशेष गति है, उसी प्रकार वक्तृत्वकलामें भी आपको पूर्ण अधिकार है। श्रोतावोंके हृदयको आकर्षण करनेका प्रकार, वस्तुस्थितिको निरूपण कर भव्योंको संसारसे तिरस्कार विचार उत्पन्न करनेका प्रकार आपको अच्छी तरह अवगत है। आपके गुण, संयम आदियोंको देखनेपर यह कहे हुए बिना नहीं रहसकते कि आचार्य शांतिसागर महाराजने आपका नाम कुंथुसागर बहुत सोच समझकर रखा है।

आपने अपनी क्षुल्लक व ऐल्लक अवस्थामें अपनी प्रतिभासे बहुत ही अधिक धर्म प्रभावनाके कार्य किये हैं। संस्कारोंके प्रचारके लिये सतत उद्योग किया है। करीब २ तीन लाख व्यक्तियोंको आपने यज्ञोपवीत (अष्ट मूलगुण को धारण कराकर और सप्तव्यसन त्याग करने को यज्ञोपवीत कहते हैं।) संस्कारसे संस्कृत किया है एवं लाखों लोगोंके हृदयमें मद्य मांस मधुकी हेयताको जंचाकर त्याग कराया है। हजारोंको मिथ्यात्वसे हटाकर सम्यग्मार्गमें प्रवृत्ति कराया है। मुनि अवस्थामें उत्तर प्रांतके अनेक स्थानोंमें विहार कर धर्मकी जागृति की है। गुजरात प्रांत जो कि चारित्र व संयमकी दृष्टिसे बहुत ही पीछे पड़ा था उस प्रांतमें छोटेसे छोटे गांवमें विहार कर लोगोंका धर्ममें स्थिर किया है। गुजरातके जैन व जैनेतरोंके मुखसे आपके लिए आज यह उद्गार निकलता है कि ``साधु हो तो ऐसे ही हों'' । बड़े २ राजा महाराजावोंपर भी आपके उपदेश का गहरा प्रभाव पडता है। यह आपका संक्षिप्त परिचय है। पूर्णत: लिखनेपर स्वतंत्र पुस्तक ही बन सकती है।

वर्णन शैली

महर्षिने इस ग्रन्थके निर्माण करनेमें इतने सरल शब्दोंकी योजना की है कि प्रवेशिकामें पढ़नेवाले छात्र भी उसे अच्छीतरह समझसकेंगे। ग्रंथके सरल होनेमें उसका उपयोग व प्रचार भी अधिक रूपसे होता है। इससें कोई संदेह नहीं कि समाजके सर्व श्रेणीके सज्जन जिनके हृदयमें गुरुवोंके प्रति आस्था है इसका स्वाध्याय कर पुण्य संचय करेंगे। हमारे ख्यालसे सरल रचनामें ग्रन्थकर्ताने यही उद्देश्य रखा होगा। इतनी मृदुरचना होनेपर भी हिंदी अनुवाद दिया गया है यह सोनेमें सुगंध होगया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रंथ विषय

ग्रंथका विषय ग्रंथके नामोंसे ही स्पष्ट है । इन ग्रंथोंका नाम भावत्रयफलप्रदर्शी तथा बोधामृतसार महर्षिने बहुत ही विचार पूर्वक रक्खा है । इनके अंदर वर्णित विषय कितने सरल, आवश्यक, उपयुक्त व बोधप्रद हैं इसे अलग वर्णन करनेकी जरूरत नहीं । यह तो पाठक इसके पठन करते समय स्वयं ही अनुभव करेंगे । परंतु इस इस संबंधमें महाषिकि ही वाक्यमें इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि -

ग्रंथं ह्यमुं वांछितदं सदैव, स्मरंति गायंति पठंति भक्त्या ।
श्रृण्वंति वांच्छंति नमंति यांति, त एव भव्या भुविसारसौख्ये ।।

लभंते, अर्थात् जो भव्य कामितफल देनेवाले इस ग्रंथको सदा स्मरण करते हैं गाते हैं पढ़ते हैं, भक्तिसे सुनते हैं सुनने की इच्छा करते हैं, नमस्कार करते हैं वे लोक में उत्तम सुख को प्राप्त करते हैं । हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि जो इन ग्रन्थोंका भक्ति से अध्ययन करेंगे वे जैन सिद्धांतके मर्मज्ञ अनेक विषयोंके ज्ञाता विद्वान बन सकते हैं ।

अनुवादक

इन ग्रन्थोंका अनुवाद धर्मरत्न पं. लालारामजी शास्त्रीने किया है : साहित्य संसार में आपका परिचय देने की आवश्यकता नहीं है । आपने अनेक ग्रन्थोंका अनुवाद व निर्माण किया है । साहित्यक्षेत्रमें आपके द्वारा जो उपकार हुआ है उस के लिये जैन समाज आपका चिरकृतज्ञ रहेगा ।

उपसंहार

सचमुचमें पूज्यपाद महर्षि कुंथुसागर महाराजके इस पावन उपकार के लिये पाठकोंकी ओरसे उनके चरणोंमें हम श्रद्धांजलिके सिवाय और क्या अर्पण कर सकते हैं ? इन ग्रन्थोंके प्रकाशन कार्यमें श्री धर्मवीर, गुरुभक्त सेट रावजी सखाराम दोशीने अनेक प्रकारसे सहयोग व प्रूफ संशोधन के कार्यमें हमारे मित्र पं. जिनदासजी शास्त्रीने भी सहायता दी हैं, इसके लिये उन दोनोंका हम कृतज्ञ हैं । भावत्रयफलप्रदर्शी एवं बोधामृतसार आचंद्रार्कस्थायी रहे, यह श्रीपरम पावन देवाधिदेव के चरणमें विनम्र विनंती है ।

सोलापूर   गुरुचरणसरोजचंचरीक,
आश्विन शुद्ध ५   **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री**
सन १९३७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावत्रयफलप्रदर्शी ग्रन्थकी विषयानुक्रमणिका

विषय **श्लोक संख्या**

प्रथम अध्याय

मंगलाचरण १
शोकका कारण ३
निर्धनताका कारण ४
अनादरका कारण ५
दुष्टस्त्री प्राप्त होनेका कारण ६
दुष्टपति प्राप्त होनेका कारण ७
मलमूत्रादिकमें जन्म लेनेका कारण ८
धन कुटुंबके त्याग न करनेका कारण ९
अंधे होनेका कारण १०
लुले लंगड़े अपांग होनेका कारण ११
व्याध योनिमें जन्म लेनेका कारण १२
कुपुत्री प्राप्त होनेका कारण १३
ठग उत्पन्न होनेका कारण १४
बहरा उत्पन्न होनेका कारण १५
गूंगा होनेका कारण १६
धूर्त होनेका कारण १७
रोगी होनेका कारण १८
दु:खदायी कुटुंबकी प्राप्तिका कारण १९
दुष्टस्वभाव होनेका कारण २०
भयभीत होनेका कारण २१
अशक्त होनेका कारण २२
कृपण होनेका कारण २३
मूर्ख होनेका कारण २४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	श्लोक संख्या
पराधीन होनेका कारण	२५
भोगोपभोग सामग्रीके रहते भी उपभोग न करनेका कारण	२६
कुरूप होनेका कारण	२७
सुंदर पदार्थोंके रहते भी उपयोग योग्य न होनेका कारण	२८
क्रोधी होनेका कारण	२९
निंदनीय होनेका कारण	३०
आदर सत्कार प्राप्त न होनेका कारण	३१
शस्त्रादिकसे मरनेका कारण	३२
चोर होनेका कारण	३३
क्रियाहीन होनेका कारण	३४
पुत्रवियोगका कारण	३५
भाइयोंके विरोधका कारण	३६
माता और पुत्रके विरोधका कारण	३७
गर्भमें आये हुए भाग्यहीन पुत्रकी पहिचान	३८
पिता पुत्रके विरोधका कारण	३९
लंगड़ा होनेका कारण	४०
नरक जानेका कारण	४१
छोटा वामनशरीर धारण करनेका कारण	४२
पशुयोनि प्राप्त होनेका कारण	४३
कुभोगभूमिमें उत्पन्न होनेका कारण	४४
कुग्रामवासी होनेका कारण	४५
व्यवहारशून्य होनेका कारण	४६
अधिकान्नभोजी होनेका कारण	४७
निर्धनताका अन्य कारण	४८
कुत्सितकाव्यमें चतुरताका कारण	४९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	श्लोक संख्या
अधिक भारवाही होनेका कारण	५०
दीर्घायु पाकर भी महादु:खी होनेका कारण	५१
नपुंसक होनेका कारण	५२
विकलत्रय होनेका कारण	५३
दास होनेका कारण	५४
स्त्रीपर्याय प्राप्त होनेका कारण	५५
स्थावरशरीर धारण करनेका कारण	५६
अंगहीन होनेका कारण	५७
नीच कुलमें उत्पन्न होनेका कारण	५८
उच्च कुलमें उत्पन्न होकर भी धनहीन होनेका कारण	५९
जीविकाके लिए भ्रमण करनेका कारण	६०
छलपूर्वक जीविका प्राप्त होनेका कारण	६१
घर घर बिकनेवाला पशु होनेका कारण	६२
एक साथ अनेक जीवोंकी मृत्युका कारण	६३
स्त्री वा पुरुषको देखकर कामोत्पत्तिका कारण	६४
क्रोध उत्पन्न होनेका कारण	६५
एक साथ अनेक जीवोंके रोगी होनेका कारण	६६
रोग शांत न होनेका कारण	६७
गर्भपात होनेका कारण	६८
कुव्यसनोंमें धन खर्च होनेका कारण	६९
सम्यग्ज्ञानमें रुचि न होनेका कारण	७०
चाण्डालके हाथसे मृत्यु होनेका कारण	७१
मरकर कुत्ता होनेका कारण	७२
मरकर बिल्ली होनेका कारण	७३
सिंह पर्याय प्राप्त होनेका कारण	७४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	श्लोक संख्या
श्रृगालपर्याय प्राप्त होनेका कारण	७५
शीलव्रतोंको भंग करनेका कारण	७६
गायकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	७७
भैंसकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	७८
बकरा होनेका कारण	७९
कौवा होनेका कारण	८०
दुष्ट होनेका कारण	८१
व्यभिचारी होनेका कारण	८२
पागल होनेका कारण	८३
बंदीगृहमें पड़नेका कारण	८४
उत्पन्न होते ही मरजानेका कारण	८५
निंदनीय होनेका कारण	८६
अपमृत्यु होनेका कारण	८७
धन घर आदिके ज़ल जानेका कारण	८८
स्त्री पुत्रादिकके वियोगका कारण	८९
धननाश होनेका कारण	९०
कंठमाला होनेका कारण	९१
ऊंटकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	९२
हाथीकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	९३
जोंककी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	९४
उल्लू पक्षीकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	९५
डांस मच्छरकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	९६
सर्पकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	९७
बिच्छूकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	९८
चिड़ियाकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	९९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	श्लोक संख्या
तोतेकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	१००
वृक्षकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	१०१
मयूरकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	१०२
गीधकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	१०३
बंदरकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	१०४
साधर्मियोंके साथ विवाद करनेका कारण	१०५
राजाको रंक होनेका कारण	१०६
कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रकी प्रशंसा करनेका कारण	१०७
घर गृहस्थीसे रहित होनेका कारण	१०८
कीड़े मकोड़ेकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	१०९
शक्तिहीन होनेका कारण	११०
श्रेष्ठकार्य करनेपर भी निंदा होनेका कारण	१११
सत्कार्य करनेपर भी धनादिककी हानि होनेका कारण	११२
वर्षा न होनेका कारण	११३
पुण्यकार्य करनेवालोंके विरोध करनेका कारण	११४
विपरीतबुद्धि होनेका कारण	११५
इस अध्यायके पठनपाठनका अभिप्राय	११६
इस अध्यायका सारांश	११७
भावोंकी दुष्टता और चित्तके विकारोंका कारण	११८
इस अध्यायका उपसंहार	११९-१२०
दूसरा अध्याय	
शुभोपयोगका फल	१२१
सुपुत्रोंकी प्राप्तिका कारण	१२२
सुयोग्य धार्मिक पति प्राप्त होनेका कारण	१२३
सुपुत्री प्राप्त होनेका कारण	१२४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	श्लोक संख्या
श्रेष्ठ पत्नी प्राप्त होनेका कारण	१२५
यशस्वी होनेका कारण	१२६
सुख देनेवाले कुटुंबकी प्राप्तिका कारण	१२७
संयमी होनेका कारण	१२८
शोकरहित सुखी रहनेका कारण	१२९
अनेक जीवोंके स्वामी होनेका कारण	१३०
नीरोग शरीर प्राप्त होनेका कारण	१३१
नीतिमान् बलवान् होनेका कारण	१३२
समताभाव प्राप्त होनेका कारण	१३३
धर्मात्मा होनेका कारण	१३४
निर्मम होनेका कारण	१३५
उदार होनेका कारण	१३६
वक्ता होनेका कारण	१३७
स्वतंत्र होनेका कारण	१३८
सुंदरशरीरकी प्राप्तिका कारण	१३९
संसारमें मान्य होनेका कारण	१४०
ज्ञानी व्रती होनेका कारण	१४१
भाई बंधुओंमें प्रेम होनेका कारण	१४२
बिछुड़े हुए पुत्रकी प्राप्तिका कारण	१४३
पिता पुत्रके स्नेहका कारण	१४४
गर्भमें सुपुत्र होनेके चिह्न	१४५
इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्तिका कारण	१४६
देवपर्याय प्राप्त होनेका कारण	१४७
मनुष्यपर्याय प्राप्त होनेका कारण	१४८
भोगभूमिमें मनुष्य होनेका कारण	१४९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	श्लोक संख्या
आर्यखंडमें उत्पन्न होनेका कारण	१५०
अल्पभोजी होनेका कारण	१५१
व्यवहारचतुर होनेका कारण	१५२
कवि होनेका कारण	१५३
दीर्घायु पाकर भी सुखी होनेका कारण	१५४
पूर्ण अंग उपांग प्राप्त होनेका कारण	१५५
श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न होनेका कारण	१५६
स्थिरजीविका प्राप्त होनेका कारण	१५७
नीच कुलमें उत्पन्न होने पर भी धन राज्य आदिके प्राप्तिका कारण	१५८
सत्यताके साथ आजीविका चलनेका कारण	१५९
अनेक जीवोंका एक साथ सुखी होनेका कारण	१६०
अनेक जीवोंके एक साथ मोक्ष जानेका कारण	१६१
पशुपक्षी मनुष्यमें परस्पर प्रेमका कारण	१६२
दु:खमें सहायक होनेका कारण	१६३
धर्ममें धन खर्च करनेका कारण	१६४
श्रुतज्ञानी होनेका कारण	१६५
शीलवान् होनेका कारण	१६६
सर्वप्रिय होनेका कारण	१६७
घर घर मंगल गान होनेका कारण	१६८
मिष्टवाणी प्राप्त होनेका कारण	१६९
संतोष और शांतिके लाभका कारण	१७०
पापकार्योंसे होनेवाली धनवृद्धिका कारण	१७१-१७२
देवोंके दास होनेका कारण	१७३
खर्च करनेपर भी धनकी वृद्धिका कारण	१७४
सर्वत्र कीर्ति फैलनेका कारण	१७५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	श्लोक संख्या
मनोज्ञ शरीर प्राप्त होनेका कारण	१७६
श्रेष्ठ मनुष्योंमें भी माननीय होनेका कारण	१७७
पापानुबंधी पुण्यका कारण	१७८
पुण्यानुबंधी पुण्यका कारण	१७९
परस्पर शांतिका कारण	१८०
सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होनेका कारण	१८१
तीर्थंकर होनेका कारण	१८२
अध्यायका उपसंहार	१८३
तीसरा अध्याय	
आत्माके शुद्ध स्वरूपका निरूपण	१८४-१८५
अनुभूतिके स्वामी होनेका कारण	१८६
मनवचन कायकी सरलताका कारण	१८७
मन:पर्यय ज्ञानका कारण	१८८
केवलज्ञान होनेका कारण	१८९
आत्माके शुद्ध स्वरूपमें अनुरागका कारण	१९०
स्वभावसे ही शुद्ध आत्मामें लीन होनेका कारण	१९१
शुद्धाशुद्ध निश्चयनयसे सप्त तत्त्वोंका निरूपण और सबसे शुद्ध आत्माकी भिन्नता तथा जीव तत्त्वका निरूपण	१९२
अजीवतत्त्व और आत्माकी भिन्नता	१९३
आस्त्रव तत्त्व और उससे आत्माकी भिन्नता	१९४
बंध तत्त्व और उससे आत्माकी भिन्नता	१९५
संवरतत्त्व और उससे आत्माकी भिन्नता	१९६
निर्जरातत्त्व और उससे आत्माकी भिन्नता	१९७
मोक्षतत्त्व और शुद्ध आत्माकी भिन्नता	१९८
सप्ततत्त्वोंके कथनका उपसंहार	१९९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	श्लोक संख्या
याचना करनेपर भी स्वधनकी प्राप्ति न होनेका कारण	२००-२०१
शुद्ध चैतन्यस्वरूप सुखके बिना समस्त क्रियाओंका निरर्थकपना	२९२ से २१४
शुद्धोपयोगका विशेष वर्णन	२१५-२१६
शुद्धोपयोगकी सिद्धिके लिए छहों द्रव्योंका निरूपण	२१७ से २२०
जीवोंकी अवगाहना	२२१ से २२४
शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके लिए स्वीकार करने योग्य धर्म	२२५ से २२७
शुद्धोपयोगके लिए विचार	२२८-२२९
बाह्यपदार्थोंके त्यागसे लाभका अभाव	२३०-२३१
ध्याता ध्यान ध्येय का स्वरूप	२३३-२३४
शुद्धोपयोगकी भावना	२३५
शुद्धोपयोग धारण करनेवाला कुछ बोलता हैं वा नहीं	२३६-२३७
यथार्थ विजयीका स्वरूप	२३८-२३९
आत्माका आधाराधेय	२४०-२४१
विश्वधर्मका निरूपण	२४२-२४३
ध्यनका फल	२४४-२४५
संक्षेपसे अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का फल	२४६ से २४९
ग्रंथका सारांश	२५०-२५१
ग्रंथका उपसंहार	२५२
प्रशस्ति	२५३ से २६०
अन्तिम मंगल	२६१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बोधामृतसारकी विषय सूची

(पृष्ठ २४९ से प्रारंभ)

विषय **श्लोक संख्या**

प्रथमाधिकार

मंगलाचरण १

प्रतिज्ञा २

त्याग करने योग्य देव, धर्म, गुरु, शास्त्र आदि ३

ग्रहण करने योग्य देव, शास्त्र, गुरु ५

निपुण कौन है ? ७

धर्महीन मनुष्य कैसा होता है ? ८

धर्मके चिन्ह कौन कौन है ? २१

धर्मका फल क्या है ? २३

दु:ख दूर करनेवाला कौन है कौन नहीं ? २५

सब तरहसे शोभायमान कौन है ? २७

अज्ञानी मनुष्य की शोभा २८

सम्यग्दर्शन की महिमा २९

सम्यग्दर्शन के चिन्ह ३५

मिथ्यादृष्टी और सम्यग्दृष्टी किस प्रकार काल व्यतीत करते हैं ? ३८

हिंसक के पाप ३९

अहिंसा और उसका फल ४२

पिता पुत्रादिक अपने हैं वा नहीं ? ४६

परलोक में साथ चलनेवाले बंधु ४८

ध्यान अध्ययन कौन करते हैं ? ५१

संसार में कौन जीता है और कौन मृतक है ? ५४

मोह दुष्ट पिशाच किसको दु:ख नहीं देते ? ५६

मोह, क्रोध कैसे हैं ? ५८

स्वर्ग, मोक्ष का मूल्य क्या है ? ६०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	श्लोक संख्या
आत्मज्ञानरहित जीव क्या अनर्थ करते हैं ?	६१
दान, भोग में न आनेवाला धन कहां जाता है ?	६४
क्या आत्मनिष्ठ जीव का परिश्रम सार्थक है ?	६६
भेष, विद्वान्, व्रत कैसे शोभित नहीं होते ?	६७
विरक्त पुरुष की संपत्तियां	६८
परलोकमें कौन साथ जाता है कौन नहीं ?	७०
दोषी, गुणी क्या ग्रहण करते हैं ?	७२
हिंसा अहिंसाका स्वरूप	७४
उत्तम, मध्यम, जघन्य राजा कौन है ?	७५
पुरुषार्थोंका क्रम क्या है ?	७८
पापी, कृपण, मूर्ख कौन है ?	८०
निर्लोभी धनको कैसा मानता है ?	८२
जिनधर्मरहित मनुष्यकी क्रियाएं विफल हैं	८४
तपस्वी मौन क्यों रहते है और क्यों बोलते हैं ?	८५
स्वपर घातक कौन है ?	८७
श्रीमान् और दरिद्री कौन है ?	८९
किन मनुष्योंका जन्म सफल है ?	९१
शूरवीर कौन है ?	९३
स्वानुभूतिका स्वामी कौन है ?	९५
शरीर किसलिये प्राप्त हुआ है ?	९७
जन्म परिग्रह सुख कैसे हैं ?	९९
कैसे योगीका ध्यान करना चाहिये ?	१०१
सम्यग्दृष्टी कौन है ?	१०२
अल्पायुवाला भी वृद्ध कौन है ?	१०४
मनुष्यका मित्र कौन है ?	१०५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	श्लोक संख्या
आशा, चिंता, दुराचारसे कौन गुण नष्ट होते हैं ?	१०६
यह जीव किस कारणसे बंधा है वा मुक्त है ?	१०८
किसकी कीर्तिका वर्णन करना चाहिये ?	११०
संसारी जीवोंका विश्रांतिके कारण	११२
निपुण कौन है ?	११४
क्रोधी जीव किसको मारते हैं ?	११६
तत्त्वज्ञानसे रहित क्या चिन्तन करते हैं ?	११८
गृहस्थ सुख शांति प्राप्त करते हैं वा नहीं ?	१२१
चांडालके समान कौन हैं ?	१२४
शरीरकी शोभा किसमें है ?	१२६
सद्गुरु कौन हैं ?	१२९
हिंसादिक के कारण	१३१
सज्जनों का स्वभाव	१३३
कर्मबंधके कारण	१३५
ब्रह्मा, विष्णु, महादेव कौन हैं ?	१३७
दीन कौन है ?	१३९
आत्माका निवास कहां है ?	१४०
दैवकी मुख्यता कहां है ? पुण्याका फल	१४२
रत्नत्रय रहितकी शोभा नहीं है	१४४
धर्मानुराग का फल	१४५
आर्य पुरुषोंके कारण	१४७
कैसा जीव नरक जाता है ?	१४९
कैसा जीव तिर्यंच गति में जाता है ?	१५१
कैसा जीव मनुष्य होता है ?	१५३
स्वर्ग में कौन जाता है ?	१५५
मोक्ष में कौन जाता है ?	१५७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय **श्लोक संख्या**

सुपात्रदान का फल १५९
सम्यग्दृष्टी धर्मका त्याग करता है वा नहीं ? १६२
आत्मज्ञानरहित कौन से अकार्य करते हैं ? १६६
सम्यक्त्व और मिथ्यात्व कैसे हैं ? १६९
सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी की प्रवृत्ति १७१
सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका लक्षण १७२
कौन किसका हित अहित नहीं जानते ? १७५
देव, धर्म, गुरुकी निंदा का फल १७९
मनुष्य जन्म पाकर क्या करना चाहिये ? १८१
आत्मज्ञानरहित कहां भ्रमण करता है ? १८३
नरकादिक की आयु के कारण १८५
सम्यग्दृष्टी सम्यग्दर्शन को जानते हैं वा नहीं ? १८७
सुपुत्र, कुपुत्र कौन है ? १८८
चारों गतियोंको किससे भय लगता है ? १९०
धनादिक में सार क्या है ? १९२
मूर्ख, असाधु, दरिद्री कौन है ? १९४
शक्त और अशक्त कौन है ? १९६
किसने परपदार्थ का त्याग किया है ? १९८
परिग्रह सहित और रहित कौन है ? १९९
ध्यान स्वाध्यायादिकका फल क्या है ? २०१
दुष्टोंके द्वारा दुखी होनेपर और सज्जनोंके द्वारा सुखी होनेपर
साधु क्या करते हैं ? २०४
शीलवती स्त्रियोंका व सज्जनोंका स्वभाव कैसा है ? २०७
आत्मा इन्द्रियोंसे मनसे वा आत्मासे किसीसे देखा जाता है ? २११
ज्ञान कैसा प्रशंसनीय है ? २१७
जो दान नहीं देता उसके धन की क्या गति होती है ? ३३२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	श्लोक संख्या
जो रत्नत्रय को पाकर कर्म नष्ट नहीं करते वे कैसे हैं ?	२२४
जो सब शास्त्रोंको पढ़कर भी धर्म की श्रद्धा नहीं करते वे कैसे हैं ?	२२८
जो सज्जाति सुधर्म की छोड़कर स्वतंत्र प्रवृत्ति करते हैं वे कैसे हैं ?	२३४
क्या मनुष्यवृद्धि हेय हैं ?	२३८
जो मनुष्य पुरुषार्थोंको बिना क्रमके सेवन करते हैं वे कैसे हैं ?	२४०
जो अपने पदके योग्य कार्य नहीं करते वे कैसे हैं ?	२४९
दूसरा अधिकार	
उपवास के दिन कौनसी भावनाओं का चिंतन करना चाहिये व सोलहकारण भावनाओं का स्वरूप	२२६
दशधर्मोंका स्वरूप	३०२
नि:शंकितादिक अंगोंका स्वरूप	३२२
मूढ़ताओंका लक्षण	३४४
छहों अनायतानोंका लक्षण	३५०
मदोंका लक्षण	३५६
तीसरा अधिकार	
बारह अनुप्रेक्षाओंका स्वरूप	३७३
सात तत्त्वोंका स्वरूप	३९९
सात व्यसनोंका स्वरूप	४१३
पांच पाप	४२७
पाप और व्यसनोंमें भेद	४३७
चौथा अधिकार	
पाक्षिक श्रावकका लक्षण	४३९
नैष्टिक श्रावक व ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप	४५१
बारह व्रतोंका स्वरूप और अतिचार	४५९
तीसरीसे ग्यारहवी प्रतिमाओंके लक्षण	५१०
प्रशस्ति	५३३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मांगलिक

णमो अरिहंताणं,
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं ॥ १ ॥

एसो पंच णमोक्कारो सव्व पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवई मंगलं ॥ २ ॥

चत्तारि मंगलं - अरिहंता मंगलं - सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं ! केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं ॥ ३ ॥

चत्तारि-लोगुत्तमा-अरिहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा ।
साहू लोगुत्तमा । केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा ॥ ४ ॥

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि - अरिहंते सरणं पव्वज्जामि ।
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि - साहू सरणं पव्वज्जामि ।
केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ॥ ५ ॥

मंत्रं संसारसारं, त्रिजगदनुपमं सर्वपापारि मन्त्रं ।
संसारोच्छेदमन्त्रं विषम विषहरं कर्मनिर्मूलमन्त्रं ।
मन्त्रं सिद्धिप्रदानं शिवसुखजननं केवलज्ञान मन्त्रं ।
मन्त्रं श्री जैन मन्त्रं जप जप जपितं जन्मनिर्वाण मन्त्रं ॥ ६ ॥

मंगलम् भगवान् वीरो, मंगलम् गौतमोगणी ।
मंगलम् कुंदकुंदाद्यो, जैनं धर्मोस्तु मंगलम् ॥
सर्व मंगल मांगल्यं, सर्व कल्याण कारकम् ।
प्रधानम् सर्व धर्मानां, जैनं जयतु शासनम् ॥ ७ ॥

हे भव्य प्राणियों, आपका जीवन मंगलमय हो, सर्व पाप का विध्वंस हो, दुःखों का क्षय हो कर्मों का क्षय हो ।

बोधिलाभ अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त हो । संसार में सार वस्तु की प्राप्ति हो, और आदि-व्याधि बाधा से रहित होकर चार गति के दुःख दूर हो जायें यही मेरा भव्य जीवों को आशिर्वाद है ।

मुनि श्री १०८ भूतबलीसागरजी महाराज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुनि श्री १०८ कुंथुसागरविरचित

भावत्रयफलप्रदर्शी

'धर्मरत्न' पं.लालाराम शास्त्री रचित

हिंदी टीकासहित

... ४६४५ ... २७-११-२००... (का. हि. वि. वि.) वाराणसी

मंगलाचरण

ज्ञानादित्यं जिनं नत्वा श्रीदं सर्वप्रकाशकम् ।
भक्त्या शान्तिसुधर्मौ च ज्ञानवैराग्यवर्द्धकौ ।। १ ।।
भावत्रयाणां हि फलप्रदर्शी, ग्रंथो मयायं सकलात्मशुध्यै ।
विरच्यते स्वात्मरतेन शुध्या, श्रीकुंथुनाम्ना वरसूरिणेति ।। २ ।।

महावीर जिनराजके चरण नमूं चित लाय ।
भावत्रयफलदर्शकी टीका लिखूं बनाय ।।

अर्थ - जो जिनेन्द्रदेव आत्मज्ञानको प्रकाशित करनेके लिये सूर्यके समान है, अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीको देनेवाले हैं और जो समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाले हैं ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेवको मैं सबसे पहले नमस्कार करता हूं । तदनंतर मैं वैराग्यको बढ़ानेवाले या जैनेश्वरी दीक्षा देनेवाले आचार्यवर्य दीक्षागुरू श्री शांतिसागर आचार्यको नमस्कार करता हूं और अंतमें ज्ञानकी वृद्धि करनेवाले विद्यागुरू आचार्य सुधर्मसागरको नमस्कार करता हूं । इन सबको भक्तिपूर्वक नमस्कार करनेके अनंतर अपने आत्मामें लीन रहनेवाला और श्रेष्ठ आचार्य ऐसा मैं श्रीकुंथुसागर स्वामी अपने मन, वचन, कायकी शुद्धतापूर्वक समस्त भव्यजीवोंकी आत्माओंको शुद्ध करनेके लिए तीनों भावोंके फलको दिखलानेवाले इस ग्रंथका निरूपण करता हूं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ - जिस प्रकार इस संसारमें समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला सूर्य है उसी प्रकार शुद्ध आत्माके स्वरूपको वा शुद्ध आत्माके शुद्ध बोधको प्रकाशित करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेव ही हैं । इसका भी कारण यह है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव अपने अगाध तपश्चरणके द्वारा उसी आत्मज्ञानको प्राप्त होकर सर्वदर्शी सर्वज्ञ बन गये है साथ ही साथ वे निरूपम परमवीतराग भी हैं । यही कारण है कि वे भगवान् जिनेन्द्रदेव आत्मज्ञानके स्वरूपका पूर्ण उपदेश देते हैं तथा वीतराग होनेके कारण स्वरूपका उपदेश देते हैं । इसीलिए वे भगवान् ज्ञानभानु कहलाते हैं । इसके सिवाय वे भगवान् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्यरूप अनंतचतुष्टायरूप अंतरंग लक्ष्मीको स्वयं धारण करते हैं और उनकी सेवा करनेवाले भव्यजीवोंको प्रदान करते हैं । यहांपर प्रदान करनेका अर्थ देना नहीं है किंतु जो भव्य जीव भगवान् जिनेन्द्रदेवकी सेवा भक्ति करते हैं, उनके गुणोंको स्मरण कर उनका ध्यान करते हैं वे भव्यजीव अपने कर्मोंको नष्ट कर स्वयं जिनेन्द्र बन जाते हैं । यदि वे भव्यजीव भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंका ध्यान नहीं करते तो उनके कर्मोंका नाश कभी नहीं होता । तथा विना कर्मोंको नाश किये वे कभी जिनेन्द्रपदको प्राप्त नहीं हो सकते । इस प्रकार वे भव्य जीव जो जिनेन्द्रपदको प्राप्त हुए हैं उसमें भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंका ध्यान करना ही कारण पड़ता है, और इसीलिए उस अनंतचतुष्टयरूप लक्ष्मीको वा जिनेन्द्रपदको देनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेव हैं ऐसा कहा जाता है । भगवान् जिनेन्द्रदेवके जिस प्रकार अंतरंग लक्ष्मीको देनेवाले हैं उसी प्रकार समवसरण आदि बाह्य लक्ष्मीको देनेवाले हैं । तथा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होनेके कारण जीव, अजीव, रूपी, अरूपी आदि समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाले हैं । ऐसे भगवान् जिनेन्द्रको मैं नमस्कार करता हूं । तदनंतर मैं दीक्षागुरू और विद्यागुरू दोनों आचार्योंको नमस्कार करता हूं । इस प्रकार विघ्नशांतिके लिए देव और गुरूको नमस्कार कर मैं इस ग्रंथका निर्माण करता हूं ।

इस संसारमें जितने संसारी जीव है उन सबके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं । कितने ही जीवोंके परिणाम **अशुभ** होते हैं, कितने ही जीवोंके परिणाम **शुभ** होते हैं और कितने ही योगी वा महायोगियोंके परिणाम **शुद्ध** होते हैं । मुक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवोंके परिणाम सदा शुद्ध होते हैं । इस ग्रंथमें तीनों प्रकारके परिणामोंका फल दिखलाया है । और इसीलिए इस ग्रंथका नाम **'भावत्रयफलदर्शी'** रक्खा है । इन तीनों प्रकारके परिणामोंके फलको जानकर भव्यजीव अशुभ परिणामोंका त्याग कर दें, शुभ परिणामोंको धारण करें और फिर शुद्ध परिणामोंका अभ्यास करते हुए शुभपरिणामोंका भी त्याग कर शुद्धपरिणामोंको धारण करें यही इस ग्रंथकी रचनाका प्रयोजन है । यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि अशुभपरिणामोंसे पापकर्मोंका आस्त्रव होता है शुभपरिणामोंसे पुण्यकर्मोंका आस्त्रव होता है । पापकर्मोंसे नरकादिककी प्राप्ति होती है और पुण्यकर्मसे स्वर्गादिककी प्राप्ति होती है । परंतु स्वर्ग वा नरक दोनोंमें परिभ्रमण करना संसार है, इस संसारका त्याग शुद्ध परिणामोंसे होता है । इसीलिए शुभपरिणामोंका भी त्याग कर शुद्धपरिणाम धारण करनेका उपदेश दिया जाता है । मोक्षकी प्राप्ति शुद्ध परिणामोंसे ही होती है । इसलिए शुद्ध परिणाम ही आत्माका वास्तविक हित करनेवाले परिणाम हैं । उन शुद्ध परिणामोंको धारण कर भव्यजीव अपने आत्माका कल्याण करें वा अपने आत्माको शुद्ध करें यही इस ग्रंथके पठन पाठन करनेका फल है ।

*आगे - इस **पहले अध्यायमें** अशुभोपयोगका फल दिखलाते हैं, और वह भी प्रश्नोत्तररूपसे दिखलाते हैं । सबसे पहले शोक का कारण बतलाते हैं ।*

प्रश्न १ - पापोदयान्मे वद देव कस्मात् ।
प्राप्नोति शोकं सततं व्यथादम् ।।

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि यह संसारी जीव किस पापकर्मके उदयसे सदाकाल दुःख देनेवाले शोकको प्राप्त होता रहता है ।

उत्तर - शोकेन दग्धान् मनुजान् विलोक्य ।
वा द्वेषबुध्धा परिपीडयित्वा ।
उत्पाद्य वैरं हृदि यश्च तुष्येत् ।
प्राप्नोति शोकं मनुजः स पश्चात् ।। ३ ।।

अर्थ - जो मनुष्य शोकसे दग्ध हुए मनुष्योंको देखकर संतुष्ट होता है, अथवा जो मनुष्य किसी द्वेषबुद्धिसे अन्य जीवोंको दुःख देता है, अथवा जो मनुष्य अपने हृदयमें किसीके साथ वैर विरोध कर संतुष्ट होता है वह मनुष्य इन कार्योंके करनेके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनंतर अथवा मरनेके अनंतर शोकको प्राप्त होता है ।

भावार्थ - मनुष्योंको जो शोक वा संताप होता है वह असाता वेदनीयकर्मके उदयसे होता है । तथा असाता वेदनीयकर्मका आस्त्रव स्वयं शोक संताप करनेसे होता है अथवा दूसरोंको शोक संताप उत्पन्न करनेसे होता है अथवा स्वयं शोक संताप करने और दूसरोंको भी शोक संताप उत्पन्न करनेसे होता है । जब यह जीव किसी जीवको शोकसे वा अन्य किसी प्राकरके दु:खसे अत्यंत दु:खी देखकर प्रसन्न होता है वा स्वयं किसीको दु:ख देकर वा मारकर अथवा अन्य जीवोंकी किसी भी प्रकारकी हानि करके प्रसन्न होता है अथवा किसीके साथ वैर-विरोध करके प्रसन्न होता है तब उस जीवके असाता वेदनीयकर्मका आस्त्रव होता है । उस आस्त्रवको अनंतर समयमें उन आए हुए असाता वेदनीय कर्मोंका बंध हो जाता है और वह बंधको प्राप्त हुआ कर्म जब उदयमें आता है तब उस कर्मके उदयसे उस जीवको अत्यंत शोक और संताप उत्पन्न होता है । यही समझकर प्रत्येक जीवको कोई जीवको सताना नहीं चाहिये, किसी जीवको किसी प्रकारका दु:ख नहीं देना चाहिए और किसीके साथ किसी भी प्रकारका वैर-विरोध नहीं करना चाहिए । आत्माके सुखका यही सर्वोत्तम उपाय है ।

आगे - निर्धनताका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कर्मोदयाद्देव धनेन हीन: ।
कस्मात्प्रभोऽयं भवतीह जीव: ।।

अर्थ - हे देव ! हे प्रभो ! यह संसारी जीवन किस कर्मके उदयसे वा कैसे काम करनेसे धनहीन होता है ।

उत्तर - व्ययं सुपात्रे न धनस्य कृत्वा,
हठाद्धनं यश्च परस्य हृत्वा ।
तुष्येत्परं वा कृपणं च दृष्ट्वा,
हीनो धनैश्चान्यभवे भवेत्स: ।। ५ ।।

अर्थ - जो पुरुष सुपात्रोंके लिए अपना धन खर्च नहीं करते, अथवा जो पुरुष बलपूर्वक दूसरोंके धनको हरण कर लेते हैं, अथवा जो पुरुष अन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृपणोंको देखकर संतुष्ट होते हैं, ऐसे पुरुष दूसरे भवमें जाकर धनहीन होते हैं।

भावार्थ - धनकी प्राप्ति दानसे होती है। जो पुरुष पात्रदान किया करते हैं उनको भोगभूमिकी प्राप्ति होती है। भोगभूमिमें धनकी चिन्ता ही नहीं करनी पड़ती। वहांपर कल्पवृक्षोंसे इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्ति होती रहती है। अथवा पात्रदान देनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। स्वर्गमें भी धनकी चिंता नहीं करनी पड़ती, वहांपर भी कल्पवृक्ष हैं अनेक प्रकारकी विभूतियां हैं और मानसिक आहार हैं। देवोंको जब भूख लगती है तभी उनके कंठसे अमृत झर पड़ता है। इस प्रकार वे देव भी सर्वथा निश्चिंत रहते हैं। मनुष्योंमें जो धनी देखे जाते हैं उनको भी धनकी प्राप्ति पूर्वजन्ममें दिये हुए दानके फलसे ही होती है। अत एव यदि धनी पुरुषोंको आगेके जन्ममें भी धन प्राप्त करना हो तो उनको भी सदाकाल **पात्रदानमें** ही अपना धन खर्च करना चाहिये। दान देनेमें भी पात्र अपात्र वा कुपात्रका विचार अवश्य करना चाहिये। कुपात्र वा अपात्रोंको दिया हुआ धन श्रेष्ठ दान नहीं कहलाता, उस दानका फल दु:खरूप ही होता है। इसलिए पात्रोंको दिया हुआ दान ही श्रेष्ठ दान कहलाता है। जो पुरुष रत्नत्रयसे पवित्र हैं उनको पात्र कहते हैं। उनमें रत्नत्रयसे सुशोभित मुनि उत्तमपात्र कहलाते हैं, व्रती श्रावक मध्यमपात्र कहलाते हैं और सम्यगदृष्टि अव्रती श्रावक जघन्यपात्र कहलाते हैं। ये सब पात्र धर्मपात्र कहलाते हैं। इनको आवश्यकतानुसार दान देना चाहिये। मुनियोंको आहारदान, शास्त्रदान, पिंछी, कमंडलु, औषध आदि देना चाहिए। ऐलक, क्षुल्लक, अर्जिका, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी आदिको आवश्यकतानुसार आहारदिक वा वस्त्रादिक देना चाहिये। श्रावकोंको आहारदान आदि समानदान देना चाहिए अथवा उनकी आवश्यकताको समझकर देना चाहिए। किसी २ श्रावकको धर्म की दृढ़ताके लिए धन, वर्तन, वस्त्र आदि भी दिए जाते हैं। इस प्रकार धर्मपर श्रद्धा रखकर दान देनेसे धनकी प्राप्ति होती है। जो पुरुष धन पाकर भी पात्रदान नहीं करते उनका धन व्यर्थ ही समझना चाहिये। ऐसा धन जले हुए बीजके समान है। जैसे जले हुए बीजसे दूसरा अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार विना पात्रदान दिए दूसरे जन्ममें धनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तथा विना धनके वह फिर पात्रदान आदि पुण्यकार्य नहीं कर सकता। इस प्रकार वह पुरुष जन्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जन्मांतर तक निर्धन बना रहता है ।

इसी प्रकार जो पुरुष बलपूर्वक दूसरोंका धन छीन लेता है वह भी अगले जन्ममें निर्धन ही होता है । क्योंकि धन छीननेवाला तो पात्रदानादिक कर ही नहीं सकता तथा धन छीन लेनेके साथ साथ उस धनीके पात्रदान आदि पुण्यकार्योंको भी छीन लेता है । क्योंकि धन छिन जानेके कारण वह धनी भी पात्रदानादिक नहीं कर सकता । इस प्रकार धन छीननेंवाला पुरुष अपने पुण्यकर्मको भी रोकता है । और दूसरोंके पुण्यकर्मेंको भी रोकता है । फिर भला ऐसा पुरुष निर्धनी क्यों नहीं हो सकता ? अवश्य होता है । इसी प्रकार जो पुरुष कृपणको देखकर संतुष्ट होता है वह भी निर्धनी ही होता है क्योंकि दानधर्ममें खर्च न करनेवाला मनुष्यही कृपण कहलाता है । ऐसे कृपण मनुष्यको देखकर दानी पुरुष तो कभी प्रसन्न नहीं हो सकता उसको देखकर तो दान धर्ममें खर्च न करनेवाला कृपण मनुष्य परलोकमें अवश्य निर्धनी होता है ।

यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि **धनकी गति** ही तीन होती हैं । पहली गति दान, दूसरी गति भोग, और तीसरी गति नाश । इनमेंसे दान देना सर्वोत्तम गति है । धनको भोगोपभोगोंमें खर्च करना मध्यम गति है । तथा जो पुरुष न दान देते हैं और न भोगोपभोगोंमें खर्च करते हैं उनके धनकी तीसरी नाशरूप गति होती है, अर्थात् उनका धन अवश्य नष्ट होता है । अतएव धनको पाकर दान अवश्य देना चाहिये जिससे कि निर्धनताकी प्राप्ति कभी न हो ।

आगे - अनादरका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव कस्मा-
दनादरः कौ भवतीह जन्तोः ॥

अर्थ - हे देव ! अब यह बतलाइये कि पाप कर्मके उदयसे वा किस पापसे इस जीवका इस पृथ्वीपर अनादर होता है ।

उत्तर - पुरा भवे देव गुरुस्मृतीनां,
कृत्वाऽपमानं हृदियो ह्यतुष्यत् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्यापमानोऽपि पदे पदे स्या-
न्निंदा सदा चान्यभवेऽपकीर्तिः ॥ ५ ॥

अर्थ - जो पुरुष पहले भवमें देव गुरु और शास्त्रोंका अपमान कर अपने हृदयमें संतुष्ट होता है वह पुरुष स्थान स्थानपर अपमानित होता है, सदाकाल उसकी निंदा होती रहती है और अगले जन्ममें उसकी अपकीर्ति होती है।

भावार्थ - अनंतचतुष्टय और समवसरण आदि विभूतिके साथ विराजमान भगवान् तीर्थंकरपरमदेवको देव कहते हैं। आचार्य उपाध्याय और साधु गुरु कहलाते हैं तथा वीतराग सर्वज्ञ परम अरहंतदेवकी वाणीको तथा तदनुसार गुरुओंकी वाणीको शास्त्र कहते हैं। ये तीनों ही मोक्षके कारण हैं। इसीलिए इनकी निंदा करना मोक्षकी निंदा करना है। यही कारण है कि इनकी निंदा करनेसे स्थान स्थान पर इस जीवकी निंदा होती है तथा परलोकमें नरकादिककी दुर्गति प्राप्त होती है।

``भगवान् अरहंत देव समवसरणमें भी आहार लेते हैं वा मल, मूत्र करते हैं, उनके परीषह भी होती है'' आदि कहना अरहंतदेवकी निंदा करना है। वीतराग परमगुरु समस्त परिग्रहोंके त्यागी होते हैं। इसलिए वे सदा दिगंबर अवस्था धारण करते हैं। ``उन परम दिगंबरमुनियोंको नग्न कहकर उनकी हँसी करना, उनसे अरुचि करना, उनके दर्शन नहीं करना, उनसे द्वेष करना, उनके लिए बुरे शब्द कहना, उनके लिए वैयावृत्त्य करनेका निषेध करना, उनकी चर्या व विहार आदिकी निंदा करना'' गुरुओंकी निंदा कहलाती है। ``शास्त्रोंमें जो कुछ लिखा है वह सब ठीक नहीं है, उसमें अध्यात्मवाद ... तत्त्ववाद भले ही ठीक हो परंतु क्रियाकांड वा व्यवहारचारित्र्यका निरूपण वा त्याग मर्यादाका कथन अथवा दान पूजनका प्रकार सब ज्योंका त्यों ठीक नहीं है। शास्त्रोंके विरुद्ध वचन कहना भी शास्त्रोंका अपमान है। इस प्रकार देव शास्त्र गुरुका अपमान करनेसे इस लोक और परलोक दोनो लोकोंमें इस जीवका अपमान होता है तथा नरकादिक दुर्गति प्राप्त होती है। इसलिए ऐसे पापोंसे बचनेके लिए देव गुरुओंका अपमान कभी नहीं करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - दुष्टस्त्री प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव कस्माद् ।
नरः कुभार्यां लभतेऽन्यलोके ।।

अर्थ - हे देव अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस कर्मके उदय से व किस पापकार्य से इस जीवको परभवमें दुष्टस्त्री प्राप्त होती है ।

उत्तर - पत्न्या समं यः कलहं च कृत्वा ।
निंदां सुनार्याश्च विधाय रोषात् ।।
दृष्ट्वा ह्यतुष्यत्कलिकारिणीं स्त्रीं ।
स दुष्टभार्यां लभतेऽन्यलोके ।। ६ ।।

अर्थ - जो मनुष्य अपनी स्त्रीके साथ रात दिन लड़ता रहता है, अथवा किसी द्वेषके कारण सदाचारिणी स्त्रियोंकी निंदा करता रहता है, अथवा कलह करनेवाली स्त्रियोंको देखकर अत्यंत संतुष्ट होता है, ऐसा मनुष्य परलोकमें जाकर अत्यंत दुष्ट स्त्रीको पाता है ।

भावार्थ - धर्मपत्नी धर्मकार्योंमें सहायता देनेवाली होती है । बिना धर्मपत्नीके पात्रदानकी उत्तम व्यवस्था नहीं हो सकती, न प्रति दिन हो सकती है, तथा जिनपूजनमें भी बिना धर्मपत्नीके व्यवस्था नहीं हो सकती । धर्मपत्नीके साथ कलह करनेसे दान पूजन दोनोंकीही व्यवस्था नष्ट होती है । इसलिए धर्मपत्नीके साथ कभी भी कलह नहीं करना चाहिये । इसी प्रकार सदाचारिणी स्त्रियोंकी निंदा करना व उनमें किसी प्रकारका कलंक लगाना महापापका कारण है । जो पुरुष सदाचारिणी स्त्रीमें कलंक लगाता है उसको उसके फलसे कलंकित स्त्री मिलनी ही चाहिये । अथवा जो पुरुष कलह करनेवाली स्त्रीको देखकर संतुष्ट होता है अथवा जिसकी भावना सदाकाल कलह करनेवाली स्त्रियोंसेही प्रसन्न रहती है ऐसे पुरुषोंको उस भावनाके फलसे परलोकमें कलह करनेवाली स्त्री ही प्राप्त होती है । कलह करना वा किसी प्रकारकी कलहसे प्रसन्न होना अशुभपरिणामोंका कारण है, और ऐसे अशुभ परिणामोंके फलसे ऐसे ही स्त्री पुत्र आदि प्राप्त होते हैं जो सदाकाल कलह करते रहते हैं और इस प्रकार परंपरा तक पापकर्मोंके कारण होते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। यही समझकर न तो स्वयं कभी कलह करना चाहिये और न कभी कलहके समीप ठहरना चाहिये। यह आत्माके हितका एक साधन है।

आगे - दुष्ट पति प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात्,
दुष्टं पतिं स्त्री लभतेऽन्यलोके ॥

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि किस पाप कार्यके उदयसे इस स्त्रीको परलोकमें दुष्ट पति प्राप्त होता है।

उत्तर - पत्या समं या कलहं च कृत्वाऽ-
तुष्यत्कुशीलं पुरुषं हि दृष्ट्वा ॥
द्वेष्टि प्रियं सच्चरितं विनीतं ।
दुष्टं पतिं सा लभतेऽन्यलोके ॥ ७ ॥

अर्थ - जो स्त्री अपने पतिके साथ कलह करती हुई प्रसन्न होती है अथवा असदाचारी मनुष्योंको देखकर प्रसन्न होती है अथवा सदाचारी और विनय करनेवाले पतिसे द्वेष करती है ऐसी स्त्रीको परभवमें दुष्ट पति ही प्राप्त होता है।

भावार्थ - स्त्रियोंके लिए पति पूज्य माना जाता है। सब प्रकारसे पतिकी सेवा करना स्त्रियोंका धर्म माना जाता है। सब प्रकारसे पतिकी सेवा भक्ति करनेवाली स्त्रियांही पतिव्रता कहलाती हैं। ऐसी पतिव्रता स्त्रियां अपने पतिके साथ कभी कलह नहीं करती हैं। जो स्त्रियां अपने पतिके साथ कलह करती हैं वे पतिव्रता कभी नहीं कहला सकती, और एसीलिए ऐसी स्त्रियोंको परभवमें कलह करनेवाला ही दुष्टपति प्राप्त होता है। इसी प्रकार जो स्त्री सुशील पुरुषको देखकर प्रसन्न होती है वह भी पतिव्रता कभी नहीं हो सकती। कुशील पुरुषोंको देखकर कुशील स्त्रियां ही प्रसन्न होती हैं। पतिव्रता स्त्री कभी प्रसन्न नहीं हो सकती। इसलिए कुशील पुरुषको देखकर प्रसन्न होना अपने शीलमें दोष लगाना है। तथा सदोष स्त्रियोंको परभवमें दुष्टपति ही प्राप्त होता है।

इसी प्रकार अपने सदाचारी और विनय करनेवाले पतिसे द्वेष करना भी पतिव्रता स्त्रियोंका काम नहीं है। अपने पतिसे तो कभी द्वेष करना भी पतिव्रता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्त्रियोंका काम नहीं है। अपने पतिसे तो कभी द्वेष करना ही नहीं चाहिए। जो स्त्रियां अपने पतिसे द्वेष करती हैं वे श्रेष्ठ स्त्रियां नहीं कहलाती, और इसीलिए परभवमें भी ऐसी स्त्रियोंको दुष्टपति ही प्राप्त होता है। इसलिए पतिकी सेवा-भक्ति करना ही स्त्रियोंका धर्म है, पतिकी सेवा-भक्ति करनेसे पतिके द्वारा होनेवाले धर्मकार्य उन स्त्रियोंकी सहायतासे सरल रीतिसे संपन्न हो जाते हैं और फिर उन धर्मकार्योंका फल उन स्त्रियोंको भी अवश्य प्राप्त होता है।

आगे - मल, मूत्रादिकमें कैसे जीवोंका जन्म होता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न - कस्माच्च कार्याद् वद देव ! निंद्ये।
मले जनानां भवतीह जन्म ॥

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किन किन कार्योंके करनेसे इन जीवोंका मल, मूत्रादिक निंद्य पदार्थोंमें जन्म होता है।

उत्तर - दुर्गंधयुक्तं मलिनान्नपानं।
मांसादिकं भक्षितमेव येन ॥
पीतं तथा मद्यरसं नितान्तं।
स्यात्तस्य जन्मापि मले पशूनाम् ॥ ८ ॥

अर्थ - जो पशुरूप मनुष्य दुर्गंध और अत्यंत मलिन ऐसे अन्न पानको भक्षण करते रहते हैं, अथवा मलिन दुर्गंधरूप मांसादिकका भक्षण करते रहते हैं अथवा सदाकाल मद्य पान करते रहते हैं ऐसे पुरुष मरकर पशुवोंके मलमूत्रके कीड़े उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ - मद्य, मांस व दुर्गंधमय अन्न पान आदि समस्त पदार्थ अत्यंत घृणित और अनंत जीवमय हैं। इन पदार्थोंका स्पर्श करनेमात्रसे अनंत जीवोंका घात होता है। फिर भला खाने पीनेकी तो बात ही क्या है। जो पुरुष मद्य, मांसका सेवन करते हैं वे अनंतानंत जीवोंका घात करनेके कारण नरकादिक दुर्गतियोंके दु:ख भोगते हैं, फिर वहांसे निकलकर मलमूत्रके कीड़े होते हैं। और फिर नरकादिकके दु:ख भोगते हैं। इस प्रकार उनके दु:खोंकी परंपरा सदाकाल चलती रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि मद्य मांसादिकके सेवन करनेमें महापाप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है । शहद भी मद्य मांसके समान है इसलिये इनका सेवन कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे - यह जीव घर कुटुंबका त्याग क्यों नहीं करता यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
त्यक्तुं न शक्नोति नरो गृहादिम् ।।

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस कर्मके उदयसे वा किस कारणसे यह जीव घर कुटुंबका त्याग नहीं कर सकता ।

उत्तर - पुरा भवे यो विषये निमग्नो ।
बभूव भक्त्या हि कुलिंगिभक्त: ।।
पूर्वोक्तसंस्कारवशान्न शक्तो ।
भवेत्स मोक्तुं गृहबन्धुभार्याम् ।। ९ ।।

अर्थ - जो पुरुष पहले अनेक भवोंमें इंद्रियोंके विषयोंमें निमग्न हो रहा था, अथवा भक्तिपूर्वक जो कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंका भक्त बन रहा था वह पुरुष अपने पहले भवोंके संस्कारके निमित्तसे अपने घर, भाई, बंधु, मित्र, स्त्री आदिका त्याग कभी नहीं कर सकता ।

भावार्थ - यह मोह इस संसारी जीवके साथ अनादि कालसे लग रहा है । मोहके ही कारण यह जीव परपदार्थोंको अपना मान लेता है । देखो संतानरहित कोई धनी पुरुष किसी अन्य किसी निर्धन पुरुषके पुत्रको गोद लेकर अपना पुत्र बना लेता है । गोद लेनेके पहले उस पुत्रके साथ उस धनीका कोई किसी प्रकारका मोह नहीं था । उसके दु:ख सुखमें उसकी सहानुभूति नहीं थी । परंतु जिस दिनसे वह धनी उस पुत्रको अपना मान लेता है उसी दिनसे वह उस पुत्रके लिए अपना सब कुछ समर्पण कर देता है । उसी दिनसे सेठ सेठानी दोनों ही उसकी सेवा करते हैं, उसके थोड़ेसे दु:खमें अत्यंत दु:खी होते और उसके थोड़ेसे रोगमें हजारों रुपये खर्चकर देते हैं । यह सब उस अन्यके पुत्रको अपना मान लेनेका वा उसके साथ मोह करनेका फल है । इस मोहके कारण यह जीव अनेक प्रकारके पाप करता है परंतु उसके त्याग करनेका साहस नहीं करता । किसी धनी पुरुषने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस पुत्रको गोद लिया है यदि वही पुत्र वर्ष दो वर्ष रहकर वापिस जाना चाहता है तो केवल वर्ष दो वर्षके मोहसे ही उसको वापिस जाने नहीं देता। तथा उसके जानेपर रोता है दु:खी होता है। जब वर्ष दो वर्ष के मोहसे इस जीवकी यह अवस्था होती है तो फिर अनादि कालसे लगे हुए इन इन्द्रियोंके विषयोंके मोहकी तो बात ही क्या है उनको तो वह कभी छोड़ ही नहीं सकता। इसी प्रकार इस मोहके ही कारण यह जीव कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुका भक्त बन जाता है। और इस प्रकार मिथ्यात्वकी वृद्धिकर अपने आत्माका स्वरूप भूल जाता है। जब यह जीव काललब्धि और अपने शुभ परिणामोंके द्वारा उस मिथ्यात्वकर्मका उपशम कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तब यह जीव उस सम्यग्दर्शनरूपी प्रकाश के द्वारा अपने आत्माके स्वरूपके स्वरूपको पहचानने लगता है तब उस अपने आत्माके स्वरूपको ग्रहण करने योग्य अपना समझने लगता है और पुत्र, पौत्र, मित्र, स्त्री आदि सबको पर और हेय समझने लगता है। इस प्रकार अपने आत्माके स्वरूपको पहचान लेने पर यह जीव मोहका त्याग कर घर कुटुंबादिकका त्याग कर देता है और फिर अपने आत्मकल्याणमें लग जाता है। इसलिये भव्य जीवोंको सबसे पहले मोहका त्याग कर देना चाहिये। आत्माके कल्याणका सर्वोत्तम उपाय यही है।

आगे - अंधे होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव कस्मात् ?
जीव: किलांधो भवतीह विश्वे।

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव इस संसारमें किस कर्मके उदयसे वा कौन कार्य करनेसे अंधा होता है।

उत्तर - बलात्परेषां नयनानि छित्वा।
य: सुन्दरांगी ह्रतवान् धनादिम्।
अन्धापमानं कृतवान् कुगर्वाद्।
मृत्वा स चांधो हि भवेदमुत्रे ॥ १० ॥

अर्थ - जो पुरुष बलपूर्वक दूसरेके नेत्रोंको फोड़ देता है अथवा जो दूसरेकी सुंदर स्त्रियोंका हरण कर लेता है वा धनादिकका हरण कर लेता है अथवा जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने मिथ्या-अभिमानसे अंधोंका अपमान करता है वह पुरुष मरकर परलोकमें अंधा होता है ।

भावार्थ - इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है कि यह जीव पापकर्मके उदय से ही अंधा होता है तथा वह पाप कर्म किसी दूसरेके नेत्र फोड़ देनेसे भी होता है, सुंदर स्त्रियोंको हरण करनेसे भी होता है, धनका हरण करलेनेसे भी होता है और अंधोंका अपमान करनेसे भी होता है । इस शरीरमें मुख वा मस्तक उत्तम अंग कहलाता है, उस मुखमें भी दोनों नेत्र ही सर्वोत्तम कहलाते हैं । बिना नेत्रोंके न तो यह जीव मुनिव्रत धारण कर सकता है न श्रावक व्रतको अच्छी तरह पालन कर सकता है, न जीवोंकी रक्षा कर सकता है, न भगवान् जिनेन्द्रदेवके दर्शन कर सकता है न गुरुके दर्शन कर सकता है और शास्त्र-स्वाध्याय अभिषेक, पूजन आदि उत्तम कार्योंको कर सकता है ऐसे उत्तम कार्योंको करनेवाले इन नेत्रोंको फोड़ देना महापाप है । ऐसे ही पाप कार्यके उदयसे यह जीव अंधा होता है । इसी प्रकार किसीकी सुंदर स्त्रीको हरण कर लेना, किसीके धनको हरण कर लेना वा दु:खी अंधोंका अपमान करना भी महापाप है, और इन्हीं पापकर्मोंके उदयसे यह जीव अंधा होता है । इसलिए ऐसे पापकर्म इस जीवको कभी नहीं करने चाहिए ।

आगे - लूले लंगड़े वा अपांग होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव कस्मा-
न्नाश्छिन्नदेही भवतीह लोके ॥

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्मके उदयसे वा किस पापसे यह जीव लोकमें लूला लंगडा वा अपांग होता है ।

उत्तर - हस्तौ परेषां चरणौ च छित्त्वाऽ-
तुष्यन्नृणां स्वार्थवशात्पशूनाम् ॥
दृष्ट्वा ह्यनन्दत्खलु छिन्नदेहं ।
स स्यादमुत्रेऽखिलछिन्नदेहि ॥ ११ ॥

अर्थ - जो पुरुष अपने किसी स्वार्थसे मनुष्य वा पशुओंके हाथ पैरोंको काट डालता है, अथवा लूले, लंगड़े, अपांग जीवोंको देखकर प्रसन्न होता है वह जीव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरकर परलोकमें छिन्न भिन्न शरीरको धारण करने वाला व लूला, लंगड़ा, अपांग होता है ।

भावार्थ - लूला, लंगड़ा होना वा अपांग होना वा शरीरका छिन्न भिन्न होना महापापकर्मके उदयसे होता है । तथा वह पापकर्म जीवोंको अत्यंत दु:ख देनेसे बंधको प्राप्त होता है । तीर्थयात्रा, जिनपूजन, अभिषेक, स्वाध्याय, पात्रदान, तपश्चरण आदि जितने आत्मकल्याणके कार्य हैं वे सब कार्य शरीरके हाथ, पैर आदि शरीरके अंग उपांगोंसे ही होते हैं । इसलिए अंग उपांगोंका काट डालना उन आत्मकल्याण करनेवाले तपश्चरण आदि कार्योमें घोर विघ्न डालना है । अथवा जिस जीवके अंग उपांग काटे जाते हैं उसको महादु:ख होता है । तथा वह दु:ख महापाप कर्मोंका कारण बन जाता है । और उन पापकर्मोंके उदयसे ही वह जीव लूला, लंगड़ा वा अपांग उत्पन्न होता है । इसके सिवाय अपांग जीवोंको देख देखकर प्रसन्न होना भी पापका कारण है । उनको देखकर तो करूणा उत्पन्न होनी चाहिये । परंतु जिन जीवोंको करुणाके स्थानमें हर्ष उत्पन्न होता है उनको महापाप लगना ही चाहिये । और उन पाप-कर्मोंके उदयसे उनके अंग उपांग छिन्न भिन्न होने ही चाहिए तथा होते ही हैं । इसलिए आत्मकल्याण चाहनेवाले जीवोंको कभी भी अन्य जीवोंके अंग उपांग छिन्न भिन्न नहीं करने चाहिए । सब जीवोंको अपने आत्माके समान समझकर सब को सुख पहुंचानेका प्रयत्न करना चाहिए । आत्मकल्याणका यह सबसे सरलमार्ग है ।

आगे - पशुहिंसक व्याध होनेके कारण बदलाते हैं -

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
व्याधो भवेत्कौ खलु मन्दभागी ।।

अर्थ - हे भगवन ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव पशुओंको मारनेवाला व्याध किस पापकर्मके उदयसे होता है ।

उत्तर - मांसादिभक्षी ह्यसुहिंसको यो ।
धर्मस्य द्वेषी कलहप्रियश्च ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्याधश्च पापान्मनुजः स मृत्वा ।
भवत्यवश्यं हतधर्मकर्मा ॥ १२ ॥

अर्थ - जो मनुष्य मांस भक्षण करता है, मद्यपान करता है अनेक जीवोंके प्राणोंका घात करता है, धर्मसे द्वेष करता है और सर्वत्र लड़ाई झगड़ा वा कलह करता रहता है, ऐसा मनुष्य उस पाप कर्मके निमित्तसे मरकरके अवश्य ही धर्मकर्मसे सर्वथा रहित व्याध होता है ।

भावार्थ - व्याधके शरीरमें जन्म लेना महापापका कारण है । अनेक जीवोंको मारना, अनेक पक्षियोंको मारना, वा जीवित पकड़कर उनको अनेक प्रकारके दुःख देना व्याध लोगोंका प्रति दिनका काम है । इन महापापरूप कामोंको करनेसे ही व्याध लोग प्रायः मरकर नरक ही जाते हैं । इसीलिए व्याध लोग महापापी गिने जाते हैं । इस महापापके कारण ही कोई भी सज्जातिवाला मनुष्य उनका स्पर्श नहीं करता है । इस श्रेष्ठ मनुष्यजन्म को पाकर भी जो लोग मांसभक्षण करते हैं, मद्यपान करते हैं, कंदमूल, बड़, पीपर, ऊमर, कठूमर, पाकर, आदि अनेक जीवोंसे भरे हुए फलोंको खाते हैं, आचार, द्विदल आदि अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करते हैं, आसाव, अरिष्ट, सिरका वा मद्य, मांसादिकसे बनी हुई औषधियोंका सेवन करते हैं, अथवा थोड़ेसे जिह्वाके स्वादके लिए जो अनेक जीवोंको मारते हैं, अपने विनोदके लिए अनेक जीवोंको मारते हैं, वा बिना कारण ही सांप, बिच्छू आदि जीवोंको मार देते हैं, जो लोग धर्मसे द्वेष रखते हैं, धार्मिक कार्योंको न तो स्वयं करते हैं और न किसी दूसरोंको करने देते हैं, जो धर्मकार्योंमें सदा विघ्न करते हैं, अथवा जो मनुष्य कलह करानेमें चतुर होते हैं वा कलहको देखकर प्रसन्न होते हैं, जो लोग पशुओंको वा मनुष्योंको परस्पर लड़ाया करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर अवश्य ही व्याध होते हैं । उस व्याधयोनिमें आकर वे किसी प्राकरका धर्मकर्म नहीं कर सकते, तथा निरंतर हिंसाके ही कार्य करते रहते हैं । जिनके कारण वे मरकर नरक ही जाते हैं । इसलिए मनुष्यजन्म पाकर कभी भी पापकार्य नहीं करना चाहिए । आत्माको सुख पहुंचाने का यह सबसे सुगममार्ग हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - कुपुत्री प्राप्त करनेका कारण बतलाते हैं -

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
पिता कुपुत्रीं लभतेऽन्यलोके ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस कर्मके उदयसे वा किस पापसे परलोकमें जाकर पिताको कुपुत्री प्राप्त होती है ।

उत्तर - कस्यापि वन्धोरपमानहेतोः ।
प्रदर्श्य चान्यां खलु तत्कुपुत्रीम् ॥
योऽपीणयन्निंद्यसुतामभागी ।
स चान्य लोके लभते कुपुत्रीम् ॥ १३ ॥

अर्थ - जो मनुष्य अपने किसी भाईका अपमान करनेके लिए किसी अन्य सुंदर कन्याको दिखाकर उंसके साथ अपनी निंदनीय कुपुत्रीका पाणिग्रहण कर देता है उस अभागी पुरुषको परलोकमें जाकर कुपुत्री ही प्राप्त होती है ।

भावार्थ - यहांपर निंद्य कुपुत्री अर्थरूप रहित वा अंग, उपांग रहित लूली, लंगड़ी, अंधी, बहिरी, वा अन्य अनेक दोषोंसे दूषित कन्या है । यदि कोई पुरुष ऐसी रूपरहित वा अंधी, लूली, लंगड़ी, कन्याके साथ अपनी प्रसन्नता पूर्वक विवाह करता है उसकी तो कोई बात ही नहीं है । परंतु जो पुरुष ऐसी कन्याके साथ विवाह नहीं करना चाहता और ऐसी कन्याका पिता उसी पुरुषको किसी अन्य दूसरेकी पुत्रीको दिखाकर उसे विवाहके लिए प्रसन्न कर लेता है, और विवाह करते समय अपनी सदोष वा लूली, लंगड़ी वा अंधी बहिरीके कन्याके साथ उसका विवाह कर देता है, वह पुरुष भी महापापी गिना जाता है । इसका कारण यह है कि वह ऐसी कन्याका पिता प्रथम तो उसको ठगता है तथा ऐसी कन्याके साथ विवाह करनेसे उसका अपमान होता है । इस प्रकार मायाचारीके साथ अपनी कुरूप व सदोष कन्याको देकर उस कन्याका पिता उस जामातको ठगने वाला और अपमान करनेवाला कहलाता है । तथा इसी पापके कारण परलोकमें फिर भी उसके ऐसी ही कुरूपाएं वा सदोष कन्याएं उत्पन्न होती हैं । इसलिए सद्गृहस्थोंको ऐसी मायाचारी कभी नहीं करनी चाहिए ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - ठग उत्पन्न होनेका कारण बदलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव कस्मा -
न्मृत्वा मनुष्यः खलु वंचकः स्यात् ॥

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बदलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस पापकर्मके उदयसे ठग होता है ।

उत्तर - चित्तेऽन्यचिन्ता वचनेऽन्यवार्ता ।
कायेऽन्यकृत्यं भवदं च यस्य ।
स एव मृत्वा भुवि वंचकः स्यात्
पूर्वोक्तसंस्कारवशादभागी ॥ १४ ॥

अर्थ - जो पुरूष अपने मनमें कुछ और ही चिंतवन करता है, वचनसे कुछ और ही बात करता है और शरीरसे कुछ और ही काम करता है इस प्रकार जन्ममरणरूप संसारको बढानेवाली ठगाई करता रहता है वह पुरूष मरकर अपने पहले संस्कारोंके निमित्तसे भाग्यहीन ठग होता है ।

भावार्थ - दूसरोंको ठकना भी महापाप है तथा इस महापापको प्रत्येक मनुष्य नहीं कर सकता । अनेक मनुष्य सरल स्वभावके होते हैं उनसे विश्वासघात वा ठगाई का काम नहीं हो सकता । जो जीव जन्मजन्मांतरसे मनवचन कायमें कुटिलता रखते चले आते हैं सोचते कुछ हैं, कहते और कुछ हैं और करते और कुछ हैं तथा जिन्हें ऐसा करनेका अभ्यास अनेक जन्मोंसे होता चला आरहा है ऐसे नीच ही मरकर भाग्यहीन ठग होते हैं । यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि मनुष्य पर्यायमें तो ऐसे ठग होते ही हैं परंतु पशुओंमें भी कौआ, बिल्ली, शृगाल इत्यादि कितने ही पशु ऐसे मायाचारी होते हैं । इसलिये आत्म कल्याण करनेवाले पुरुषोंको ऐसे मायाचारी कभी नहीं करनी चाहिये ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्माद्
भवत्यवश्यं वधिरो हि जीवः ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे वा किस पापसे अवश्य ही बहरा होता है ।

उत्तर - आकर्ण्य नृणां कुकथां पुरा योऽ-
तुष्यद्धि कृत्वा बधिरापमानम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रुत्वापि वाचोऽश्रुत एव तिष्ठेद्
मृत्वा स मूढो बधिरो भवेत्कौ ।

अर्थ - जो मनुष्य पहले जन्ममें मनुष्यों की कुकथाएं सुनकर प्रसन्न होता है अथवा बहरे लोगोंका अपमान कर प्रसन्न होता है अथवा वचनोंको सुनकर न सुननेके समान बैठा रहता है वह मूर्ख मनुष्य मरकर इस पृथ्वीपर बहरा ही होता है ।

भावार्थ - कर्णेन्द्रिय प्राप्त करनेका फल धर्मकथाओंका सुनना है । धर्मकथाओंके सुननेसे वा आत्मा आदि तत्वोंके यथार्थ स्वरूपको सुननेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ! तथा यही मनुष्यजन्म प्राप्त करनेका फल है । विकथाओंके सुननेसे पाप कर्मोंका बंध होता है । क्योंकि भोजनकी कथा कहना, चोरोंकी कथा कहना किसी राष्ट्र वा युद्धकी कथा कहना आदि सब विकथाएं या कुकथाएं कहलाती हैं । इनके सुननेसे पापरूप परिणाम होते हैं । और उन परिणामोंसे पापकर्मोंका बंध होता है उनके उदय होनेपर यह जीव प्राय: बहिरा हो जाता है । इसी प्रकार जो मनुष्य अपने पाप कर्मोंके उदयसे बहिरा हुआ है उसका अपमान करना भी पाप है उस पापके उदयसे भी यह जीव बहिरा होता है । इसीप्रकार जो मनुष्य धार्मिक कथाओंको सुनकर भी बिना सुनेहुएके समान आचरण करता है, धर्मशास्त्रों को सुनकर भी उनके आज्ञानुसार आचरण नहीं करता वह मनुष्य भी मरकर बहिरा होता है । इसलिए धर्मात्मा पुरुषोंको कुकथाओंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, किसीका अपमान नहीं करना चाहिये और धर्मशास्त्रोंको सुनकर उनकी आज्ञानुसार आचरण करते रहना चाहिये । यही आत्मकल्याणका सरल मार्ग है ।

आगे - गूंगा होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्माद् ।
जीवोऽन्यलोके भवतीह मूकः ।।

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापकर्मके उदयसे यह जीव मरकर परलोकमें गूंगा होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - वस्तु ह्यभक्ष्यं रसनाप्रलोभा-
द्योऽभक्षयन्मांसकलेवरादिम् ।
निर्ग्रंथसाधोरकरोत्प्रणिन्दां ।
मृत्वा स मूको भवति ह्यमुत्र ॥ १६ ॥

अर्थ - जो मनुष्य अपनी जिह्वाकी लोलुपताके कारण जीवोंके मांस वा कलेवर आदि अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करता है अथवा जो मनुष्य निर्ग्रंथ मुनियोंकी निंदा करता है वह मनुष्य मरकर परलोकमें अवश्य बहिरा होता है ।

भावार्थ - बोलना, बातचीत करना, स्वाध्याय करना, धर्मोपदेश देना, पढ़ना पढ़ाना आदि सब जिह्वा इन्द्रियका काम है । यद्यपि भोजनका स्वाद भी जिह्वा इन्द्रियसे लिया जाता है परंतु स्वाद देना मोक्षमार्गमें सहायक न होनेसे वह जिह्वा इन्द्रियका फल नहीं समझा जाता । इसलिये जो लोग जिह्वा इन्द्रियकी लेलुपताके कारण मांसादिक अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करते हैं उन्हें जिव्हा इन्द्रियका फल कभी नहीं मिल सकता । तथा गूंगा होने से उस जिव्हा इन्द्रियके फलका अभाव हो सकता है । इसलिए ऐसे मनुष्य परलोकमें गूंगा ही होते हैं । इसी प्रकार साधुओंकी स्तुति करना, उनकी पूजा बोलना आदि जिह्वा इन्द्रियका फल है । परंतु जो मनुष्य निर्ग्रंथ मुनियोंकी निंदा करते हैं उनको उस जिह्वा इंद्रियका फल कभी नहीं मिल सकता । इसलिए मुनियोंकी निंदा करनेवाले मनुष्य मरकर गूंगे ही होते हैं । अत एव धर्मात्मा श्रावकोंको मुनियोंको निंदा कभी नहीं करनी चाहिए और न कभी अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करना चाहिए ।

आगे - धूर्त होने का कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! क्समा -
न्मृत्वा स जीवो भवतीह धूर्तः ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्मके उदयसे यह जीव मरकर धूर्त होता है ।

उत्तर - मिथ्याप्रलोभी व्यसने निमग्नो
नास्तिक्यवादी परलोकलोपी ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्यादि पापस्य वशात्ममूढो ।

मृत्वा स जीवो भवतीह धूर्तः ।। १७ ।।

अर्थ - जो पुरुष, मिथ्यालोभ करता है, व्यसनोंमें सदा लीन रहता है, नास्तिकवादको मानता है और परलोकको मानता नहीं ऐसा मूर्ख मनुष्य ऊपर लिखे पाप कार्योंके वश होकर इस संसारमें अत्यंत धूर्त होता है । भावार्थ-मायाचार करनेवाला या ठगई करनेवालेको धूर्त कहते हैं । धूर्त होना एक महापापका फल है । क्योंकि धूर्त मनुष्य दूसरोंको ठग ठगकर महापाप उत्पन्न किया करता है ।

जो लोग झूठा लोभ किया करते हैं अर्थात् जहां लोभ नहीं करना चाहिये वहां लोभ करते हैं और जहां लोभ करना चाहिये, वहां नहीं करते । धनी मनुष्योंको धर्मकार्योंमें ही अपना रुपया लगाना चाहिये, व्यसनोंमें वा चारित्रको नष्ट करनेवाले सिनेमा, थिएटर, आदि पापकार्योंमें अपना रुपया कभी खर्च नहीं करना चाहिये । परंतु जो लोग धर्मकार्योंमें तो खर्च करते नहीं और व्यसनोंमें वा खेल तमाशोमें हजारों रुपये खर्च कर देते हैं ऐसे लोग धर्मकार्योंमें लोभ करनेके कारण मिथ्यालोभी कहलाते हैं । ऐसे मिथ्यालोभी मरकर धूर्त ही होते हैं । इसी प्रकार जो लोग जुआ खेलना, चोरी करना, परस्त्रीहरण करना, वेश्यासेवन करना, मद्य मांसका सेवन करना आदि व्यसनोंमें लगे रहते हैं वे भी अपने आत्माको ठगते हैं । क्योंकि नास्तिकवादी होनेसे वा परलोक न माननेसे पुण्य पाप भी नहीं माना जा सकता । तथा जो लोग पुण्य पाप नहीं मानते हैं वे पापकार्योंमें ही अपनी निरर्गल प्रवृत्ति करते हैं । इसलिए ऐसे पापी लोग मरकर धूर्त ही होते हैं ।

आगे - रोगी होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव कस्मा -

ज्जीवः स रोगी भवतीह मृत्वा ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे मरकर रोगी होता है ?

उत्तर - दत्तं न दानं भुवि चौषधस्य ।

कृतापि सेवा न च रोगिणोऽस्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृता च गर्वात्खलु रोगिनिंदा
मृत्वा स रोगी भवति ह्यभाग्यः ।। १८ ।।

अर्थ - जो पुरुष न तो कभी किसी रोगीको औषधिका दान देता है, न कभी किसी रोगीकी सेवा करता है तथा जो अपने अभिमानसे रोगीकी निंदा करता है ऐसा अभागी पुरुष मरकर रोगी ही होता है ।

भावार्थ - इस शरीरमें अनेक रोग भरे हुए हैं और वे सब पापकर्मके उदयसे प्रगट होते हैं । दान देना पुण्य कार्य है तथा जो पुरुष समर्थ होकर भी दान नहीं देता वह भी पाप ही करता है । जिस प्रकार भोजनदान देनेसे यह मनुष्य सुखी होता है उसी प्रकार औषधदान देनेसे यह जीव सदाकाल नीरोग रहता है । इसी प्रकार रोगी पुरुषकी सेवा करना भी नीरोगताका कारण है । क्यों कि जो पुरुष रोगी होता है वह बहुत ही दु:खी होता है उस दु:खी पुरुषके दु:खको दूर करना वा उस दु:खको दूर करनेके लिए औषधि देना वा उसको सुखी करनेके लिए उसकी सेवा करना नीरोगताका कारण है । जो पुरुष समर्थ होकर भी इन दोनों कार्योंको नहीं करता, वह कभी निरोग नहीं रह सकता । परलोकमें जाकर तो वह रोगी होता ही है । इसी प्रकार जो पुरुष किसी रोगीकी निंदा करता है वह भी पाप ही करता है, इसलिए वह भी परलोकमें रोगी ही होता है । अत: एक समर्थ धनियोंको और समर्थ वैद्योंको रोगी पुरुषोंके लिये औषधियोंका दान अवश्य करते रहना चाहिये । तथा अपनेसे जितना बन सके उतनी सेवा उन रोगियोंकी करनी चाहिये और रोगी पुरुषोंको सदाकाल आश्वासन देते रहना चाहिये । रोगियोंकी निंदा कभी नहीं करनी चाहिये ।

आगे - किन किन कारणोंसे दु:ख देनेवाला कुटुंब प्राप्त होता है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्माद्
दु:खमदं ना लभते कुटंबम् ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्मके उदयसे इस जीवको दु:खदेनेवाला कुटुंब प्राप्त होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - **कस्यापि जन्तो कलहं मिथो यः ।**
उत्पाद्य कृत्वेति ततः कुवार्ताम् ।
कृत्यापवादं विषमं ह्यतुष्यत् ।
स च व्यथादं लभतेकुटुम्बम् ।। १९ ।।

अर्थ - जो मनुष्य किसी भी मनुष्यके साथ परस्पर कलह कराकर प्रसन्न होता है अथवा न कहने योग्य दुष्ट वचनोंको कहकर प्रसन्न होता है वा किसीको भारी कलंक लगाकर प्रसन्न होता है ऐसे पुरुषको परलोकमें जाकर दुःख देनेवाला कुटुंब प्राप्त होता है ।

भावार्थ- कुटंबके लोग सुख देनेके लिये होते हैं । माता पिता सुख देते ही हैं, भाई सुख देते ही हैं तथा स्त्री पुत्र भी सुख पहुंचाते ही हैं । परंतु जो कुटुंबी लोग प्रत्येक समयमें दुःख देते रहें, बुरे शब्द कहते रहें ऐसे कुटंबी लोग पाप कर्मके उदय से ही प्राप्त होते हैं । ऐसे कुटंबियोंको एक प्रकारसे शत्रु ही समझना चाहिये । जो पुरूष अनेक मनुष्योंसे परस्पर कलह कराते रहते हैं, एक दूसरेको लडातें रहते हैं वा एकके द्वारा दूसरेको दुःख पहुंचाते रहते हैं वा सदाकाल अशिष्ट बचन कहते रहते हैं वा दूसरोंसे कहलवाते रहते हैं, अथवा जो दूसरोंकी झूठी निंदा करते रहते हैं वा कराते रहते हैं, जो दूसरोंको मिथ्या कलंक लगाते रहते हैं वा अन्य ऐसे ही ऐसे काम करते रहते हैं ऐसे मनुष्य मरकर दुःख देनेवाले कुटुंबियोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं । तथा वहांपर अपने उस पापकर्मके उदयसे उन कुटुंबियोंके द्वारा दिये हुए महादुःख भोगते रहते हैं । यही समझकर कभी किसी की निंदा नहीं करनी चाहिए, कभी किसीके लिए अशिष्ट बचन नहीं कहने चाहिए और कभी किसीको कलंक नहीं लगाना चाहिए ।

आगे - दुष्टस्वभाव होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - **कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्माद् ।**
दुष्टस्वभावो भवतीह जीवः ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे दुष्ट स्वभाववाला होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - यश्चागतः श्वभ्रगतेः कुबुद्धि-
बंध्वा नरायुः प्रथमं हि पश्चात् ।
भवेत्कुमार्गी खलसंगकारी
मृत्वा स जीवः खलु दुष्टभावः ॥ २० ॥

अर्थ - जो पुरुष नरकगतिसे आया हो, वा कुबुद्धिको धारण करनेवाला हो, अथवा जिसने पहले मनुष्य आयुका बंध कर लिया हो और फिर वह कुमार्गगामी होगया हो अथवा जो पुरुष दुष्टोंकी संगतिमें रहता हो ऐसा पुरुष मरकर दुष्ट स्वभावको धारण करनेवाला होता है ।

भावार्थ - जो जीव अत्यंत पाप करता है वह नरकमें जाता है । तथा उन पापोंके फलकी परंपरा नरकमें ही समाप्त नहीं होती किंतु नरकसे निकलकर प्राप्त होनेवाली पर्यायमें भी आती ही है । यही कारण है कि जो जीव अत्यंत घोरपापोंके कारण सातवें नरकमें जाता है वह जीव सातवें नरकसे निकलकर सिंह, सर्प आदि घातक योनिमें ही उत्पन्न होता है और वहांपर भी अनेक महापाप उत्पन्न कर फिर नरक ही जाता है । इसी प्रकार जो जीव नरकसे आता है उसके परिणाम दुष्ट ही होते हैं । यहांपर इतना और विशेष समझ लेना चाहिए कि जो जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं वे ही जीव नरकसे निकलकर दुष्ट स्वभाववाले होते हैं । क्योंकि ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंके परिणाम नरकमें भी दुष्ट ही रहते हैं । परंतु जिन्हें नरकमें सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता हैं अथवा जिन्होंने नरक जानेसे पहले भवमें नरकायुका बंध कर लेनेपर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, ऐसे सम्यग्दृष्टियोंके परिणाम नरकमें भी दुष्ट नहीं होते, फिर भला वहांसे निकले तो वे दुष्ट परिणामी कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं हो सकते । इसलिए जो मिथ्यादृष्टि जीव नरकसे निकल-कर उत्पन्न होते हैं वे दुष्ट स्वभाववाले ही होते हैं । अथवा पुण्यकर्मके क्षय होनेसे जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तथा बुद्धिभ्रष्ट होनेसे जो धर्मकार्योंको लोपकर पापरूप कार्य करने लग जाते हैं ऐसे लोग भी मरकर परलोकमें दुष्ट स्वभाववाले ही होते हैं । अथवा जिन जीवोंने पहले तो मनुष्य आयुका बंध कर लिया है और उसके अनंतर कुमार्गमें वा अनेक प्रकारके पाप करनेमें प्रवृत्त हो गये हैं ऐसे जीव भी मरकर दुष्ट स्वभाववाले मनुष्य ही होते हैं । इसका भी कारण यह है कि आयुबंध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कभी छूटता नहीं है । जो मनुष्य-आयुका बंध हो जाता है फिर वह छूटता नहीं फिर वह मरकर मनुष्य ही होता है । परंतु मनुष्य-आयुका बंध कर लेनेके अनंतर जो कुमार्गगामी हो जाता है वह मनुष्य तो होता है परंतु दुष्ट-स्वभाववाला ही होता है तथा उस दुष्ट-स्वभावके कारण अनेक प्रकारके पाप किया करता है । इसी प्रकार जो पुरुष दुष्ट पुरुषोंकी संगतिमें रहता है वह भी इन दुष्टोंकी संगतिसे अनेक प्रकारके पाप किया करता है । और मरकर दुष्ट स्वभाववाला होता है । यही समझकर श्रावकोंको कुमार्गसे, दुष्टोंकी संगतिसे और सब प्रकारके पापोंसे सदाकाल बचते रहना चाहिए ।

आगे - भयभीत होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्मा-
ज्जीवो भवेत्कौ भयवान् सदा हि ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे भयभीत होता है ।

उत्तर - राज्ञस्तथा भूतपिशाचकानां ।
हृत्वा धनादिं च भयं प्रदर्श्य ।।
निष्कास्य गेहान्मनुजं च हत्वा ।
मृत्वा स जीवो हि भयान्वितः स्यात् ।। २१ ।।

अर्थ - जो मनुष्य किसी भी प्रकारका भय दिखलाकर किसी राजाका वा भूत पिशाचोंका धन हरण कर लेता है वा किसी मनुष्यको घरसे निकाल देता है वा घरसे निकालकर मार देता है ऐसा जीव मरकर सदाकाल भयभीत रहता है !

भावार्थ - जो पुरुष किसी प्रकारका भी पाप करता है वह पुरुष सदाकाल उस पापके भयसे भयभीत होता रहता है । फिर भला जो राजाको भी भय दिखलाकर उसका धन हरण कर लेता है उसे तो सदाकाल भयभीत बना रहना ही चाहिये । इसी प्रकार भूत पिशाचोंका धन हरण कर लेना भी भयका ही कारण है । यद्यपि भूत पिशाचोंका निजका कोई धन नहीं होता और न उन्हें कभी भी धनकी आवश्यकता पड़ती है वे तो व्यंतरदेव हैं, जो भूखकी इच्छा होने पर अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही कंठसे झरे अमृतको पीकर तृप्त हो जाते हैं। परंतु जो कोई कृपण मनुष्य अपने धनको धर्मकार्योंमें वा खाने पीनेमें खर्च नहीं करता है वह मनुष्य किसी भी पुण्यकार्यके निमित्तसे व्यंतरदेव होता है। तथा वह देव अपने पूर्वभवमें संचित किये गये धनकी रक्षा करता रहता है। वही धन उस व्यंतरदेवका कहलाता है। जो कोई मनुष्य उस धनको भी हरण कर लेता है वह मनुष्य भी इस लोकमें सदाकाल भयभीत रहता है और मरकर परलोकमें भयभीत ही बना रहता है। इसीप्रकार जो मनुष्य किसी भी अन्य मनुष्यको घरसे निकालकर मार देता है वह भी मरकर सदाकाल भयभीत ही रहता है। इस संसारमें अनेक ऐसे पक्षी हैं वा अनेक ऐसे पशु हैं जो सदाकाल भयभीत ही बने रहते हैं। हिरण, कबूतर आदि पशु पक्षी सदाकाल भयभीत ही बने रहते हैं। यही समझकर किसीको भय नहीं दिखलाना चाहिये वा किसीका धनादिक हरण नहीं करना चाहिये।

आगे - अशक्त होनेका कराण बतलाते हैं।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मा-
ज्जीवो भवेद्बाल्यभवे ह्यशक्तः ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदयसे बालकपनसे ही अशक्त होता है।

उत्तर - निर्दोषजन्तोर्वसनान्नपानं ।
रुंध्वा तथा हिंसनमेव कृत्वा ।
वध्वा ह्यतुष्यद् भुवि हीनजन्तून् ।
मृत्वा स दुष्टश्च भवेदशक्तः ॥ २२ ॥

अर्थ - जो पुरुष निर्दोष जीवोंके वस्त्रोंको वा उनके अन्न पानको हरण कर लेता है, अथवा जो निर्दोष जीवोंको मारकर संतुष्ट होता है अथवा जो छोटे छोटे जीवोंको बांधकर पकड़कर वा मारकर संतुष्ट होता है वह जीव मरकर मरलोकमें भी दुष्ट और अशक्त होता है।

भावार्थ - अशक्त और निर्दोष जीवोंका अन्नपान रोक देना महापाप है। यद्यपि असमर्थ जीव कुछ कर नहीं सकते तथापि वे असमर्थ होनेके कारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नितान्त दु:खी होते हैं । इसलिए असमर्थ जीवोंको सताना या दु:ख देना महापाप कहलाता है । इसीप्रकार ऐसे असमर्थ जीवोंको मारना या पकड़कर पिंजरोंमें रख लेना वा रस्सी सांकलसे बांधकर रखना भी महापाप है । स्वतंत्र उड़नेवाले जीवोंको जो बाहर आनंद आता है वह आनंद पिंजरोंमें बंद होकर आरामसे रहनेपर भी कभी नहीं आसकता । सोनेके पिंजरेमें भी बंद हुये पक्षी कारागारमें पड़े हुए मनुष्यके समान महादुखी होते हैं । इसीलिए असमर्थ जीवोंको पकड़ना बांधना वा मारना महापाप कहलाता है । तथा उस पापकर्मके उदयसे ऐसे जीव मरकर असमर्थ ही होते हैं । तथा पहले भवमें जिन जीवोंको पकड़ा था जिनको बांधा था वा जिनको मारा था वे ही जीव उस असमर्थ जीवको पकड़ते हैं, बांधते हैं वा मारते हैं । यही समझकर कभी भी असमर्थ जीवको नहीं सताना चाहिये न रस्सीसे बांधना चाहिये और न उन्हें पिंजड़ेमें बंद करना चाहिये ।

आगे - कृपण होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्मा-
न्मृत्वेति जीव: कृपणो भवेत्कौ ।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्मके उदयसे यह जीव मरकर कृपण होता है ।

उत्तर - विघ्नानि दाने करणान्निरोधाद् ।
धर्मे धनादिव्ययकर्तुरेव ।
धनार्जने ह्येव विशेषलोभा-
न्मृत्वा स मर्त्य: कृपणो भवेत्कौ ।। २३ ।।

अर्थ - जो कोई पुरुष दान देनेमें अनेक विघ्न करता है, वा धर्ममें धन खर्च करनेवालेको रोकता है, अथवा धनके उपार्जन करनेमें विशेष लोभ करता है वह मनुष्य मरकर इस पृथ्वीपर कृपण ही होता है ।

भावार्थ - अपने आत्माका उपकार वा कल्याण करनेके लिये तथा अन्य तपस्वी आदिका कल्याण करनेके लिये जो दान दिया जाता है उसको दान कहते हैं । ऐसा दान पात्रदान ही होता है । निर्ग्रंथगुरु उत्तमपात्र कहलाते हैं । उनको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आहारादिकका दान देना उत्तमदान कहलाता है। सम्यग्दृष्टि श्रावक मध्यमपात्र कहलाते हैं तथा अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र कहलाते हैं इनको दान देना भी मध्यम दान है। इसके सिवाय दु:खी जीवोंको भोजनादिकका देना करुणा दान है श्रावक लोग जो परस्पर लेते देते हैं। उसको समान दान कहते हैं। ये सब दान श्रेष्ठदान कहलाते हैं इनके सिवाय जिनालय, जिनप्रतिमा, तीर्थक्षेत्र, धार्मिक शिक्षा आदिके लिए देना भी श्रेष्ठदान है। जिन कार्योंसे सम्यग्दर्शनका घात होता हो ऐसे हाईस्कूल कॉलेज आदिमें देना कुदान कहलाता है। इसका भी कारण यह है कि वर्तमानमें इन कॉलेज वा हाईस्कूलोंमें जो शिक्षा दी जाती है वह शिक्षा धार्मिक श्रद्धानको नाश करती है, धार्मिक संस्कारोंको नाश करती है और भारत-वर्षकी सभ्यताको नाश करती है। अतएव ऐसा दान देना श्रेष्ठदान नहीं कहला सकता। जो पुरुष श्रेष्ठदानमें वा पात्रदान में विघ्न करता है वह भी मरकर परलोकमें कृपण होता है अथवा जो कोई धनी पुरुष जिनालय वा जिनप्रतिमा बनवानेके लिए धन खर्च करना चाहता हो और उसको जो कोई पुरुष रोक देता है वह भी मरकर कृपण ही होता है अथवा जो पुरुष धन उपार्जन करनेमें अत्यंत लोभ करता है वह भी मरकर कृपण ही होता है। यही समझकर श्रेष्ठदानमें कभी विघ्न नहीं करना चाहिए, धर्मकार्य को कभी रोकना नहीं चाहिए और मात्रासे अधिक लोभ कभी नहीं करना चाहिए। इसके सिवाय सदा श्रेष्ठदान देते रहना चाहिए, धर्मकार्योंको करते कराते रहना चाहिए और अहिंसाके साधनोंसे धनका उपार्जन करना चाहिए।

आगे - मूर्ख होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्माद्।
जीवोन्यलोके भवतीह मूर्खः ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे परलोकमें जाकर मूर्ख होता है।

उत्तर - शास्त्रस्य निंदा विदुषां कृता वा।
चित्तं सुविद्यापठने न दत्तम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

येनापमानः सुगुरोः कृतः कौ ।
मृत्वा स मूर्खो भवति ह्यभाग्यः ।। २४ ।।

अर्थ - जो पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंकी निंदा करता रहता है अथवा जैनशास्त्रोंके जानकर विद्वानोंकी निंदा किया करता है अथवा जो पुरुष जैनशास्त्रोंके पठन-पाठनमें अपना चित्त नहीं लगाता अथवा जो मूर्ख श्रेष्ठ निर्ग्रंथ गुरुओंका अपमान करता रहता है वह पुरुष मरकर भाग्यहीन मूर्ख होता है ।

भावार्थ - इस संसारमें मोक्षकी प्राप्ति आत्मज्ञानसे होती है तथा आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंसे होता है । अथवा उन शास्त्रोंके अनुसार आत्माके यथार्थ स्वरूपकी बतलानाले विद्वानोंके धर्मोपदेशसे भी आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है । अथवा चित्त लगाकर अध्यात्म शास्त्रोंके पठन पाठन करनेसे भी आत्माके स्वरूपका ज्ञान होता है । अथवा वीतराग निर्ग्रंथगुरु अपनी शांतमुद्रासे ही मोक्षमार्गका यथार्थस्वरूप बतलाते रहते हैं । इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार जिनशास्त्र, विद्वान अध्यात्मशास्त्रोंका पठन पाठन और वीतराग निर्ग्रंथगुरु ये सब मोक्षके कारण हैं । जो पुरुष इनकी निंदा करता है वा इनका अपमान करता है अथवा शास्त्रोंके पठन पाठनमें आलस्य करता है अथवा इनकी विनय नहीं करता वह पुरुष मरकर अवश्य ही भाग्यहीन मूर्ख होता है । यही समझकर शास्त्रोंकी निंदा कभी नहीं करनी चाहिये, विद्वानोंकी निंदा कभी नहीं करनी चाहिये, और गुरुओंकी निंदा कभी नहीं करनी चाहिये ।

आगे - पराधीन होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्मिन् कुकार्ये च कृते सदायं ।
जीवो भवेदेव पराश्रयः कौ ।

अर्थ - हे भगवन् अब कृपाकर यह बतलाइये कौन कौनसे कुकर्म करनेसे जीव सदाकाल पराधीन रहता है ।

उत्तर - धृत्वातिदीनानपराधमुक्तान् ।
स्वस्थान् बलाद्बंदिगृहे निपात्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रुध्वान्नपानं च ततो ह्यतुष्यत् ।
पराश्रयः स्यान्मनुजः स मृत्वा ।। २५ ।।

अर्थ - जो मनुष्य स्वस्थ होकर भी अत्यंत दीन हैं और अपराध रहित हैं ऐसे लोगोंको बलपूर्वक पकड़कर जो बंदीगृहमें डाल देते हैं और फिर उन बंदीगृहमें डाले हुये मनुष्योंका अन्नबंदकर संतुष्ट होते हैं ऐसे मनुष्य मरकर परलोकमें पराधीन होते हैं ।

भावार्थ - निरपराध जीवोंको पकड़कर बंदीगृहमें डालना उनकी स्वतंत्रताका हरण कर महादुख देना है । बहुतसे लोग अच्छे अच्छे पक्षियोंको पकड़कर बड़े बड़े जालियोंके बने हुये पिंजड़ेमें बंद कर देते हैं । अपने आमोद प्रमोदके लिये अनेक पशुपक्षियोंको पकड़कर बंदीगृहमें डाल देते हैं तथा कभी कभी समयपर उनका अन्न पान भी रुक जाता है, अथवा बहुत कम मिलता है जिससे वें पशु पक्षी बहुत दुखी होते हैं । इसीप्रकार कभी कभी राज कर्मचारी निरपराध मनुष्योंको बंदीगृहमें डाल देते हैं तथा उनको नियमानुसार भोजन भी नहीं देते । अथवा उस भोजन में निकृष्ट पदार्थ मिलाकर उसको अखाद्य और अरुचिकर बना देते हैं । और यह भोजन उन बंदीयोंको देते हैं इसप्रकार वे लोग थोडीसी सत्ता मिलजा-नेपर महापाप उत्पन्न करते हैं और उस पापके फलसे परलोकमें जाकर सदाकाल पराधीन रहते हैं । और जिसप्रकार उन्होंने सबको दुखी किया था उसीप्रकार महादुख पाते हैं ।

आगे - भोगोपभोगकी सामंग्री प्राप्त होनेपर भी भोगोपभोग क्यों नहीं कर सकते यही बतलाते हैं ।

प्रश्न - लब्धे सुयोग्ये सकले पदार्थे ।
न भुज्यते किं वद मे कृपाब्धे !

अर्थ - हे भगवन् ! कृपानिधान ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि समस्त सुयोग्य पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी यह जीव उसका भोगोपभोग क्यों नहीं कर सकता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - **कृतः कुविघ्नः शयनासनादौ ।**
यैर्द्वेषबुध्या वरभोजनादौ ।
क्षुधातुराणां हि कृतोऽपमानो ।
लब्धे पदार्थेऽपि न भुज्यते तैः ।। २६ ।।

अर्थ - जो पुरुष अपनी द्वेषबुद्धिसे किसीके शयन, आसन आदि उपभोगोंके पदार्थोंमें विघ्न करते हैं, अथवा किसीके भोजन आदि भोगोंके पदार्थोंमें विघ्न करते हैं अथवा जो पुरुष अत्यंत भूखे मनुष्योंको देखकर उनका अपमान करते हैं वे मनुष्य भोगोपभोगकी सामग्री प्राप्त होनेपर भी उसका उपभोग नहीं कर सकते ।

भावार्थ - किसीके भोगोपभोगोमें विघ्न करनेसे अंतराय कर्मका आस्त्रव होता है तथा वह अंतरायकर्म उदयमें आता है तब वह कर्मका उदय उसके भोगोपभोगमें भी विघ्न कर देता है । इसी प्रकार भूखे, वस्त्रहीन, नंगे आदि निर्धनोंका वा दुःखी जीवोंका अपमान करनेसे भी निर्धन वा दुःखी होना पड़ता है । ऐसे जीव मरकर धनियोंके कुलमें तो उत्पन्न होते हैं तथा उनके हाथी, घोड़े, रथ, पियादे उत्तम उत्तम भोजन, पान, शयन, आसन आदिकी समस्त सामग्रीयां भी विद्यमान रहती हैं सुंदर स्त्रियां भी रहती हैं परंतु वे लोग अपने कर्मके उदयसे उन पदार्थोंमेंसे किसी भी पदार्थका उपभोग नहीं कर सकते । वे या तो सदाकाल रोगी रहते हैं अथवा उनके लिए कोई ऐसा बलवान् प्रतिबंधक मिल जाता है जिससे वे किसीका भोग वा उपभोग नहीं कर सकते । यही समझकर किसीके किसी भी काममें कभी विघ्न नहीं करना चाहिये । हां ! यदि कोई किसी जीवकी हिंसा करता हो वा अन्य कोई चोरी, व्यभिचार आदि पापकार्य करता हो तो उसमें विघ्न करना या उसको रोक देना अंतरायका कारण नहीं हो सकता । क्योंकि पाप कार्योंमें विघ्न करनेमें मलिन परिणाम वा अशुभ परिणाम नहीं होते । शुभ परिणामोंसे ही पापकार्योंकी रुकावट होती है ।

आगे - कुरूप होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - **कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्माद् ।**
मृत्वा कुरूपो भवतीह जीवः ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे कुरूप होता है ।

उत्तर - कुरूपजीवस्य कृतापमाना-
दारोपणाद् दिव्यतनौ मलादेः ।
तद्रूपहान्यै च कृतप्रयासात् ।
मृत्वा कुरूपः स भवेदभाग्यः ।। २७ ।।

अर्थ - जो पुरुष किसी कुरूपी जीवका अपमान करता है अथवा किसीके सुंदर शरीरमें किसी प्रकार मल लगाकर उसे बिगाड़ना चाहता है अथवा किसीके सुंदर शरीरकी सुंदरता बिगाड़नेके लिए किसी भी प्रकारका कुत्सित प्रयत्न करता है, वह पुरुष मरकर भाग्यहीन कुरूपी होता है ।

भावार्थ - इस संसारमें ऐसे भी जीव हैं जो दूसरोंकी सुंदरताको नष्ट करनेके लिए भारी प्रयत्न करते हैं । यदि किसी सुंदर पुरुषका अंग वा उपांग बिगड़ जाता है तो बड़े प्रसन्न होते हैं और वह जब कुरूप ही जाता है तब उसका अपमान करते हैं । किसी दूसरेके सुंदर पुत्रके शरीरमें कालोंछ लगाकर वा विढंगे वस्त्र पहनाकर उसका रूप ढकना चाहते हैं वा बिगाड़ना चाहते है अथवा अपनी हानि उठाकर भी दूसरेके सुंदर शरीरके अंग उपांग बिगाड़कर उसे कुरूप बनाना चाहते हैं, ऐसे लोग मरकर अपने दुष्ट स्वभावके कारण कुबड़े, काने, लूले, लंगड़े, कंजे, काले, कुरूपी ही होते हैं । अत एव श्रावकोंको अपने दुष्टपरिणाम कभी नहीं करने चाहिए, अपने परिणाम सदा शुभ ही रखने चाहिये ।

आगे - जो पुरुष श्रेष्ठ पदार्थोंके होते हुए भी उनका उपभोग नहीं कर सकते उसका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - सद्वस्तुभार्यादिकविद्यमाने ।
किं भुज्यते नैव गुरो ! वदाद्य ।।

अर्थ - हे गुरो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि सुंदर भार्या आदि श्रेष्ठपदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी यह जीव उनका उपभोग क्यों नही कर सकता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - **दृष्ट्वा परेषां प्रियवस्तु भार्या ।**
चित्तेऽपि तोषा हृदि यस्य नास्ति ।।
तत्सेवनेच्छा खलु वेति तेन ।
न भुज्यते सत्यपि सत्पदार्थे ।। २८ ।।

अर्थ - जो पुरुष दूसरोंकी सुंदर स्त्रियोंको देखकर अथवा किसीके श्रेष्ठ पदार्थ देखकर अपने हृदयमें संतोष धारण नहीं करते अथवा उनके सेवन करनेकी इच्छा करते हैं वे पुरुष परलोकमें जाकर अपने घर उत्तमसे उत्तम पदार्थ रहनेपर भी अथवा सुंदरसे सुंदर स्त्री रहनेपर भी किसीका उपभोग नहीं कर सकते ।

भावार्थ - संसारमें जो जो पदार्थ प्राप्त होते हैं वे सब अपने अपने कर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं । पुण्यकर्मके उदयसे श्रेष्ठ पदार्थ प्राप्त होते हैं । और पापकर्मके उदयसे अनिष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं । ऐसी अवस्थामें किसीके श्रेष्ठ पदार्थोंको देखकर संतुष्ट न होना वा असंतोष धारण करना हृदयकी अज्ञानता है । इसी अज्ञानतासे महापाप उत्पन्न होते हैं तथा इसी अज्ञानताके कारण कितने ही लोग दूसरेके श्रेष्ठ पदार्थोंको वा दूसरोंकी सुंदर स्त्रियोंको सेवन करनेकी इच्छा करते हैं । परंतु अपने पापकर्मके उदयसे वे ऐसे पदार्थोंका उपभोग तो क्या कर सकते है किन्तु उन पापकर्म करनेकी इच्छासे ये ऐसे पापकर्मोंका बंध करते हैं जिससे वे परलोकमें जाकर रोगी या नपुंसक होते हैं और इसी कारणसे वे न तो अपनी ही सुंदर स्त्रियोंका उपभोग कर सकेत हैं और न अपने घरमें रहनेवाले अन्य पदार्थोंका उपभोग कर सकते हैं । अत एव दूसरेके पदार्थोंको देखकर कभी असंतोष धारण नहीं करना चाहिये ।

आगे - क्रोधी होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - **कर्मोदयान्यो वद देव ! कस्मा ।**
दत्यन्तक्रोधी भवतीह जीवः ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे अत्यंत क्रोधी होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - क्रोधी स्वयं कुप्यति वा ह्यतुष्यत्
क्रुध्यन्तमेवापि मिथो विलोक्य ।
पूर्वोक्तसंस्कार वशात् स कोपि ।
भवत्यवश्यं भवदु:खभोगी ।। २९ ।।

अर्थ - जो पुरुष अत्यंत क्रोधी होते हैं । अथवा जो दो चार मनुष्योंको परस्पर क्रोध करते हुये देखकर वा लड़ते हुये देखकर संतुष्ट होते हैं ऐसे पुरुष अपने पहलेके संस्कारके निमित्तसे अत्यंत क्रोधी होते हैं और फिर संस्कारके महादु:ख भोगा करते हैं ।

भावार्थ - क्रोधका होना समस्त पापोंका कारण है । क्रोधी मनुष्य अन्य अनेक जीवोंकी हिंसा करता है, यहांतक कि कभी कभी वह क्रोधके आवेशमें आकर अपनी आत्महत्या भी कर लेता है । इस संसारमें आत्महत्या महापाप मानी जाती है और इसीलिए यह नरकका कारण कही जाती है । इससे सिद्ध होता है कि क्रोध करना महापापका कारण है । जो लोग पहले भवमें अत्यंत क्रोध करते हैं वा दूसरोंको लड़ते झगड़ते देखकर दूसरोंको क्रोध करते देखकर, प्रसन्न होते हैं, अथवा जो तीतर बटेरोंको लड़ाकर वा अन्य पशुओंको लड़ाकर प्रसन्न होते हैं ऐसे मनुष्य उस पापके कारण अत्यंत क्रोधी मनुष्य होते हैं । अत एव भव्य जीवोंको क्रोध कभी नहीं करना चाहिए, क्रोधसे सदा बचते रहना चाहिये ।

आगे - निंदनीय होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - वापोदयान्मे वद देव ! कस्माद् ।
निंद्यो भवेच्चान्यभवे हि जीव : ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव परलोकमें जाकर किस पापकर्मके उदयसे अत्यंत निंदनीय होता है ।

उत्तर - तप:प्रदोषं च हठात्प्रसार्य ।
य: कीर्तये वापि धनं ससर्ज ।।
पाषण्डिसाधोरकरोत्प्रशंसां ।
निंद्यो भवेच्चान्यभवे स मृत्वा ।। ३० ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - जो पुरुष हठपूर्वक तपश्चरणमें दोष लगाता है, वा केवल अपनी कीर्तिके लिए अपना धन खर्च करता है। अथवा जो पाखंडी साधुओंकी प्रशंसा करता रहता है वह पुरुष मरकर अन्य भवमें जाकर अत्यंत निंदनीय होता है।

भावार्थ - यह नियम है कि जो पुरुष दूसरोंकी झूठी निंदा करता है वह स्वयं निंदनीय होता है। फिर भला जो पुरुष मोक्षके साक्षात् कारण ऐसे यथार्थ तपश्चरणमें दोष लगाता है वा उस तपश्चरणको धारण करनेवाले तपस्वियोंमें दोष लगाता है वह अवश्य ही अत्यंत निंदनीय होता है। श्रेष्ठ तपश्चरण वा श्रेष्ठ तपस्वियोंमें दोष लगाना मोक्षसे घृणा करना है। इसलिए ये दोनों ही कार्य अत्यंत तीव्र-मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होते हैं तथा इनसे भी फिर और अधिक तीव्र मिथ्यात्वकर्मका बंध होता है। उस तीव्र मिथ्यात्वकर्मके उदयसे वह जीव मरकर अत्यंत निंदनीय योनिमें उत्पन्न होता है अथवा स्वयं अत्यंत निंदनीय होता है। अथवा जो पुरुष अपने धनको धर्मकार्योंमें खर्च न कर केवल अपनी कीर्तिके लिए खर्च करता है, अथवा मिथ्यातपश्चरण करनेवाले पाखंडी साधुओंकी जो प्रशंसा करता है वह भी मरकर निंदनीय होता है। इसका भी कारण यह है कि धनकी प्राप्ति धर्मसे होती है। धर्मसे प्राप्त हुए धनको धर्ममें ही खर्च करना चाहिए। जो पुरुष अपने धनको धर्ममें खर्च करते हैं उनको विशेष पुण्यकर्मकी प्राप्ति भी होती है और कीर्ति भी होती है। परंतु जो पुरुष केवल कीर्तिके लिए अपना धन खर्च करते हैं उस धनको धर्मकार्यमें नहीं लगाते ऐसे पुरुषोंका धन भी नष्ट हो जाता है, कीर्तिके बदले उनकी अपकीर्ति होती है और ऐसे पुरुष मरकर अत्यंत निंदनीय होते हैं। इसी प्रकार पाखंडी साधु मिथ्यादृष्टी होते हैं, मिथ्यात्वके उदयसे ही वे मोक्षमार्गके विपरीत तपश्चरण करते हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि तपस्वियोंकी प्रशंसा मिथ्यादृष्टि ही करते हैं और उसी मिथ्यात्वके कारण वे निंदनीय होते हैं। यही समझकर श्रेष्ठ तपश्चरणमें कभी दोष नहीं लगाना चाहिए, मिथ्या तपस्वियोंकी प्रशंसा कभी नहीं करनी चाहिए। और अपना धन केवल धर्मकार्योंमें ही लगाना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - आदर सत्कार प्राप्त न होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - सुयाचमाने लभते न मानं ।
किं कारणं तत्र वद प्रभो ! मे ।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि बहुतसे लोग अपने आदर सत्कार की याचना तक करते रहते हैं तथापि उनको आदर सत्कार प्राप्त नहीं होता इसका क्या कारण है ।

उत्तर - विद्याभिमानान्न नुतिः स्तुतिर्यैः ।
कृता न साधोर्विनयोपचारः ।
धर्माद्विरुद्धापि कृता प्रवृत्तिः ।
सुयाचमाने लभते न मानम् ।। ३१ ।।

अर्थ - जो पुरुष अपनी विद्याके अभिमानसे न निर्ग्रंथ वीतराग साधुको नमस्कार करते है, न उनकी स्तुति करते हैं न उनका विनय करते हैं और न उनकी सेवा करते है, तथा जो पुरुष सदाकाल धर्मके सत्कारको प्राप्त नहीं होते ।

भावार्थ - मोक्षमार्गमें विद्याका कुछ मूल्य नहीं है । मोक्ष मार्गमें तो सम्यक्चारित्रका मूल्य है । पहले स्वर्गका इन्द्र अंग पूर्वका पाठी होता है तथापि वह हालके दीक्षित हुये मुनिको नमस्कार करता है । इससे सिद्ध होता है इस संसारमें सम्पक् चारित्र ही पूज्य है । ऐसे सम्पक् चारित्रको धारण करनेवाले साधुओंको जो पुरुष अपनी विद्याके अभिमानसे वा धनादिकके अभिमानसे नमस्कार नहीं करता है वा उनकी स्तुति नही करता है अथवा उनका विनय नही करता है वा उनकी सेवा नही करता ऐसा पुरुष मरकर दूसरे जन्ममें जाकर इतना निम्न श्रेणीका होता है कि आदर सत्कारकी अत्यंत लालसा करनेपर भी वा आदर सत्कारकी याचना करनेपर भी कोई भी पुरुष उसका आदर सत्कार नहीं करता । सी प्रकार जो पुरुष धर्मके विरुद्ध प्रवृत्ति करता है, देव-शास्त्र-गुरुका विनय नहीं करता वा व्यर्थका अभिमान करता रहता है, वह पुरुष भी मर कर नीच मनुष्य होता है, और फिर कोई भी जीव उसका आदर सत्कार नहीं करता । इसलिये भव्यपुरुषोंको कभी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिमान नहीं करना चाहिये तथा देव शास्त्र गुरुका कभी अविनय नहीं करना चाहिये ।

आगे - शस्त्रादिकसे मरनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
शस्त्रास्त्रयोगाद् म्रियते हि जीवः ।।

अर्थ - हे भगवान ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्मके उदयसे यह जीव शस्त्र अस्त्रसे मारा जाता है ।

उत्तर - वधस्य शंसाप्यनुमोदनादिः ।
कृतोपदिष्टश्च वधाद्युपायः ।।
दृष्टं चरित्रं चरितं च येन ।
स चान्यशस्त्रैर्म्रियते मनुष्यः ।। ३२ ।।

अर्थ - जो मनुष्य जीवोंकी हिंसाकी प्रशंसा करते हैं, वा उसकी अनुमोदना करते हैं, अथवा जो हिंसाके अनेक उपाय बतलाते हैं, वा जो अनेक प्रकारके दुष्ट चरित्र करते रहते हैं ऐसे जीव प्रायः दूसरोंके अस्त्र शस्त्रोंसे मारे जाते हैं ।

भावार्थ - जीवोंकी हिंसा करना महापाप है और साक्षात् नरकका कारण है । जिस प्रकार जीवोंकी हिंसा करना महापाप है उसी प्रकार जीवोंकी हिंसा की प्रशंसा करना वा हिंसाकी अनुमोदना करना अथवा उस हिंसाके उपाय बतलाना आदि सब महापाप माने जाते हैं । जो पुरुष इन महापापोंको करता है वह अवश्य ही अस्त्र शस्त्रोंसे मारा जाता है इसका भी कारण यह है कि अस्त्र शस्त्रसे मारा जाना भी महापापकर्मके उदयसे होता है और उस महापापका बंध हिंसा करनेसे ही होता है । अथवा ऐसा महापाप दुष्टचारित्रको धारण करनेसे भी होता है । सातों व्यसनोंका सेवन करना दुष्टचारित्र है, देव शास्त्र गुरुमें मिथ्यादोष लगाना, वा उनकी आज्ञाके विपरीत चलना महापाप है । शास्त्रोंके विपरीत अर्थ लगाकर विषयोंको पुष्ट करना भी महापाप है । इन सब पापोंके उदयसे यह जीव अस्त्र शस्त्रोंसे मारा जाता है । यही समझ कर भव्यजीवोंको हिंसादिक दुष्कर्म कभी नहीं करने चाहिए ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - चोर होनेका कारण बतलाते हैं -

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मा -
ज्जीवः परत्रापि भवेद्धि चौरः ।।

अर्थ - दे भगवन! अब कृपाकर यह बतलाईये कि किस पापकर्मके उदयसे यह जीव परलोकमें भी जाकर चोर होता है ।

उत्तर - चौरस्य शंसाप्यनुमोदनादिः ।
चौरप्रयोगोऽपि कृतश्च येन ।।
इच्छा परेषां बहुरत्नराज्ये ।
मृत्वा स चौरो भवति ह्यभाग्यः ।। ३३ ।।

अर्थ - जो पुरुष चोरोंकी प्रशंसा करता है वा उनकी वा उनके द्वारा की हुई चोरीकी अनुमोदना करता है अथवा चोरीका प्रयोग बतलाता है वा दुसरोंके अनेक रत्नोंकी वा किसी राज्य की इच्छा करता है वह मनुष्य मरकर अवश्य ही भाग्यहीन चोर होता है ।

भावार्थ - ओ पुरुष अधिक लोभी होता है, सदाकाल दूसरेके धन, धान्य, रत्न, राज्य, आदि को हड़पनेकी इच्छा करता रहता है, अथवा उनको चुराकर अपना करना चाहता है, अथवा उनको चुराकर लानेका उपाय बतलाता है वा प्रसिद्ध चोरोंकी प्रशंसा करता है, वा उनकी अनुमोदना करता है, अथवा चोरीके पदार्थोंको अपने घरमें रखता है अथवा और भी चोरीसे प्रेम रखनेवाले कार्योंको करता है । वह मनुष्य मरकर अगले भवमें भी चोर ही होता है । यहां पर इतना और समझलेना चाहिये कि चोरी जैसे कार्य अभ्याससाध्य होते हैं और इन कामोंमें पूर्व जन्मका संस्कार भी काम देता है । अभ्यास साध्य जितने कार्य हैं उनमें पूर्व संस्कार अवश्य काम देता है, ऐसे कार्य पूर्वसंस्कारसे बहुत शीघ्र आजाते हैं । इसलिये भव्य जीवोंको बुरे कामोंका अभ्यास कभी नहीं करना चाहिये और न उसकी कभी अनुमोदना करनी चाहिये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - क्रियाहीन होनेका कारण बतलाते हैं -

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
क्रियाविहीनो हि भवेन्मनुष्यः ॥

अर्थ - हे भगवान ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापकर्मके उदयसे यह मनुष्य क्रियाहीन होता है ।

उत्तर - येन क्रियाहीननरप्रशंसा ।
कृता क्रियायुक्तनरप्रणिंदा ॥
विचारशून्या विषमा प्रवृत्तिः ।
क्रियाविहीनः स भवेदधर्मी ॥ ३४ ॥

अर्थ - जो मनुष्य इस जन्ममें क्रियाहीन मनुष्योंकी प्रशंसा करता रहता है, क्रियाओंको पालन करनेवाले मनुष्योंकी निंदा किया करता है और जो स्वयं विचाररहित शास्त्र प्रतिकूल प्रवृत्ति करता रहता है वह अधर्मी मनुष्य परलोकमें जाकर अवश्य ही क्रियाहीन होता है ।

भावार्थ - यहांपर क्रिया शब्दका अर्थ क्रियाकांड है । भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजन करना, साधुओंकी सेवा सुश्रूषा करना, सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय करना, यथासाध्य व्रत उपवास करना, दोनों समय भगवान् जिनेंद्रदेवके दर्शन करना, सूतक, पातक मानना, तिलक लगाना, शास्त्रोक्त क्रियाओंका करना, क्रियाकांड कहलाता है । इन क्रियाओंके करनेसे धर्मकी वृद्धि होती है, आत्माकी पवित्रता होती है और सम्यग्दर्शनकी स्थिरता होती है । जो पुरुष इन क्रियाओंकी नहीं मानता उसे तीव्र मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये । ऐसा मिथ्यादृष्टि पुरुष अपने तीव्रमिथ्यात्वके उदयसे इन क्रियाओंकी निंदा करते हैं, इनको ढोंग बतलाते हैं और इन क्रियाओंके पालन करनेवालोंकी निंदा करते हैं । इसी प्रकार जो पुरुष उनके ही समान नास्तिकवादी मिथ्यादृष्टि हैं जो क्रियाकांडको सर्वथा नहीं मानते उनकी प्रशंसा करते हैं । ऐसे ही मथ्यादृष्टी पुरुष विधवाविवाह, विजातीविवाह, स्पृश्यास्पृश्य लोप आदि शास्त्र विरुद्ध क्रियाएं करते रहते हैं । अथवा दान पूजन आदि धार्मिक क्रियाओंका निषेध करते रहते हैं । ऐसे पुरुष मरकर अवश्य महाअ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मी और क्रियासंस्कारोंसे रहित म्लेच्छ होते हैं । अथवा नरक वा तिर्यंच योनि में उत्पन्न होते हैं जहां किसी प्रकारकी क्रियासंस्कार नहीं करने पड़ते । यही समझकर भव्य जीवोंको इन क्रियाकांडोका पालन अवश्य करते रहना चाहिये ।

आगे - पुत्रके वियोगका दुःख किस कारणसे होता है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न - कस्मिन् कुकृत्ये च कृते भवेत्कौ ।
मातुः पितुः पुत्रवियोगदुःखम् ।

अर्थ - हे भगवान्! अब कृपाकर यह बतलाईये कि ऐसे कौनसे कुकर्म हैं जिनके करनेसे माता पिताको पुत्रके वियोग होनेका दुःख प्राप्त होता है ।

उत्तर - मातुः पितुः स्नेहकरीं प्रवृत्तिं।
दृष्ट्वेत्यकुप्यद्धि सधर्मिणां वा ।
द्रोहं व्यथादं प्रविलोक्य तुष्ये-
दित्यादि पापाद्विषमो वियोगः ॥ ३५ ॥

अर्थ - जो पुरुष माता पिता को स्नेह करनेवाली प्रवृत्ति को देखकर क्रोधित होता है अथवा धर्मात्मा भाइयोंके परस्पर अनुरागको देखकर क्रोधित होता है और जो अत्यंत दुःख देनेवाले परस्पर के ईर्ष्या द्वेष को देखकर संतुष्ट होता है ऐसा पुरुष ऊपर लिखे पापों के फलसे पुत्र पौत्रादिकके वियोग के दुःखको प्राप्त होता है ।

भावार्थ - यह मोह के कारण अनादिकाल से लगा हुआ है । इसी मोहके कारण माता, पिता, भाई, बंधु, पुत्र, पौत्र आदि कुटुंबी लोगों में परस्पर प्रेम हुआ करता है । उस प्रेमके कारण ही किसी का भी वियोग होनेपर यह जीव दुःखी होता है । इन सबमें भी पुत्रका वियोग होनेपर यह जीव दुःखी होता है । इन सबमें भी पुत्रका वियोग विशेष रीतिसे दुःख देने वाला होता है । परंतु धर्मात्मा पुरुषोंमें जो परस्पर प्रेम होता है वह मोहसे नहीं होता है । किंतु धर्मके अनुरागसे होता है । ऐसे धर्मानुराग को देखकर क्रोध करना वा उनमें द्वेष फैलानेका प्रयत्न करना महा पापका कारण है । ऐसे पापोंसे ही पुत्र पौत्रोंका वियोग देखना पडता है । इस प्रकार जो पुरुष महादुःख देने वाले परस्परके विरोधको देखकर जो संतुष्ट होता है वह भी परलोक में जाकर ऐसे ही विषम वियोगोंको सहन करता रहता है । अतएव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माता पिताके प्रेममें वा धर्मात्माओंके अनुरागमें कभी विघ्न नहीं डालना चाहिए।

आगे - भाई भाईयोंके विरोधका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - नान्यत्प्रियं बंधुसमं हि वस्तु।
कथं पुनश्चास्ति मिथो विरोधः ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें भाईके समान अन्य कोई प्रिय पदार्थ नहीं है, ऐसा होने पर भी फिर भाई भाइयोंमें परस्पर विरोध क्यों होता है ?

उत्तर - मिथः स्वबंधोः पशुपक्षिकाणां।
यः कारयित्वा कलहं विषादम् ।।
कृत्वेत्यतुष्यत् स्वजनापमानं।
तस्यान्यजीवस्य भवेद्विरोधः ।। ३६ ।।

अर्थ - जो पुरुष भाई भाइयोंमें वा पशु पक्षियोंमें परस्पर कलह वा विषाद उत्पन्न कर प्रसन्न होता है अथवा जो अपने भाई बंधुओंका अपमान करते हैं वे जीव परलोकमें भी जाकर अपने भाई बंधुओंसे विरोध करते रहते हैं।

भावार्थ - वैर विरोधका संस्कार जन्म जन्मांतर तक जाता है। इसका भी कारण है कि क्रोध करनेसे वा परस्पर वैर विरोध रखनेसे चारित्रमोहनीयकर्मका बंध होता है। तथा चारित्रमोहनीय कर्मकी उत्कृष्टस्थिति चालीस कोडा कोडी सागर है। अर्थात् आबाधाकालको छोड़कर इतने दिन तक वह कर्म अपना फल देता रहता है। इतने दिन तक यह जीव जितने जन्म धारण करता है उन समस्त जन्मोंमें उस एकबार बंध किये कर्मका फल इस जीवको प्राप्त होता रहता है; देखो, कमठने अपने भाईसे किया था वह विरोध कमठके जीवकी ओरसे ही कितने ही भवतक चलता रहा। तथा अंतमें भगवान पार्श्वनाथके मोक्ष होनेपर छूटा। यही समझकर भव्यजीवोंको परस्पर कभी वैर विरोध नहीं करना चाहिये।

आगे - माता पुत्रको विरोध क्यों होता है सो दिखलाते है।

प्रश्न - कर्मोदयात्स्याद् वद देव ! कस्माद्।
मातुः सुपुत्रस्य मिथो विरोधः ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि श्रेष्ठ पुत्र और माताका परस्पर विरोध क्यों होता है ।

उत्तर - मातुः सुपुत्रस्य मिथो विरोधं ।
यः कारयित्वा विषमापमानात् ।।
मातुश्च तुष्येद् विदुषोऽपि सूनो-
र्मात्रा समं तस्य मिथो विरोधः ।। ३७ ।।

अर्थ - जो पुरुष माता और सुपुत्रका विरोध करा देता है, अथवा जो माताके घोर अपमानसे संतुष्ट होता है अथवा विद्वान् पुत्रके घोर अपमानसे संतुष्ट होता है ऐसा पुरुष परलोकमें जाकर माता के साथ विरोध करता रहता है ।

भावार्थ - जो पुरुष जैसा कार्य करता है उसको वैसा ही फल मिला करता है । इस संसारमें माता पिता दोनों ही पूज्य माने जाते हैं । दोनों ही गुरु हैं । पुत्रको सदाकाल उनका आदर सत्कार करते रहना चाहिये उनकी सेवा सुश्रूषा, करनी चाहिये । परंतु जो पुरुष अपने माता पिताओंसे लड़ते झगड़ते रहते हैं वा उनको दु:ख देते हैं वा उनके अपमानसे, उनके दु:खसे प्रसन्न होते हैं अथवा जो अपने विद्वान् पुत्रपर भी प्रेम नहीं करते उसके साथ भी वैर विरोध करते हैं ऐसे जीव परलोक में भी जाकर लड़ने झगड़ने वाले होते हैं तथा उनके साथ सब कोई वैर विरोध वा लड़ाई झगड़ा करता रहता है । यहांतक कि यदि ऐसा जीव मरकर किसी की माता होती है तो वह अपने श्रेष्ठ सुपुत्रसे भी लड़ती रहती है । यही समझकर किसी के साथ वैर विरोध नहीं करना चाहिये ।

आगे - यदि किसी स्त्रीके गर्भमें भाग्यहीन पुत्र आता है तो वह कैसे जाना जा सकता है । यही बतलाते हैं ।

प्रश्न - सुभाग्यहीनो ह्युदरेऽस्ति पुत्रः ।
कथं प्रभो ! ज्ञायत एव नार्या :।।

अर्थ - हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यदि किसी स्त्रीके गर्भमें कोई भाग्यहीन पुत्र आया हो तो वह कैसे मालूम हो सकता है ।

उत्तर - मातुश्च यस्या गमनात्सुगर्भे ।
ह्यापन्मिथः स्यात्कुमतिः पितुश्च ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभक्ष्य भक्षे च भवोद्धि भावो ।
हीत्यादि चिन्हैस्तनयो ह्यभाग्य: ।। ३८ ।।

अर्थ - जब कोई पुत्र किसी माताके गर्भमें आवे और उसके आते ही मातापर अनेक आपत्तियां आजायं अथवा पिताकी बुद्धि विपरीत हो जाय वा माता पिता दोनोंकी बुद्धि अभक्ष्य भक्षणमें लग जाय अथवा उन दोनोंकी बुद्धि ऐसे ही निकृष्ट कार्योंमें लग जाय तो इन चिह्नोंसे समझ लेना चाहिए कि उसके गर्भमें भाग्यहीन-पुत्र है ।

भावार्थ - गर्भमें जैसा पुत्र आता है माता पिताके भाव भी वैसे ही हो जाते हैं । तथा विशेषकर माताके भाव तो वैसे हो ही जाते हैं । यदि गर्भमें धर्मात्मा पुत्र होता है तो तीर्थयात्रा, जिन-पूजन, मुनिदर्शन, पात्रदान आदिके भाव होते हैं । यदि गर्भमें वीरपुत्र हो जाता है तो शत्रुओंको विजय करनेके भाव होते हैं । यदि गर्भमें दरिद्रपुत्र आता है तो उसकी माताके परिणाम दरिद्र रूप हो जाते हैं, अभक्ष्य पदर्थोंको भक्षण करनेके परिणाम हो जाते हैं अथवा फटे पुराने वस्त्र पहननेके परिणाम हो जाते हैं । गर्भके समयमें माताके जैसे परिणाम होते हैं उनसे ही गर्भमें आये हुए पुत्रका भाग्य जाना जा सकता है ।

आगे - पिता पुत्रके विरोधका कारण बतलाता हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
पितु: सुपुत्रस्य मिथश्च वैरम् ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि पिता पुत्रका विरोध किस पापकर्मके उदयसे होता है !

उत्तर - य: कारयित्वा विषमं विवादं ।
पित्रा समं पुत्रकलिं च दृष्ट्वा ।।
तुष्येन्न कुर्याद्विनयं गुरोश्च ।
पापादमुष्माज्च मिथो विरोधी ।। ३९ ।।

अर्थ - जो पुरुष एक दूसरे के साथ भारी विवाद कराता रहता है, जो पिताके साथ होनेवाली पुत्रकी कलहको देखकर अत्यंत प्रसन्न होता है वा जो गुरुजनोंकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विनय नहीं करता वह पुरुष इन पापकर्मोंके उदयसे परस्पर विरोध करने वाला उत्पन्न होता है।

भावार्थ - जो पुरुष इस भवमें माता पिताके साथ वा विशेष कर गुरुके साथ विरोध करता है, उनका विनय नहीं करता, वा उसके साथ वाद विवाद करता है, वा किसी पिता पुत्रके लड़ाई झघडेको देखकर प्रसन्न होता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे काम करता है वह पुरुष परलोकमें भी अपने पिताके साथ वा गुरुजनों के साथ अथवा पुत्र वा शिष्यके साथ सदा काल विरोध करता रहता है। अथवा सबसे लड़ता झगड़ता रहता है। यही समझकर किसीके साथ भी लड़ाई झगड़ा नहीं करना चाहिये।

आगे - लंगड़ा होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव कस्मात्।
पादेन खंजो भवतीह जीवः ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि वह जीव किस पापकर्मके उदयसे लंगडा होता है।

उत्तर - छिन्नो परेषां चरणौ च हस्तौ।
येनास्त्रशस्त्रैः करणेऽपि नेत्रे ॥
मानादपांगं च तिरस्करोति।
पादेन खंजो भवतीह जीवः ॥ ४० ॥

अर्थ - जो पुरुष अपने अस्त्र शस्त्रोंसे दूसरोंके हाथ पैरोंको काट डालता है, अथवा कान नाक काट लेता है वा नेत्र फोड़ देता है अंथवा जो अपने अभिमानसे लूले लंगड़े आदि अपांग पुरुषोंको तिरस्कार करता है वह पुरुष मरकर लूला लंगड़ा वा अपांग होता है।

भावार्थ - जिस पुरुषके हाथ पैर कट जाते हैं वह पुरुष बहुत दुःखी हो जाता है। वह पुरुष आने जानेसे भी लाचार हो जाता है खाने पीनेसे भी लाचार हो जाता है, द्रव्यं कमानेसे भी लाचार हो जाता है तथा प्रायः सब कामोंसे लाचार हो जाता है। ऐसे पुरुषको प्रत्येक कार्यके करनेमें महादुःख होता है। जो पुरुष ऐसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुखी पुरुषोंका तिरस्कार करता है अथवा अन्य पुरुषोंके हाथ पैर काटकर इस प्रकार दु:खी बना देता है, वह पुरुष भी मरकर परलोकमें लूला लंगडा होकर दु:खी होता है । यही समझकर कभी किसी जीवको किसी प्रकारका दु:ख नहीं देना चाहिए, सबको अपने सुखी बनानेका प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

आगे - नरक जानेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
स्याच्छ्वभ्रगामी मनुजश्च मृत्वा ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे मरकर नरकगामी बन जाता है अर्थात् किस किस पापके करनेसे नरक जाता है ।

उत्तर - अत्यंतकोपादसुहिंसनाद्वा ।
देवस्य धर्मस्य गुरोर्विरोधात् ।।
बंधोः समं वैरविरोधयोगात् ।
स्यात्पापमूर्तिर्नरकस्य गामी ।। ४१ ।।

अर्थ - जो पुरुष अत्यंत क्रोध करता है वा प्राणोंका घात करता रहता है अथवा जो पुरुष देव धर्म गुरुका विरोध करता रहता है वा अपने भाइयोंके साथ वैर विरोध करता रहता है वह पापमूर्ति मनुष्य अवश्य ही नरकगामी होता है ।

भावार्थ - क्रोध करना महा पापका कारण है, क्रोध करने से इस लोकमें भी अनेक अनर्थ होते हैं । क्रोधके करने से ही यह जीव अनेक प्राणियोंके प्राणोंका घात कर देता है, क्रोधके करनेसे ही माता, पिता, पुत्र, स्त्री आदिका घात कर देता है और क्रोधके करनेसे ही अपने भाईका वा किसी अन्य धर्मात्मा भाई का घात कर देता है । तथा ऐसा घातक मनुष्य मरकर अवश्य ही नरक जाता है । इसी प्रकार देव, धर्म वा गुरुका विरोध करना सबसे बड़ा पाप है । देव धर्म गुरु तीनों ही समस्त जीवोंका कल्याण करने वाले हैं, समस्त जीवोंको मोक्ष का मार्ग बतलाने वाले हैं तथा स्वयं परम वीतराग हैं और वीतरागताका ही उपदेश देते हैं । ऐसे परम कल्याणमय देव धर्म गुरुके साथ विरोध करना, वा उनका अपमान करना वा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनकी आज्ञाको न मानना महापाप माना जाता है। ऐसे पापोंका फल नरक ही है। इसीप्रकार अपने भाइयोंके साथ विरोध करना वा धर्मात्मा भाइयोंके साथ विरोध करना भी पापका कारण है। धर्मको न माननेवाला पुरुष ही धर्मात्माका विरोध कर सकता है और इसीलिये ऐसा पुरुष अवश्य नरक जाता है यही समझकर देव धर्म गुरुका वा धर्मात्मा पुरुषोंका विरोध कभी नहीं करना चाहिये न कभी किसी प्राणीका घात करना चाहिये और न कभी क्रोध करना चाहिये।

आगे - छोटा वामन (बौना) शरीर प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मा-
ज्जीवो भवेद् वामनदेहधारी ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे वामनरूप छोटे शरीरको धारण करता है।

उत्तर - गर्वेण यो वामनदेहनिंदां
तस्यापमानं ननु तद्विघातम् ।
दु:खं प्रदातुं च करोति कांक्षां ।
स स्यान्नरो वामनदेहधारी ॥ ४२ ॥

अर्थ - जो पुरुष अपने शरीरके अभिमानसे छोटे वामन शरीरको धारण करनेवालोंकी निंदा करता है, उनका अपमान करता है, वा उनका घात करता है अथवा उनको दु:ख देनेकी इच्छा करता है ऐसा पुरुष मरकर ऐसे ही छोटे वामनशरीरको धारण करता है।

भावार्थ - शरीरके छह संस्थान हैं। उनमें वामन भी एक संस्थान है। वह निकृष्ट संस्थान है। क्योंकि वामनशीरीरको धारण करनेवाला मनुष्य कभी भी विशेष वा उत्तम कार्य नहीं कर सकता। इसीलिए वह निंद्य शरीर कहलाता है। जो मनुष्य इस पर्यायमें वामन वा छोटे शरीर धारण करनेवालोंकी निंदा करते हैं वा उनकी हंसी उड़ाते हैं, वा उनका अपमान करते हैं अथवा उनको मारते हैं, कूटते हैं, वा घात करते हैं वा अन्य अनेक प्रकारके दु:ख देनेकी इच्छा करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर वामन ही होते हैं तथा वे भी अनेक अन्य जीवोंके द्वारा मारे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाते हैं, कूटे जाते हैं, अपमानित किये जाते हैं निंदनीय कहे जाते हैं और अनेक प्रकारसे दु:खी किये जाते हैं। यही समझकर कभी किसीकी निंदा वा अपमान नहीं करना चाहिए और न कभी किसीको दु:ख देना चाहिए।

आगे - पशुयोनि प्राप्त करनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्माद्
योन्यां पशोर्जायत एव जीवः ।।

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदयसे पशुयोनिमें उत्पन्न होता है।

उत्तर - स्वाचारहीनस्य करोति शंसां
वर्ज्याशनं वा गुरुदेवनिन्दाम् ।
भाराधिकं जीव जलान्नरोधं
योन्यां पशोर्जायत एव कौ सः ।। ४३ ।।

अर्थ - जो पुरुष श्रेष्ठआचरणोंसे रहित मनुष्योंकी प्रशंसा करता है, अभक्ष्य भक्षण करता है, वा देव धर्म गुरु की निंदा करता है, या पशुओंपर अधिक बोझा लादता है अथवा जीवोंके अन्न पानको रोक देता है ऐसा मनुष्य मरकर इसी पृथ्वीपर पशुयोनिमें उत्पन्न होता है।

भावार्थ - जो पुरुष श्रेष्ठ चरणोंके स्वरूपको नहीं जानता वा श्रेष्ठ आचरणोंको धारण नहीं करता ऐसा मिथ्या दृष्टि पुरुष ही आचरणहीन मनुष्योंकी प्रशंसा किया करता है। तथा ऐसा भी मिथ्यादृष्टी मनुष्य कभी न भक्षण करने योग्य कंद मूल आदि अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करता है। वा पशुओं पर उनकी शक्तिसे अधिक बोझा लादता है वा उनकी शक्तिसे अधिक उनको चलाता है, अथवा समयानुसार उनको भोजन पान नहीं देता, वा बहुत कम देता है, अथवा गर्मी, सर्दीसे उनकी रक्षा नहीं करता, और जो देव धर्म गुरुको वा शास्त्रों की निंदा किया करता है। अथवा अपने तीव्रमिथ्यात्व कर्मके उदयसे उनकी आज्ञाओंका उल्लंघन किया करता है ऐसा मनुष्य मरकर पशुओंकी योनिमेंही उत्पन्न होता है !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - कुभोगभूमिमें उत्पन्न होनेके कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
कुभोगभूम्यां च भवेत्कुजन्म ।।

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये यह जीव किस पापकर्म के उदयसे कुभोगभूमिमें कुजन्म धारण करता है ।

उत्तर - मिथ्यात्वभाजे मुनयेऽन्नदानं ।
येन प्रदत्तं च जलौषधादि ।।
सद्दृष्टिसाधोश्च कृतोऽपमान ।
उत्पद्यते ना स कुभोगभूम्याम् ।। ४४ ।।

अर्थ - जो पुरुष मिथ्यादृष्टी साधुओंको अन्न जल वा औषधि आदिका दान देता है और जो सम्यग्दृष्टी श्रेष्ठ साधुओंका अपमान करता है ऐसा पुरुष मरकर कुभोगभूमिमें उत्पन्न होता है ।

भावार्थ - बीज बोनेके लिये जैसी भूमि होती है वैसा ही उसका फल प्राप्त होता है । अच्छीभूमिमें बीज बोनेसे अच्छा फल मिलता है, बुरी भूमिमें बीज बोनेसे बुरा फल मिलता है और ऊसरमें बोनेसे कुछ फल नहीं मिलता । इसी-प्रकार जो पुरुष सम्यग्दृष्टी वीतराग निर्ग्रंथ साधुओंको आहार दान देते हैं वा शास्त्र औषधि आदिका दान देते हैं उनको उस दानके फलसे उत्तमभोगभूमि प्राप्त होती है । सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावकोंको दान देनेसे मध्यमभोगभूमि प्राप्त होती । सम्यग्दृष्टि अव्रती श्रावकोंका दान देनेसे जधन्य भोगभूमि प्राप्त होती है । इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि वीतराग निर्ग्रंथ साधु उत्तमपात्र कहलाते है । सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक मध्यमपात्र कहलाते हैं और सम्यग्दृष्टि अव्रती श्रावक जधन्यपात्र कहलाते हैं । इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि व्रती साधु कुपात्र कहलाते हैं । उनको दान देनेंसे कुभोगभूमि प्राप्त होती है । मिथ्यादृष्टि अव्रती साधु अपात्र कहलाते हैं उनको दान देनेसे कोई किसी प्रकारका फल नही मिलता है । अव्रती मिथ्यादृष्टिको दान देना व्यर्थ है । इस प्रकार जो पुरुष सम्यग्दृष्टि निर्ग्रंथ वीतराग गुरुओंकी निंदा करता है वह भी मिथ्यादृष्टी ही कहलाता है । और ऐसा मिथ्यादृष्टी ही वीतराग निर्ग्रंथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधुओंकी निंदा कर सकता है, तथा इसीलिये वह कुभोगभूमिमें उत्पन्न होता है। कुभोगभूमिमें मनुष्य ही होते है परंतु वे तिर्यंचोंके समान ही होते हैं। यही समझकर सम्यग्दृष्टि वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंको ही दान देना चाहिये अथवा सम्यग्दृष्टि श्रावकोंको देना चाहिए। इनके सिवाय अन्य किसीको देना हो तो करुणापूर्वक भूके प्यासेको भोजन दे देना चाहिए जो वह अन्यत्र ले जाकर खाले। ऐसे दानको करुणादान कहते हैं।

आगे - कुग्रामवासी होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मात्।
कुग्रामवासी भवतीह जीवः ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे कुग्राममें रहनेवाला होता है।

उत्तर - आरोप्य दोषं हि हठादसत्यं।
निष्कासिता येन जना वनादौ ॥
कुक्षेत्रजन्तोश्च कृता प्रशंसा।
कुग्रामवासी स भवेत्कुभावात् ॥ ४५ ॥

अर्थ - जो पुरुष अन्य लोगोंको झूठा दोष लगाकर हठ पूर्वक गांवसे निकालकर वनमें भेज देता है अथवा जो नीच क्षेत्रमें रहनेवाले जीवोंकी प्रशंसा करता रहता है ऐसा पुरुष मरकर अपने दुष्ट परिणामोंसे नीच वा छोटे गांवमें रहनेवाला कुग्रामवासी होता है।

भावार्थ - किसी पुरुषका घर छुड़ाना या उसे निकाल देना एक प्रकारका पाप है और वह हिंसानामके पापमें अंतर्भूत होता है। क्योंकि जिस पुरुषको निकाल दिया जाता है वह पुरुष घरवारसे रहित होकर महादुःखी होता है। इसीलिए इस पापका करनेवाला पुरुष कुग्राममें उत्पन्न होकर महादुःख प्राप्त किया करता है। इसी प्रकार जो पुरुष अपने पापरूप वा नीच परिणामोंके कारण म्लेच्छ आदि कुक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंकी प्रशंसा किया करता है वह भी मरकर अपने नीच परिणामोंके फलसे कुग्रामवासी ही होता है। यही समझकर कभी किसीको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने घरसे नहीं निकालना चाहिए । पशु पक्षियोंके धोंसले वा घर भी नहीं बिगाड़ने चाहिए और न उनका स्थान छुड़ाना चाहिए । क्योंकि घर वा घोंसला छुड़ानेसे पशु पक्षियोंको भी महादु:ख होता है । कभी कभी बिना घर घोंसलेके उन पशु पक्षियोंको मर जाना भी पड़ता है । इसलिए किसीको भी किसी प्रकारका दु:ख नहीं देना चाहिए और न किसीका घर घोंसला बिगाड़ना चाहिए ।

आगे - व्यवहारशून्य होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
स्यादेव जीवो व्यवहारशून्यः ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे व्यवहारशून्य होता है ।

उत्तर - दृष्ट्वाप्यकुप्यद् व्यवहारदक्षान् ।
वृथाभिमानं च विधाय तुष्येत् ।।
वा धीमतोऽज्ञानत एंव निन्दां ।
स्यात्तीव्रपापाद् व्यवहारशून्यः ।। ४६ ।।

अर्थ - जो मनुष्य किसी व्यवहारचतुर मनुष्योंको देखकर व्यर्थ ही क्रोधित होता है अथवा जो व्यर्थका अभिमान कर संतुष्ट होता है । अथवा जो पुरुष अपनी अज्ञानताके कारण बुद्धिमान पुरुषोंकी निंदा किया करता है । ऐसा पुरुष मरकर व्यवहार शून्य होता है ।

भावार्थ - शास्त्रज्ञानमें चुतर होना और बात है तथा व्यवहारमें चतुर होना और बात है । ऐसे अनेक विद्वान हैं जो शास्त्रज्ञानमें बहुत ही चतुर हैं अथवा अनेक शास्त्रोंके जानकर है तथापि वे व्यवहारमें चतुर नहीं होते हैं तथा ऐसे भी मनुष्य हैं जिन्हें शास्त्रज्ञान कुछ भी नहीं हैं अथवा जो पढ़े लिखे भी नहीं हैं परंतु व्यवहार ज्ञानमें अत्यंत चतुर होते हैं । उसका भी कारण यह है कि शास्त्रज्ञानके लिये सरलबुद्धिकी आवश्यकता है । जिनकी बुद्धि सरल होती उनको शास्त्रोंका ज्ञान शीघ्र होता है परंतु वे ही सरल बुद्धिवाले शास्त्रज्ञानी पुरुष व्यवहार ज्ञानमें चतुर नहीं होते । क्योंकि व्यवहार ज्ञानके लिये कुछ तीक्ष्ण वा कुटिल बुद्धिकी भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवश्यकता होती है । यद्यपि कुटिल बुद्धिका होना निंदनीय है तथापि कभी कभी वह व्यवहारमें लाई जाती है । व्यवहार ज्ञानके लिये तीक्ष्ण और तत्काल स्फुरायमान होनेवाली बुद्धिकी आवश्यकता है ।

जो मनुष्य व्यर्थका अभिमान करते है वा चतुर पुरुषोंकी निंदा करते हैं अथवा चतुर पुरुषोंको देखकर क्रोधित होते हैं ऐसे पुरुष मरकर व्यवहारशून्य होते हैं ।

आगे - अधिक अन्न खानेवाला किस कारणसे होता है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्माद् ।
वाह्वन्नभुक्तेऽपि भवेन्न तृप्तः ।।

अर्थ - हे भगवन ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे अधिक अन्न खा लेने पर भी तृप्त नहीं होता ।

उत्तर - दत्तान्नदानं पशुपक्षिकेभ्यो ।
चलात्स्वयं सेवितवान् नरो यः ।।
यो भोजनादौ च रतो न दाने ।
मूर्खः स मृत्वा विपुलान्नभोजी ।। ४७ ।।

अर्थ - जो पुरुष पशु पक्षियों के लिये दिये हुए अन्नको बलपूर्वक स्वयं सेवन कर लेता है अथवा जो पुरुष सदा काल खाने पीनेमें ही लगा रहता है, दान देने के लिये जिसका मन कभी नहीं चलता ऐसा मूर्ख पुरुष मरकर अधिक अन्न खानेवाला होता है ।

भावार्थ - जो पुरुष अपने दिये हुए दानको अथवा अपने पूर्वजोंके दिये हुए दानको अथवा अन्य किसी दूसरेके द्वारा दिये हुए दानको स्वयं ले लेता है वह पुरुष पापियोमें भी महापापी होता है । एक तो वे पुरुष हैं जो किसी जिनालयके लिये दान देते हैं, वा जिनप्रतिमा बनवाने के लिये दान देते हैं वा किसी स्वाध्यायशालाके लिये दान देते हैं, अथवा भूखे मरते पशु पक्षियों को वा भिक्षुकोंको दान देते हैं अथवा अन्य किसी ऐसे ही काम के लिये दान देते हैं । ऐसे पुरुष वास्तवमें पुण्यवान हैं और वे परलोकके लिये भी अपना पुण्यकर्म साथ लेजाते हैं । परंतु एक वे मनुष्य है जो जिनालय वा जिनप्रतिमाके लिये वा अन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी धर्मकार्य के लिये दिये हुए धनको भी बलपूर्वक स्वयं खाजाते हैं अथवा लूले, लंगड़े, पशुओंको वा कबूतर आदि पक्षियोंको डाले हुए दाने भी बटोरकर स्वयं खाजाते हैं ऐसे मनुष्योंको महापापी समझना चाहिए। धर्मशास्त्रकी ऐसी आज्ञा है कि कमाये हुए धनमेंसे कुछ न कुछ दानमें अवश्य देना चाहिये। और यह जिनपूजन, पात्रदान ऐसे उत्तम कार्योंमें ही देना चाहिये परंतु अच्छी कमाई करते हुए भी जिनालयमें दिये हुए दानको हड़प लेते हैं अथवा अन्य किसी कार्यमें दिये हुए दानको स्वयं काममें ले लेते हैं, यहां तक कि लूले, लंगड़े, पशु, पक्षियोंके लिये दिये हुए दानको भी स्वयं खा जाते हैं उनके पापका क्या ठिकाना है। परलोकमें जाकर ऐसे पुरुषोंको भस्मकव्याधि होती है जिससे कि चाहे जितना अन्न खा लेनेपर भी वे कभी तृप्त नहीं होते। यही समझ कर बुद्धिमान मनुष्योंको दिये हुए दानमेंसे कभी ऐसा पैसा नहीं लेना चाहिए। तथा अपने कमाये हुए धनमेंसे सदाकाल कुछ न कुछ दान अवश्य देते रहना चाहिए।

आगे - निर्धनताका अन्य कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्माद्।
धनेन हीनो भवतीह जीवः ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस पापकर्मके उदयसे धनहीन दरिद्री होता है।

उत्तर - धनं परेषामपहृत्य तुष्येद्।
दृष्टा हरान्तं गृहरत्नराज्यम्।
कृत्वापमानं धनहीनजन्तोः।
स द्रव्यहीनो भवति ह्यभाग्यः ॥ ४८ ॥

अर्थ - जो पुरुष दूसरेके धनको हरणकर संतुष्ट होता है अथवा जो दूसरेके घर, रत्न, राज्य आदिको हरण करने वालेको देखकर प्रसन्न होता है अथवा जो धनहीन मनुष्योंका अपमानकर संतुष्ट होता है वह मनुष्य मरकर भाग्यहीन दरिद्री होता है।

भावार्थ - दूसरेका धन हरण करना वा हरण करनेवाले को देखकर प्रसन्न होना चोरी है। जो पुरुष इस प्रकारकी चोरी करता है, दूसरेका धन छीनकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसको निर्धन बनाता है अथवा किसी दु:खी निर्धनका अपमान करता है वह मनुष्य मरकर अवश्य ही धनहीन दरिद्री होता है। इसका भी कारण यह है कि यह धन मनुष्योंका बाह्य प्राण है। धनका स्वामी मनुष्य जब धन की रखवाली करने लगता है तब यह यही कहता है कि ``प्राण रहनेतक तो मुझसे कोई धन ले नहीं सकता। मुझे मारकर भले ही कोई ले जाय।'' इससे सिद्ध होता है कि धन प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होता है। ऐसे धन को जो कोई हरण कर लेता है वह उसके प्राणोंको ही हरण कर लेता है। इसीलिए दूसरेके धनको हरण कर लेना महापाप कहा जाता है। इसमें हिंसा और चोरी दोनोंका ही पाप लगता है इसीलिए ऐसे कामको करनेवाला मनुष्य परलोकमें जाकर अवश्य ही निर्धन और महादु:खी होता है। यही समझकर कभी किसीका धन हरण नहीं करना चाहिये।

आगे - कुत्सितकाव्य करनेवालेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात्।
दक्ष: कुकाव्ये भवतीह जीव: ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापकर्मके उदयसे यह जीव कुत्सित काव्य करनेमें निपुण होता है।

उत्तर - कुकाव्यशास्त्रोऽप्यकरोद् रुचिं य:।
श्रुत्वा तथा दन्तकथामसाराम् ॥
कुशास्त्रदानं प्रविधाय तुष्येत्।
कुकाव्यशास्त्रे निपुणो भवेत्स: ॥ ४९ ॥

अर्थ - जो पुरुष कुत्सित काव्यशास्त्रोंमें रुचि रखता है, वा साररहित दंतकथाओंको सुनकर संतुष्ट होता है ऐसा मनुष्य मरकर कुत्सित काव्य शास्त्रोंकी रचना करनेमें वा उनके जाननेमें निपुण होता है।

भावार्थ - कामशास्त्रकी कथा कहनेवाले वा कामदेवकी बुद्धि करनेवाले या कामको उत्तेजित करनेवाले काव्योंको कुत्सित काव्य कहते हैं। ऐसे कुत्सित काव्योंकी रचना करनेसे महापाप होता है क्यों कि ऐसा काव्य जबतक विद्यमान रहता है तब तक अनेक मनुष्य उसे पढ़कर वा सुनकर पाप उत्पन्न करते रहते हैं। इसीलिए ऐसे काव्योंको कुत्सितकाव्य कहते हैं और उनका पढ़ना पढ़ाना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महापाप माना जाता है इसी प्रकार अनेक दंत कथाएं ऐसी हैं जिनमें कुछ सार नहीं है अथवा जिनके सुननेसे काम उत्तेजित होता है अथवा क्रोध बढ़ता है अथवा मायाचारीकी शिक्षा मिलती है वा अन्य अनेक नीच कामोंकी शिक्षा मिलती है, ऐसी दंतकथाओंका सुनना भी पाप ही कहलाता है। क्योंकि ऐसी कथाओंके सुननेसे भी परिणामोंमें दुष्टता आती जाती है। इस प्रकार ऐसे कुत्सित शास्त्रोंका दान देना भी पापका कारण है। क्योंकि ऐसा भी कुत्सित शास्त्र जिसको दिया जाता है वही पुरुष उसे पढ़कर वा सुनकर पाप उत्पन्न करता रहता है। तथा यह पापोंकी परंपरा सैकड़ों वर्षतक चलती रहती है। इसलिये ऐसे पाप शास्त्रोंमें जो रुचि करता है वा उनको सुनता है वा दान देता है वह मनुष्य परलोकमें जाकर महापाप उत्पन्न करनेके लिए कुत्सित काव्य करनेमें ही चतुर होता है। जिससे कि महापाप उत्पन्न करता हुआ नरकादिकके दु:ख प्राप्त करता है। अतएव भव्यजीवोंको ऐसे कुत्सित काव्य कभी नहीं करने चाहिये और न कभी सुनने चाहिये।

आगे - यह जीव अधिक भार ढोनेवाला क्यों होता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात्।
भवेद्धि जीवो बहुभारवाही ॥

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाये कि किस पाप-कर्मके उदयसे यह जीव अधिक बोझा ढोनेवाला उत्पन्न होता है।

उत्तर - आरोपणाद्वाधिकभार वस्तु।
छलेन हीनाधिकवाहनाद्वा ॥
दीनान् पशून् बाऽधिकताडनाद्वा।
तुष्येत् स ना स्याद्बहुभारवाही ॥ ५० ॥

अर्थ - जो पुरुष दीन पशुओंपर अधिक बोझा लादकर प्रसन्न होता है वा छलसे दीन पशु वा मनुष्योंको अधिक काममें लेकर वा उनसे शक्तिसे अधिक काम कराकर प्रसन्न होता है अथवा दीन पशुओंको अधिक ताड़ना कर प्रसन्न होता है ऐसा मनुष्य परलोकमें जाकर अधिक बोझा ढोनेवाला होता है।

भावार्थ - दीन हीन मनुष्योंपर वा पशुओंपर अधिक बोझा लादना, वा उनसे उनकी शक्तिसे अधिक काम लेना वा उनको अनुचित रीतिसे ताड़ना करना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महापाप है। पशु वचनहीन होते हैं। वे कुछ कह नहीं सकते परंतु शक्तिसे अधिक बोझा लादनेपर वे दु:खी होते हैं। जिस प्रकार अधिक बोझा लादनेसे पशु दु:खी होते हैं उसी प्रकार दीन अनाथ दरिद्री मनुष्योंपर यदि अधिक बोझा लाद दिया जाय तो वे भी बहुत दु:खी होते हैं। यह बात दूसरी है कि ऐसे मनुष्य अपने पेटके लिए अधिक दु:ख सहन कर लेते हैं। परंतु है यह अन्याय। इसी प्रकार उनसे बलपूर्वक अधिक काम लेना वा उनको अधिक दंडित करना भी अन्याय है। जो पशु लूले, लंगड़े हैं वा रोगी हैं अथवा जिनके शरीरपर घाव हो रहे हैं ऐसे पशुओंसे कभी काम नहीं लेना चाहिए। ऐसे पशुओंसे काम लेना महा अन्याय है। तथा इसीलिए ऐसे अन्याय करनेवाले मनुष्य मरकर ऐसे ही दीन दरिद्री मनुष्य वा पशु होते हैं जिनपर उनकी शक्तिसे अधिक बोझा लादा जाता है। अतएव किसी जीवको किसी प्रकारसे भी नहीं सताना चाहिए।

आगे - दीर्घ आयु पाकर भी महा दु:खी किस कारणसे होता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्माद् ।
दीर्घायुरेवं भवतीह दु:खी ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव लंबी आयु पाकर भी महादु:खी क्यों होता है ? !

उत्तर - द्रुच्छेदनं वा खननं च मह्या:
निष्कारणं येन कृतं कुपापम् ।।
हठात् त्रसस्थावरजीवबाधा ।
दीर्घायुरेवापि भवेद्धि दु:खी ।। ५१ ।।

अर्थ - जो पुरुष बिना कारणके वृक्षोंको काटता है, छोटे छोटे पौधोंको काटता है, वा बिना कारणके पृथ्वीको खोदता है, अथवा जो बिना ही कारणके हठपूर्वक त्रस स्थावर जीवोंको दु:खपहुंचाता है ऐसा मनुष्य मरकर दीर्घ आयु पाकरके भी महादु:खी होता है।

भावार्थ - यद्यपि इस संसारमें दीर्घ आयुका प्राप्त होतना अच्छा समझा जाता है परंतु शारीरिक वा मानसिक दु:ख होनेपर वा दरिद्रता होनेपर अधिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आयुवालेको महादु:ख होता है। आयुके अधिक होनेपर इन्द्रियां सब शिथिल हो जाती हैं, शरीर निर्बल हो जाता है, उठने बैठनेकी शक्ति नहीं रहती, कुछ काम होता नहीं तथा सब प्रकारसे बेकार हो जाता है। ऐसी अवस्थामें यदि दरिद्रता हो, वा पुत्रपौत्र दुर्वचन कहनेवाले हौं, वा शरीरमें अनेक रोग उत्पन्न हो गये हौं, खाने पीनेको मिलता न हो वा और भी किसी प्रकारका दु:ख हो तो फिर उस बड़ी आयुका काटना अत्यंत कठिन हो जाता है। उस बड़ी आयुसे वह स्वयं दु:खी होता है तथा अन्य देखनेवाले भी दु:खी होते हैं। ऐसे मनुष्यको देखकर देखनेवाले भी यही कहते हैं कि ``अब तो यह शीघ्र ही मर जाय तो अच्छा'' परंतु महादु:खी होता हुआ भी वह मनुष्य बिना आयु पूरी किये मर नहीं सकता। इससे सिद्ध होता है कि दु:खी होनेपर दीर्घायुका पाना और अधिक दु:खी बनानेके लिए होता है। तथा जो मनुष्य व्यर्थके पाप किया करते हैं बिना कारण व्यर्थ ही वृक्षोंके पौधोंको काट डालते हैं, पृथ्वी कोद डालते हैं, अग्नि लगा देते हैं, व्यर्थ पानी फैलाते रहते हैं वा त्रस स्थावर जीवोंको अनेक प्रकारसे दु:खी किया करते हैं ऐसे जीव मरकर दीर्घायु पाकर भी दु:खी होते हैं।

आगे - नपुंसक होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद तेव ! कस्माद्।
नपुंसक: स्याद्भुवि सर्वनिंद्य: ॥

अर्थ - हे भगवान् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे समस्त लोगोंके द्वारा निंदनीय ऐसा नपुंसक होता है।

उत्तर - क्रीडा ह्यनंगे च रुचि: कुहास्ये।
क्लीवस्य निंदा भुवि तीव्रकामी ॥
कुशीलहेतोश्च कृत: प्रयत्न:।
इत्यादिपापात्स नपुंसक: स्यात् ॥ ५२ ॥

अर्थ - जो पुरुष अंगक्रीड़ा किया करता है, निंदनीय हंसी करनेमें प्रेम रखता है, जो नपुंसक हिजड़ोंकी नींदा किया करता है, जो संसारमें अत्यंत तीव्रकामी होता है और कुशील सेवन करनेके लिए अनेक प्रयत्न किया करता है वह परुष मरकर इन पापोंके कारण नपुंसक होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ - जो न तो स्त्री होते हैं और न पुरुष होते हैं उनको नपुंसक कहते हैं। जिनकी इच्छा पुरुषोंके साथ रमण करनेकी होती है उनके स्त्रीलिंग माना जाता है तथा जिनकी इच्छा स्त्रीके साथ रमण करनेकी होती है उनके पुल्लिंग माना जाता है, परंतु नपुंसकलिंग वालों की इच्छा दोनोंके साथ रमण करनेकी होती है। यद्यपि नपुंसक नपुंसक ही होते हैं तथापि उनके ह्रदयमें कामसेवनकी लालसा अत्यंततीव्र होती है। नपुंसक जीवोंकी कामवासना पजाबेकी अग्निके समान होती है जो बहुत कालतक जलती रहती है। इसीलिये यह नपुंसक पर्याय अत्यंत निंद्य मानी जाती है। पुरुष काम सेवनके अंगोंको छोड़कर अन्यत्र क्रीडा किया करते हैं अथवा कामोत्तेजित करनेवाली निंदनीय हंसी करनेमें प्रेम रखते हैं अथवा जिनके काम सेवनकी लालसा अत्यंत तीव्र होती है अथवा जो लोग कुशील सेवन करनेके लिए परस्त्रियोंको वश करनेके लिए वा परपुरुषोंको वश करनेके लिए अनेक प्रकारके निंदनीय प्रयत्न किया करते हैं अथवा और भी ऐसे ही ऐसे काम किया करते है ऐसे पुरुष वा स्त्री मरकर अवश्य ही नपुंसक होते हैं। इसलिये भव्यजीवोंको इस निंदनीय पर्यायसे बचनेके लिए सदाकाल अपने ह्रदयको शांत रखना चाहिये। काम सेवनकी स्त्रीलालसा कभी नहीं रखनी चाहिये।

आगे - विकलत्रय होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्माद्।
मृत्वेति जीवो विकलत्रयः स्यात् ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे वा कैसे पाप करनेसे मरकर विकलत्रय जीव होता है।

उत्तर - दुःख प्रदत्तं विकलत्रयाणां।
सुनिर्दयाताडनमरणादिः ॥
बंदीकृता वा त्रसजीववृन्दाः।
स तव्रीपापाद्विकलत्रये स्यत् ॥ ५३ ॥

अर्थ - जो पुरुष इस भवमें अत्यंत निर्दयताके साथ विकलत्रय जीवोंको दुःख देता है, अथवा उनको ताडन करता है वा मारता है अथवा जो अनेक त्रसजीवोंको घेर बटोरकर बंद कर देता है ऐसा मनुष्य अपने तीव्र पापके उदयसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरकर विकलत्रय जीवोंमें पैदा होता है ।

भावार्थ - दो इन्द्रिय तेइन्द्रि और चौइन्द्रिय जीवोंको विकलत्रय कहते है । लट, पई, गिंडोये जोंक आदि दो इन्द्रिय जीव कहलाते है । चींटी, खटमल आदि जीव तेइन्द्रिय कहलाते हैं । मक्खी, भोंरा, बर्र, ततैया, पतंगा आदि चौइन्द्रिय जीव कहलाते हैं । दोइन्द्रियके स्पर्शन रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । तेइन्द्रियके स्पर्श रसना घ्राण ये तीन इन्द्रियां होती हैं । तथा चौइद्रिंयके स्पर्श रसना घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां होती हैं । ये तीनों ही प्रकारके जीव त्रस होते हैं और पूर्ण इन्द्रियां न होनेके कारण विकलत्रय कहलाते हैं । विकलत्रय महा दुखी होते और उन्हें प्रत्येक समयमें मरनेका डर लगा रहता है । जो पुरुष इस भवमें विकलत्रय जीवोंको दु:ख देते हैं, उन्हें मारते हैं बांधकर उड़ाते हैं उनके ऊपर धूल फेककर दुखी करते हैं वा त्रस जीवोंको बांधकर रखते हैं, घेरकर रखते हैं, भूखे प्यासे रखते हैं, सर्दी गर्मीमें बंधे रखते हैं वा अन्य किसी प्रकारसे दु:ख देते हैं वे जीव इस तीव्र पाप करनेके कारण विकलत्र पर्यायमें उत्पन्न होते हैं ।

आगे - दास होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कर्मोदयान्मे वद देव कस्मात्
दास: परेषां भवतीह जीव: ।

अर्थ - हे भगवान्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे इस संसारमें दूसरोंका दास हो जाता है ।

उत्तर - या: कारयित्वा स्वगृहादिकार्यं ।
ददाति दीनाय धनादिवित्तम् ।।
स्वप्नेपि धैर्य ह्यादधान्न लोभाद् ।
दास:परेषां स भवेदभाग्य: ।। ५४ ।।

अर्थ - जो पुरुष किसी दीन मनुष्यको अपने घरका काम कराकर धन देता है और लोभके कारण स्वप्नमें भी कभी उनको धैर्य नहीं देता ऐसा पुरुष मरकर परलोकमें दूसरेका दास होता है ।

भावार्थ - दीन हीन पुरुषोंको वा भूखे प्यासे पुरुषोंको करुणापूर्वक धनादिकका दान देना चाहिये । धन पाकर दान देना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होजाता है। परंतु जो पुरुष लोभ के कारण दानके नामसे थोड़ासा धन तो देते हैं परंतु उससे घरका सब काम कराकर वा उतने ही मजूरी कराकर थोड़ा, धन देते हैं ऐसे पुरुष मरकर दूसरेके दास होते हैं जो मजूरी कर अपना पेट भरते हैं और फिर भी मजूरी मिलती है वा नहीं भी मिलती है। इस प्रकार वे जीव महादु:खी होते हैं यही समझकर दान देकर कभी उससे बदला नहीं चुकाना चाहिये। दीनोंको करुणापूर्वक ही दान देना चाहिये।

आगे - स्त्रीपर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
प्राप्नोति जीवो ललनाशरीरम् ॥

अर्थ - हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि वह जीव किस पापकर्मके उदयसे स्त्रीपर्यायको प्राप्त होता है।

उत्तर - स्त्रीवेषिजीवं प्रविलोक्य तुष्येत् ।
करोति नित्यं ललनाभिलाषाम् ॥
हास्यं गतिं दारसमं च वार्तां ।
मृत्वा नरोऽयं ललना भवोद्धि ॥ ५५ ॥

अर्थ - जो पुरुष स्त्रीका वेष धारण करने वाले मनुष्योंको देखकर संतुष्ट होता हैं, तथा जो सदाकाल स्त्रियोंकी अभिलाषा करता रहता है और जो स्त्रियोंके ही समान हंसता है, स्त्रियोंके ही समान चलता है और स्त्रियोंके समान बातचीत करता है ऐसा मनुष्य मरकर अवश्य ही स्त्रीपर्यायको प्राप्त होता है।

भावार्थ - इस संसारमें ऐसे अनेक मनुष्य हैं जो सदा काल स्त्रियोंके साथ ही बैठते उठते हैं उन्हींके साथ बातचीत करते हैं, मनुष्यपर्यायसे स्त्रीपर्यायको उत्तम समझते हैं और इसीलिये जो हंसना, गाना, चलना, बातचीत करना, मटकना, वस्त्र पहनना, आभूषण पहनना आदि समस्त कार्य स्त्रियोंके समान करते हैं। ऐसे पुरुष मरकर अपने उन्हीं पापरूप परिणामोंके कारण स्त्रीपर्यायको प्राप्त होते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो स्त्रीपर्याय अत्यंत निंद्यपर्याय है। प्रसूतिके समय उसे अनेक प्रकारके महा दु:ख उठाने पड़ते हैं तथा वह सदाकाल पराधीन रहती है। इसलिये ऐसी स्त्रीपर्यायमें जन्म लेना पापका ही कारण माना जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - स्थावर शरीर धारण करनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वह देव! कस्मा-
ज्जीवो भवेत्स्थावरदेहधारी ॥

अर्थ - हे देव! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे स्थावरशरीर धारण करता है ।

उत्तर - धर्मस्य देवस्य गुरो : प्रणिन्दा ।
कुदेवधर्मादिगुरोः प्रशंसा ॥
स्वाचारनिदाऽपि कृतैव येन ।
स स्यान्नरः स्थावरदेहधारी ॥ ५६ ॥

अर्थ - जो पुरुष भगवान् अरहंत देवकी निंदा करता है, अहिंसामय धर्मकी निंदा करता है, और वीतराग निर्गंथ गुरुओंकी निंदा करता है । तथा जो कुदेव कुधर्म और कुगुरुकी निंदा प्रशंसा करता है और श्रेष्ठ आचरणोंकी निंदा भी करता है । ऐसा पुरुष मरकर अवश्य स्थावरशरीर धारण करता है ।

भावार्थ - एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक और वनस्पति कायिकके भेदसे स्थावरजीवोंके पांच भेद हैं । निगोदिया जीव भी स्थावर कहे जाते हैं । या निगोदिया जीव एक श्वासमें अठारह वार जन्म लेते हैं और अठारह वार ही मरण करते हैं । इस संसारमें जन्म मरणके समान अन्य कोई दु:ख नहीं है तथा वह महा दु:ख निगोदिया जीवों को श्वासमें अठारह बार प्राप्त होता है । ऐसा यह अत्यंत पापमय तथा निंदनीय स्थावर शरीर देव शास्त्र गुरुकी निंदा करनेसे, कुदेव, कुधर्म, कुगुरुकी प्रशंसा करनेसे और आचरणोंकी निंदा करनेसे प्राप्त होता है । इसलिये भव्य जीवोंको देव गुरुकी निंदा नहीं करनी चाहिये ।

आगे - अंगहीन होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव! कस्मा-
दंगैरुपांगैर्भवतीह हीनः ॥

अर्थ - हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे अंग उपांगसे हीन होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - अंगं ह्युपांगं च परस्य येन ।
विच्छेदितं वा भवनं प्रणष्टम् ।।
व दृष्ट्वांगहीनं स्वयमेव तुष्येद् ।
भवेत्स दुष्टश्च किलांगहीनः ।। ५७ ।।

अर्थ - जो पुरुष दूसरेके अंग उपांगको काट डांलता है वा दूसरोंका घर नष्ट कर देता है अथवा जो अंग उपांगहीन मनुष्योंको देखकर संतुष्ट होता है ऐसा दुष्ट मनुष्य मरकर अंगहीन होता है ।

भावार्थ - दूसरोंके अंग उपांग काटना महापाप है । जिसके अंग उपांग काट दिये जाते हैं वह मनुष्य बेकार होजाता है । और फिर वह जन्मभर दुखी रहता है । इसी प्रकार जिसका घर नष्ट होजाता है वह भी जन्मभर दुखी रहता है । ऐसा महादु:ख देना महापापका कारण है । यही कारण है कि ऐसे काम करनेवाला वह महापापी पुरुष मरकर अगले जन्ममें अंग उपांग हीन हो जाता है । और वह भी जन्म भर तक महादु:खी बना रहता है । इसी प्रकार अंग उपांगहीन मनुष्योंको देखकर जो संतुष्ट होता है जिसके हृदयमें उनको देखकर करुणा नहीं आती ऐसे मनुष्य भी मरकर अंग उपांग हीन होते हैं । यही समझकर किसी दुखी जीवको देखकर कभी संतुष्ट नहीं होना चाहिये और न किसीके अंग उपांग काटने चाहिये ।

आगे - नीचकुलमें उत्पन्न होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयात्मे वद देव! कस्मात् ।
स्याज्जन्म जन्तोश्च कुले हि नीचे ।।

अर्थ - हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकार्यके करनेसे वा किस पापकर्मके उदयसे नीचकुलमें उत्पन्न होता है ।

उत्तर - निजप्रशंसा स्वमुखात्परेषां ।
निंदा कृता श्रेष्ठकुलस्य येन ।।
गर्वादबोधाद् गुणिनां कुलस्य ।
तज्जन्म कौ नीचकुले भवेद्धि ।। ५८ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - जो पुरुष अपने मुखसे अपनी ही प्रशंसा करते हैं तथा दूसरोंकी निंदा करते हैं अथवा जो अपने अभिमानसे वा गुणियोंके उच्चकुलके अज्ञानसे श्रेष्ठकुलकी निंदा किया करते हैं वे पुरुष मरकर नीचकुलमें जन्म लेते हैं।

भावार्थ - श्रेष्ठकुलकी वा श्रेष्ठ कुलवालोंकी निंदा करना श्रेष्ठ कुलसे वा श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न होनेवाले पुण्यवान मनुष्योंसे अरुचि उत्पन्न करता है जो मनुष्य पुण्यवान् मनुष्योंसे अरुचि करता है वह पुण्यकार्योंसे भी अरुचि करता है तथा पुण्यकार्योंसे अरुचि करने के कारण वह सदाकाल नीचकार्य ही करता रहता है। नीचकार्योंके करनेसे वह पापकर्मोंका बंध करता है और उन पापकर्मोंके उदय होनेपर वह नीचकुलमें उत्पन्न होता है। नीच कुलमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य अपने पापकर्मके उदयसे सर्वत्र तिरस्कृत होते हैं। जिनपूजा पात्रदान आदि उत्तम कार्योंसे वंचित रहते हैं और प्रायः जन्मभर दुःखी रहते हैं।

आगे - उच्चकुलमें उत्पन्न होकर भी धनहीन किस कारणसे होते हैं यह बतलाते हैं।

प्रश्न - पापोदयान्मे वद देव! कस्माद्।
हीनो धनैरुच्चकुलेऽपि जीवः ॥

अर्थ - हे देव! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे उच्चकुलमें उत्पन्न होकर भी धनहीन होता है।

उत्तर - पुरोच्चगोत्रं च शुभेन बद्धं।
पश्चात्सगर्वात्पर निन्दनादिः ॥
कृतो गुरोर्येन सदापमानः।
स स्याद्धनैरुच्चकुलेऽपि हीनः ॥ ५९ ॥

अर्थ - जिन जीवोंने पहले शुभ परिणामोंके निमित्तसे ऊंच गोत्रका बंध कर लिया है और फिर अपने अभिमानसे दूसरोंकी निंदा की है अथवा अपने अभिमानसे जिन्हेंन्ने गुरु जनोंका सदा अपमान किया है ऐसे पुरुष उच्चकुलमें तो उत्पन्न होते हैं परंतु धनहीन होते हैं।

भावार्थ - उच्चकुलमें उत्पन्न होकर धनहीन होनेसे बहुत दुःख होता है। इसका भी कारण यह है कि उच्चकुलकी प्राप्ति पुण्यकर्मके उदयसे होती है। तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धनादिककी प्राप्ति भी पुण्यकर्मके उदयसे होती है । उच्चकुलमें उत्पन्न होनेवालोंको अपने समान उच्चकुलवालोंके साथ व्यवहार करना पड़ता है । परंतु वह व्यवहार बिना धनके नहीं होता । तथा बराबरका व्यवहार न करनेसे उन सबके साथ लज्जित होना पड़ता है । तथा वह मानसिक पीड़ा सदा दु:ख देती रहती है । इसलिये भव्यजीवोंको पुण्यकर्म ही करते रहना चाहिये । पुण्यकर्मोंके साथ अभिमान कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे - जीविकाके लिये परिभ्रमण करनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - देशे विदेश च कुतश्च पापा -
दाजीविकायें मनुजा भ्रमन्ति ।

अर्थ - हे भगवान्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव अपने किस पापकर्मके उदयसे आजीविकाके लिये देश विदेशमें परिभ्रमण करते हैं ।

उत्तर - योऽनेकवारं परिभ्रामयित्वा ।
गृहादिकार्य खलु कारयित्वा ।।
आशां प्रदर्श्यापि धनं न यच्छेत् ।
भ्रपेत्सदा कौ स च वृत्तिहेतो: ।। ६० ।।

अर्थ - जो पुरुष अपने सेवकोंको अनेक बार इधर उधर दौड़ाकर घरके काम कराता है । और फिर आशा दिखलाकर भी धन नहीं देता वह पुरुष अपनी जीविकाके लिये इस पृथ्वीपर सदा काल परिभ्रमण किया करता है ।

भावार्थ - सेवकोंसे घरका सब काम लेकर भी तथा उसके बदले उसको धन देनेकी आशा दिलाकर भी धन न देना एक प्रकारका महापाप है । क्योंकि जब घरमें धन नहीं होता है तभी मनुष्य दूसरोंके घर जाकर सेवा करता है । तथा दिनभर सेवा करनेपर भी वा घरके सब काम करनेपर भी यदि उसको धन नहीं मिलता है तो उस दिन वह भी भूखा रहता है तथा उसके बाल बच्चे भी भूखे रहते हैं । तथा जिस मनुष्यको पहले दिन भोजन नहीं मिला है वह मनुष्य दूसरे दिन भी काम नहीं कर सकता और इस प्रकार वह तथा उसके बालबच्चे बहुत दुखी हो जाते हैं, उनके परिणामोंमें विकलता हो जाती है और वे क्षणक्षणमें काम कराकर धन न देनेवालेके लिए अशुभ आशीर्वाद देते रहते हैं । इसलिये जो जीव काम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कराकर भी धन नहीं देते वे जीव मरकर अपनी आजीविकाके लिये देश विदेशमें घूमते फिरते हैं और फिर भी उनको जीविका प्राप्त नहीं होती है। इसलिये काम कराकर किसीका भी धन नहीं रोकना चाहिये।

आगे - छलपूर्वक जीविका प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कर्योदयान्मे वद देव कस्मा
च्छलैः समं संचलतीह वृत्तिः ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापकर्मके उदयसे इन जीवोंकी जीविका छल पूर्वक चलती है।

उत्तर - छलेन दत्तं मुनयेऽन्नदानं।
तथा कृता देवगुरोश्च सेवा ॥
येन प्रशंसा खलवंचकानां।
स्यात्तीव्रपापच्छलयुक्तवृत्तिः ॥ ६१ ॥

अर्थ - जो पुरुष वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंके लिये छलपूर्वक आहारदान देते हैं वा छलपूर्वक देव शास्त्र गुरुकी सेवा करते हैं अथवा जो दुष्ट ठगोंकी प्रशंसा किया करते है ऐसे पुरुष मरकर उस तीव्र पापकर्मके उदयसे छलपूर्वक होनेवाली जीविका प्राप्त करते हैं।

भावार्थ - वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंको आहारदान देना पुण्यका काम हैं। परंतु वही आहारदान यदि छलपूर्वक दिया जाता है तो वही कार्य पापकार्य हो जाता है। सम्यग्दृष्टि सदाचारी पुरुष तो कभी छलपूर्वक आहार दे ही नहीं सकता। परंतु जो पुरुष अंतरंगमें मिथ्यात्वको धारण करता है वह छलपूर्वक आहार दे सकता है अथवा जो पुरुष बाह्यप्रवृत्तिमें समाजका अपराधी होता है जातिच्युत वा पतित होता है वह भी छलपूर्वक मुनियोंको आहारदान दे सकता है। तथा इसी प्रकार देव धर्म गुरुकी सेवा, जिन पूजन, प्रतिष्ठा पात्रदान आदि भी छलपूर्वक हो सकते हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य दुष्ट मायाचारी जीवोंकी प्रशंसा करता है अपने मिथ्यात्वके उदयसे उनको श्रेष्ठ मानता है वह भी उसीके समान पाप करता है। अथवा कितने ही मनुष्य धन वा पुत्र प्राप्त होनेकी तीव्र लालसासे देव वा गुरुकी सेवा किया करते है वा गुरुओंको आहारदानादिक दिया करते हैं। इस प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छलपूर्वक धर्मकार्य करनेवालोंको परलोकमें जाकर छलपूर्वक होनेवाली जीविका प्राप्त होती है।

आगे - यह जीव पशु होकर घर घर बिकता रहता है ऐसा पशु किस कारणसे होता है।

प्रश्न - कस्माद्धि पापच्च पशुर्भवेन्ता।
विक्रीयते येन गृहे गृहे कौ ॥

अर्थ - हे प्रभो! अब यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मसे पशु होता है तथा घर घर बिकता रहता है।

उत्तर - छलात्परेषां वनितां च पुत्रीं।
क्रीणाति गां वा शयनान्नवस्त्रम् ॥
छलिप्रशंसा नितरां करोति।
भूत्वा पशुर्विक्रियते गृहादौ ॥ ६२ ॥

अर्थ - जो मनुष्य छलपूर्वक किसी दूसरेकी स्त्रीको वा पुत्रीको मूल्य देकर लेता है वा छलपूर्वक किसी गायको वा अन्य पशुको लेता है वा सोने बैठनेके सामान वा अन्न वस्त्र छलपूर्वक लेता है अथवा जो मायाचारी लोगोंकी प्रशंसा किया करता है वह मनुष्य मरकर ऐसा ही पशु होता है जो घर घर बिकता रहता है।

भावार्थ - मायाचारी करना तिर्यंचयोनिका कारण है। जिस प्रकार तिर्यंच-योनिमें उत्पन्न होनेवाले पशु अनेक प्रकारके हैं उसी प्रकार मायाचारी भी अनेक प्रकार की है। उस अनेक प्रकारकी मायाचारीमें से जो पुरुष अनेक प्रकारके छल कपट बनाकर किसी की पुत्रीको मोल ले लेता है वा किसीकी स्त्रीको मोल ले लेता है वह मनुष्य उस छल कपट रूप पापके कारण ऐसा पशु होता है जो घर घर बिकता फिरता है। इसी प्रकार जो मनुष्य इस प्रकारकी मायाचारी करनेवालोंकी प्रशंसा करता है अथवा छल कपट बनाकर अन्न वस्त्र आदि अन्य पदार्थोंको मोल लेता है वह मनुष्य भी मरकर ऐसा ही घर घर बिकनेवाला पशु होता है। इस प्रकारके मायाचारी मनुष्य उन स्त्रियोंको पालन पोषण करनेके वा अन्य अनेक प्रकारके लोभ दिखलाते है और फिर उस लोभ को दिखलाकर उनको मोल ले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेते हैं वा उनको वशमें कर लेते हैं। ऐसे नीच मनुष्य भेड़ बकरी आदि नीच पशु होते हैं। जहां अनंत कालतक दु:ख भोगा करते हैं।

आगे - एक साथ अनेक जीवोंकी मृत्युका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापच्च वदैककाले।
भूयिष्ठजन्तोर्भवतीह मृत्यु: ।।

अर्थ - हे प्रभो! अब यह बतलाइये कि एक ही समयमें अनेक जीवोंकी मृत्यु किस पापकार्यके करनेसे होती है।

उत्तर - अनेकजीवो हि मिथो मिलित्वा।
साधो: प्रणिंदामकरोत्कुकृत्यम् ।।
तुष्येत् पशोवक्ष्यीं कलिं ह्यबोधात्।
कुर्यात्कुबंधं समुदायमृत्यो: ।। ६३ ।।

अर्थ - जब कभी अनेक जीव मिलकर किसी साधुकी वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी निंदा करते हैं अथवा अनेक जीव मिलकर अन्य कोई कुकर्म करते हैं अथवा अनेक जीव मिलकर अपनी अज्ञानताके कारण पशुओंकी लड़ाई देखकर प्रसन्न होते हैं ऐसे जीव मिलकर एक साथ मरनेका पाप बंध किया करते हैं।

भावार्थ - वर्षाके दिनोंमें अनेक गिंजाई उत्पन्न होती है तथा सैकड़ों हजारों गिंजाईयोंका छत्ता थोड़ेसे ही स्थानमें बना रहता है। यदि उन गिंजाइयोंके ऊपर किसी हाथी वा ऊंटका पैर पड़ जाय वा उनके ऊपर कोई पला भरकर मिट्टी डाल दे, वा अग्नि डाल दे तो वे सब गिंजाई एक साथ मर जाती हैं अथवा मशीनोंके युद्धमें अनेक जीव एक साथ मर जाते हैं वा विष मिली वायुसे अनेक जीव एक साथ मर जाते हैं ऐसे अनेक जीव जो एक साथ मरते हैं उनका ही साथ होता है। तथा ऐसा एक साथ उदय में आनेवाला पाप कर्मोंका बंध भी वे सब एक ही साथ करते हैं।

जो हजारों जीव किसी सभामें बैठकर एक साथ किसी वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी निंदा करते हैं अथवा भगवान् अरहंत देवकी वा उनके कहे हुए शास्त्रोंकी निंदा करते हैं अथवा अनेक मनुष्य एकसाथ मिलकर पशु पक्षियोंका युद्ध देखते हैं और प्रसन्न होते हैं ऐसे सब जीव वा उनमेंसे अनेक जीव ऐसे ही आयु कर्मका बंध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हैं जो एक ही साथ अंतको प्राप्त होते हैं। यही समझकर किसी भी वीतराग देव शास्त्र गुरुकी निंदा नहीं करनी चाहिये वा पशु पक्षियोंका युद्ध नहीं देखना चाहिये।

आगे - किसी पुरुषको देखकर स्त्रीके हृदयमें वा किसी स्त्रीको देखकर किसी पुरुषके हृदयमें काम वासना उत्पन्न होजाती हैं उसका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च नरस्य नार्याः।
दृष्ट्वा मिथः स्यात्खलकामजन्म ॥

अर्थ - हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्मसे स्त्री पुरुषोंमें परस्पर एक दूसरे को देखकर कामवासना उत्पन्न होजाती है।

उत्तर - नार्याः पुरा जन्मनि वा नरस्य।
मिथो यदि स्याद् व्यभिचारकर्म ॥
रागादिहास्यं हृदि तत्प्रमोहात्।
तयोऽरमुत्रेपि भवेत्प्रमोहः ॥ ६४ ॥

अर्थ - पहले जन्ममें जिन स्त्री पुरुषोंका संबंध रहता है, वा पहले जन्ममें जो स्त्री पुरुष परस्पर व्यभिचार करते रहते हैं अथवा एक दूसरे पर मोहित होकर रागभाव वा हंसी किया करते हैं ऐसे स्त्री पुरुषोंके हृदयमें परलोकमें भी परस्पर मोह उत्पन्न होता है।

भावार्थ - एक कुटुंबमें जितने जीव उत्पन्न होते हैं उनका पूर्वभवका संबंध प्रायःकुछ न कुछ रहता ही है। लोग पूर्वभवमें परस्पर शत्रु होते हैं ऐसे जीव यदि एक कुटुंबमें आकर उत्पन्न होते हैं तो एक कुटुंबमें होनेपर भी परस्पर उनका विरोध रहता ही है। इसी प्रकार जिन स्त्री पुरुषोंमें पहले भवमें परस्पर संबंध रहा है अथवा जिन स्त्री पुरुषोंने पहले भवमें परस्पर व्यभिचार सेवन किया है। अथवा परस्पर एक दूसरेपर मोहित होकर रागभाव किये हैं वा हंसी आदि विनोद किया है अथवा जिन दोनोंमें परस्पर होनेवाला रागभाव हृदयमें बना रहा है ऐसे जीव जब दूसरे भवमें भी स्त्री पुरुष होते हैं तब उनमें एक दूसरेको देखकर रागभाव वा मोह उत्पन्न होता ही है। तथा ऐसा मोह वा रागभाव अनेक जन्मोंतक बना रहता है। यही समझकर भव्यजीवोंको कभी किसीसे अधिक प्रेम वा रागभाव नहीं करना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिये । भोगोपभोगोंका सेवन भी न्यायपूर्वक ही करना चाहिये । अन्याय पूर्वक भोगोपभोगोंका सेवन कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे - क्रोध उत्पन्न होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पापोदयाज्जायत एव कस्मात् ।
दृष्ट्वान्यजीवान् हृदि कोपजन्म ।।

अर्थ - हे प्रभो! अब यह बतलाइये कि किस पापकर्मके उदयसे इस जीवके हृदयमें अन्य जीवोंको देखकर क्रोध उत्पन्न हो जाता है ।

उत्तर - यः कोऽपिना पूर्वभवस्य शत्रुः
स्वदेहहन्ता यदि वा विरोधी ।
वियोगकर्ता स्वकुटुंबकानां
तं वीक्ष्य कोपो भवतीह जन्तोः ।। ६५ ।।

अर्थ - जो कोई पुरुष पहले भवमें अपना शत्रु था अथवा अपने शरीरका नाश करनेवाला था वा विरोधी था अथवा अपने किसी कुटुंबके मनुष्यका वियोग करनेवाला था ऐसे मनुष्यको देखकर इन जीवोंके हृदयमें अवश्य ही क्रोध उत्पन्न होता है ।

भावार्थ - क्रोधादिक कषायोंकी उत्पत्ति पहले जन्मके संस्कारोंसे ही होती है । पहले भवमें जिन जीवोंने अपनी कुछ हानि की है वा अपने कुटंबकी कुछ हानि की है वा अपने साथ कुछ विरोध किया है ऐसे मनुष्योंको देखकर वा ऐसे जीवोंको देखकर अपने हृदयमें अवश्य ही क्रोध उत्पन्न होता है । यदि पहले भवमें हमारे जीवने किसीके साथ वैर विरोध किया है तो हमको देखकर दूसरेके हृदयमें क्रोध उत्पन्न होता है । यही समझकर भव्यजीवोंको कभी किसीके साथ वैर विरोध नहीं करना चाहिये अथवा किसीकी हानि नहीं करनी चाहिये । जिस किसीके साथ वैर विरोध हो उससे उसी समय क्षमा मांग लेनी चाहिये और अपने आत्मामें क्रोधादिकका संस्कार कभी नहीं रखना चाहिये ।

आगे - एक साथ अनेक जीवोंके रोगीहोनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च भवन्ति चैक-
काले सरोगा बहुजीववर्गाः ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह अनेक जीवोंका समुदाय एक ही समयमें किस पापकर्मके उदयसे एक साथ रोगी होता है।

उत्तर - साधोर्वपुः स्वेदरजःप्रलिप्तं ।
दृष्ट्वा जुगुप्सामकरोत्मणिन्दाम् ।
स्वानन्दतुष्टस्य तथापमानं ।।
स्यादेककालेपि च रोगयुक्तः ।। ६६ ।।

अर्थ - जो अनेकक जीव मिलकर वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंके पसीना और धूलिसे मिले हुए मलिन शरीरको देखकर ग्लानि करते हैं अथवा उनकी निंदा करते हैं अथवा अपने आत्मामें लीन रहनेवाले उन्हीं मुनियोंका अपमान करते हैं ऐसे जीव उस पाप कर्मके उदयसे एकही समयमें रोगी होते हैं।

भावार्थ - वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंकी निंदा करना वा उनको देखकर ग्लानि करना वा उनका अपमान करना महापाप है। मुनिलोग पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन करते हैं। स्नान करने में अनेक जीवोंकी हिंसा होती है। यही कारण कि मुनिलोग आजन्म स्नानके त्यागी होते हैं। तथा गर्मीके दिनोंमें पसीना आता ही है और धूलि उड़कर उसपर जम ही जाती है तथापि वे मुनिराज कभी स्नान नहीं करते, उस शरीरकी मलिनताको सहन करते हैं। वे मुनिराज शरीरको भी पर और हेय समझते हैं, इसलिये वे शरीरसे भी कभी ममत्व वा मोह नहीं करते। वे मुनिराज तो अपने शुद्ध आत्माको ही अपना समझतें हैं और इसी लिये वे सदाकाल उसीमें लीन रहते हैं। ऐसे मुनियोंको देखकर जो अनेक जीव उनकी निंदा करते हैं, उनका अपमान करते हैं उनके लिये बुरे वचन कहते हैं, वा उनके आहार विहारमें प्रतिबंध करते है वा उनसे अरुचि रखते हैं वा उनकी आज्ञाका उल्लंघन करते कराते हैं अथवा और भी किसी प्रकारका उनका विरोध करते हैं ऐसे समस्त जीव एक साथ रोगी होते हैं। उनका सब जीवोंने एक साथ पापका बंध किया इसलिये उन सब का उदय भी एक साथ हो आता है। यही समझकर वीतराग मुनियोंकी निंदा कभी नहीं करनी चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - रोगोंकी शांतिके लिये प्रयत्न करनेपर भी रोग शांत नहीं होता इसका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - रोगोपशान्त्यै च कृते प्रयत्ने ।
तस्योपशांतिर्भवतीह किं न ।।

अर्थ - रोगोंकी शांतिके लिये प्रयत्न करने पर भी उस रोगकी शांति नहीं होती इसका कारण क्या है ?

उत्तर - सरोगिसेवा न कृता प्रदत्तं ।
स्वल्पौषधं रैविपुलं गृहीत्वा ।।
रोगस्य भीतिं च प्रदर्श्य लोभाद् ।
यत्ने कृते नश्यति नुर्न रोगः ।। ६७ ।।

अर्थ - जो पुरुष वैद्य होकर भी रोगीयोंकी सेवा नहीं करता, अथवा अपने तीव्र लोभसे रोगका भय दिखलाकर बहुतसा धन लेकर भी बहुत थोड़ी औषधि देता है वह पुरुष रोगी होनेपर उसकी शांतिके लिये अत्यंत प्रयत्न करने पर भी नीरोग नहीं होता ।

भावार्थ - जो मनुष्य जिस विद्याका जानकार है उसको उस विद्याके द्वारा अपना और दूसरोंका दोनोंका उपकार करना चाहिये । यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि केवल धन बटोर लेना अपना उपकार नहीं हे । धन तो अपने कर्मके क्षयोपशमके अनुसार आता ही है । किंवा अपने आत्माका कल्याण कर लेना, पापकर्मोंको नष्ट कर पुण्यकर्मोंका संचय कर लेना अपना उपकार कहलाता है । तथा उस विद्यासे जिस प्रकार भी दूसरों का उपकार हो उसे उसी प्रकार दूसरोंका उपकार करते रहना चाहिये । यही उस विद्याके प्राप्त होनेका फल है । वैद्योंको रोगियोंकी सेवा भी करनी चाहिये और उचित मूल्य लेकर अच्छी औषधि देनी चाहिये । यदि कोई गुणी निर्धन आजाय तो उसकी विशेष सेवा करनी चाहिये तथा ऐसे निर्धनों के लिये बिना मूल्य औषधि भी देनी चाहिये । जो वैद्य ऐसा नहीं करते हैं तथा अधिक मूल्य लेकर भी अच्छी औषधि नहीं देते वा रोगियोंकी सेवा नहीं करते अथवा अधिक धन लेनेकी इच्छासे रोगको बढ़ा देते हैं वा रोगको असाध्य वा कृष्टसाध्य बतलाकर अधिक धन लेनेकी इच्छा करते हैं, अथवा जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्धनोंसे भी अधिक धन वसूल करलेते हैं ऐसे वैद्य रोगी होनेपर बहुत अधिक कष्ट पाते हैं तथा उस रोगको शांत करनेके लिये उत्तम उपाय करनेपर भी नीरोग नहीं होते हैं।

आगे - गर्भपात होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद स्त्रियश्च।
कौ गर्भपातो भवति प्रभो मे ॥

अर्थ - हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापके करनेसे स्त्रियोंका गर्भपात हो जाता है।

उत्तर - पुत्रो यया मारित एव गर्भे।
तुग्मारणार्थं च विषं प्रदत्तम् ॥
वा गर्भपातं प्रविधाय तुष्येत्।
तस्या भवेदेव हि गर्भपातः ॥ ६८ ॥

अर्थ - जिस किसी स्त्रीने अपने वा दूसरेके पुत्रको गर्भमें ही मार दिया है, अथवा किसी भी पुत्रको मारनेके लिए विष दिया है, अथवा जो गर्भपात करके संतुष्ट हुई है उस स्त्रीका गर्भपात अवश्य ही होता है।

भावार्थ - गर्भमें रहनेवाला बालक अत्यंत दु:खी, अत्यंत लाचार और सर्वथा पराधीन रहता है। उस समय वह थोड़ेसे ही प्रयोगसे मर जाता है। ऐसे लाचार पराधीन पुत्रको मार देना महापाप कहलाता है। जो स्त्री ऐसा महापाप करती है अथवा जो स्त्री अपने या दूसरेके पुत्रको विष देकर मार देती है अथवा जो गर्भपात करके प्रसन्न होती है अथवा सौतके पुत्रोंसे ईर्ष्या द्वेष रखकर उनको दु:ख देती है ऐसी स्त्रीका गर्भपात अवश्य हो जाता है। गर्भपात होना पापका कारण है और इसीलिए वह पुत्र मारने आदि महापापोंके करनेसे ही होता है।

आगे - कुव्यसनोंमें धन खर्च होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च धनाधिशक्ते-।
र्व्ययो भवेद्वा व्यसने जनानाम् ॥

अर्थ - हे प्रभो! अब यह बतलाइये कि किस पापके करने से लोगोंका धन वा अन्य शक्तियां कुव्यसनोमें खर्च को जाती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - धनं कुमार्गे हि हठान्नियोज्य ।
कृत्वा प्रशंसां व्यसनस्थितानाम् ॥
वलान्यभार्यामपहृत्य तुष्येत् ।
तेवां धनादेर्व्यसने व्ययः स्पात् ॥ ६९ ॥

अर्थ - जो पुरुष हठ पूर्वक अपने धनको किसी कुमार्गमें लगा देता है अथवा जो पुरुष कुव्यसनोंमें लीन होनेवाले मनुष्यों की प्रशंसा करता है अथवा जो किसीकी स्त्रीको बलपूर्वक हरण कर संतुष्ट वा प्रसन्न होता है ऐसे पुरुषोंका धन वा शक्ति कुव्यसनोंमें ही खर्च होती है ।

भावार्थ - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील सेवन आदि पापोंके साधनोंको कुमार्ग कहते हैं । तथा जूआ खेलना, मांसभक्षण करना, मद्यपान करना, वेश्या और शिकार खेलना ये सात कुव्यसन कहलाते हैं । ये कुमार्ग वा व्यसन सब पापोंके करनेवाले नरकादिक दुर्गतियोंमें ही जाते हैं । परंतु किसी कारण विशेषसे यदि ऐसे मनुष्य मरकर धनी मनुष्य होजाते हैं तो फिर उनका वह धन दुर्व्यसनोंमें ही खर्च होजाता है । जिन लोगोंको जन्म जन्मांतरसे दुर्व्यसनोंका अभ्यास पड़ा हुआ है ऐसे लोगोंका मन फिर दुर्व्यसनोंमें ही खर्च होता है ।

आगे - सम्यग्ज्ञानमें भी रुचि न होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च न रोचतेऽयं ।
जीवायमिष्टः सुखदः सुबोधः ॥

अर्थ - हे भगवान् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कार्यके करनेसे इस जीवको मिष्ट और सुख देनेवाला श्रेष्ठ ज्ञान भी अच्छा नहीं लगता ।

उत्तर - दत्वा कुशिक्षां व्यसने नियोज्य ।
कृत्वा जनान् देवगुरोश्च निंदाम् ॥
श्रुत्वेति तुष्योद्वचनं खलादेः ।
तस्मै सुबोधोपि न रोचतेऽत्र ॥ ७० ॥

अर्थ - जो पुरुष कुशिक्षा देकर वा दिलाकर प्रसन्न होता है अथवा जो पुरुष अनेक मनुष्योंको कुव्यसनोंमें लगाकर प्रसन्न होता है वा देव शास्त्र गुरुकी निंदा कर प्रसन्न होता है, अथवा दुष्ट वा नीच पुरुषोंके वचनोंको सुनकर प्रसन्न होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है ऐसे पुरुषको अंतमें जाकर भी श्रेष्ठ ज्ञानमें रुचि कभी नहीं होती है ।

भावार्थ - जिनके हृदयमें तीव्रमिथ्यात्व बैठा हुआ है ऐसे ही पुरुष कुशिक्षासे प्रसन्न होते है । जिस शिक्षासे मिथ्यात्वरूप परिणाम हो जाय वा जिस शिक्षासे देव, शास्त्र गुरुकी भक्ति हट जाय, रत्नत्रयसे रुचि हट जाय, सम्यक्चारित्रसे द्वेष करने लग जाय, देवपूजा पात्रदान आदिको बुरा कहने लग जाय, वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंकी निंदा करने लग जाय वा शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लंघन करने लग जाय ऐसी शिक्षाको कुशिक्षा कहते हैं । जो लोग ऐसी शिक्षामें प्रसन्न होते हैं वे लोग मोक्षमार्गसे सदा विपरीत रहते हैं और इसीलिये ऐसे लोग देव शास्त्र गुरुकी निंदा करते हैं वा दुष्टोंके वचनोंको सुनकर प्रसन्न हुआ करते हैं । ऐसे मिथ्यादृष्टी पुरुषोंको भला श्रेष्ठज्ञान वा आत्मज्ञान अच्छा कैसे लग सकता है अर्थात् कभी नहीं लग सकता ।

आगे - चांडालके हाथसे मृत्यु होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापश्च वदेति जन्तो-
श्चण्डालहस्तैर्भवतीह मृत्युः ।

अर्थ- हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापकार्यके करनेसे यह जीव चांडालके हाथसे मारा जाता है ।

उत्तर - दुःखप्रदं हिंसकमेव कृत्यं ।
कृतं हृतं प्राणधनं पशोर्यैः ।।
सुसेवितं वा मधुमद्यमांसं ।
चांडालतः स्यान्मरणं च तेषाम् ।। ७१ ।।

अर्थ- पुरुष अनेक जीवोंको महा दुःख देनेवाले हिंसा करनेवाले कार्य करते रहते हैं, अथवा पशुओंके प्राणरूपी धनको हरण किया करते हैं अथवा जो मद्य मांस मधुका सेवन किया करते हैं ऐसे पापी लोग चांडालके ही हाथसे मारे जाते हैं ।

भावार्थ- चांडालके हाथसे मरना अत्यंत निंदनीय गिना जाता है । तथा महापापकर्मके उदयसे ऐसा समय आता है । जो पुरुष अनेक जीवोंकी हिंसा करते रहते हैं, वा अनेक जीवोंकी हिंसासे होनेवाले व्यापारको करते हैं, जो पशुओंको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मारते हैं, वा पशुओंको पक्षियोंको अनेक प्रकारके दु:ख देते हैं, या मद्यपान करते हैं, मांसभक्षण करते हैं, वा शहद खाते हैं, अथवा अनेक जीवोंसे भरे हुए गूलर, बड, पीपर आदिके फलोंको भक्षण करते हैं ऐसे जीव चांडाल भील आदिके हाथसे मारे जाते हैं और फिर परलोकमें जाकर नरकादिकके दु:ख भोगते हैं ।

आगे - मरकर कुत्ता होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो मे ।
मृत्वा मनुष्यो भवतहि कौ श्वा ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस पापके करनेसे कुत्ता हो जाता है ।

उत्तर - ईर्ष्याभिमानं कुविरोधवैरं ।
करोति यः कोपि मिथो विवादम् ।।
रौद्रार्त्तचिन्तामटनं च कोप- ।
मित्यादिपापात्स भवेत्किल श्वा ।। ७२ ।।

अर्थ - जो पुरुष सदाकाल ईर्ष्या वा अभिमान करता रहता है, प्रत्येकके साथ वैर विरोध करता रहता है वा परस्पर विवाद करता रहता है, आर्तध्यान रौद्रध्यानका चिंतवन करता रहता है, व्यर्थ ही इधर उधर फिरता रहता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे कार्य करता रहता है ऐसा पुरुष मरकर परलोकमें कुत्ता ही होता है ।

भावार्थ - कुत्ताकी पर्याय नीचपर्याय है वह विष्टा मांस आदि निकृष्टसे निकृष्ट पदार्थोंका भक्षण करता रहता है । घर घर फिरता रहता है, प्रत्येक कुत्ताके साथ लड़ता रहता है । तथा जहां जाता है वहां ही दुतकारा जातां है । ऐसी यह कुत्ताकी नीच पर्याय नीच कार्य करनेसे ही प्राप्त होती है । एक दूसरेके साथ ईर्ष्या करना, अभिमान करना, कुत्तोंके ही समान आपसेमें वैर विरोध करना, वा परस्पर विवाद लड़ाई झगड़ा करना, बिना कारणके क्रोध करना, बिना कारणके इधर उधर घूमते रहना, अथवा आर्तध्यान रौद्रध्यानमें लीन रहना आदि कार्य भी नीच कार्य हैं तथा जो मनुष्य इन नीच कार्योंको करता रहता है वह मनुष्य मरकर कुत्ता ही होता है यही समझकर प्रत्येक मनुष्यको इन नीचकार्योंसे बचते रहना चाहिये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - मरकर बिल्ली होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
नरो विडालो भवतीह मृत्वा ।।

अर्थ- हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस किस पापकार्यके करनेसे बिल्ली होता है ।

उत्तर - दुग्धान्नपानाद्यभिलाषतो यो ।
बंधोर्धनादेरपहर्तुकामः ।।
दुर्ध्यानभाग् वा कुटिलः सदा स ।
मृत्वा विडालो भवतीह पापी ।। ७३ ।।

अर्थ - जो पुरुष अन्न, पान, दूध, दहीकी अभिलाषासे अपने भाई बंधुओंके धनको हरण करना चाहता है जो सदा काल मायाचारी करता रहता है वा अशुभ दुर्ध्यान करता रहता है वह मनुष्य मरकर भाग्यहीन विलाव होता है ।

भावार्थ - विलाव होना कुत्तेसे भी नीच और बुरा है । विलाव बहुत मायाचारी होता है तथा जितना खाता नहीं हैं उतना बिगाड़ देता है तथा सदाकाल जीवोंकी घातमें बैठा रहता है । इसी प्रकार जो मनुष्य सदाकाल मायाचारी करनेंमें लगा है, सदा काल दूसरेंका कार्य बिगाड़नेका प्रयत्न किया करता है, वा दूसरोंके धनको हरण करनेकी इच्छा करता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे काम किया करता है वा मायाचारीका चिंतवन किया करता है ऐसे मनुष्य मरकर विलावकी पर्याय पाता है । तथा उस पर्यायमें अनेक हिंसा कर चिरकालतक नरकादिक दुर्गतियोंके दुःख भोगता रहता है । वही समझकर मनुष्योंको सदाकाल ऐसे पापके कार्योंसे बचते रहना चाहिये ।

आगे - सिंहपर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा मनुष्यो भवतीह सिंहः ।।

अर्थ - हे भगवान् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य कैसे पाप करनेसे मरकर सिंह होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - दुर्ध्यानभाग् यः पशुहिंसकोऽस्ति ।
क्रूरस्वभावो जनताविरोधी ।।
मांसप्रलोभी स्वपरात्मघाती ।
मृत्वा स जीवो भवतीह सिंहः ।। ७४ ।।

अर्थ - जो मनुष्य सदाकाल दूसरोंको मारनेका चिंतवन करता रहता है, वा अनेक पशुओंकी हिंसा करता रहता है, जिसका स्वभाव सदाकाल क्रूर रहता है, जो सदाकाल लोगोंका विरोध करता रहता है, जो मांसभक्षणका तीव्रलोलुपी होता है और अपने आत्माका घात करनेराला वा अन्यजीवोंका घात करता रहता है ऐसा मनुष्य मरकर अवश्य ही सिंह होता है ।

भावार्थ - सिंहकी पर्याय महापाप करनेवाली पर्याय है । यही कारण है कि प्रायः सिंह मरकर नरक ही जाता है । ऐसी पापरूप सिंहकी पर्याय महापाप करनेसे ही प्राप्त होती है । सदा काल दुर्ध्यान करते रहना, दूसरोंको मरने मारनेका चिंतवन करते रहना, शिकार खेलकर अनेक पशु पक्षियोंकी हिंसा करते रहना, वा अन्य किसी प्रकारसे अनेक पशुओंकी हिंसा करते रहना अपने स्वभावमें सदा, क्रूरता रखना, साधारण लोगोंके साथ अधिक विरोध रखना, मांसभक्षण करनेमें अत्यंत लोलुपता रखना, वा मद्यपान करनेमें अत्यंत लोलुपता रखना, अपने आत्माको घात करनेका प्रयत्न करना अथवा दूसरोंके घातका प्रयत्न करते रहना वा अन्य ऐसे ही कार्य करना महापाप कहलाते है । इन्ही पापोंके करनेसे यह मनुष्य मरकर सिंह होता है ।

आगे - श्रृगाल पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
ना जंबुकः स्याद् भुवने ह्यभाग्यः ।।

अर्थ- हे भगवान् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापकर्मके करनेसे मरकर इसी लोकमें श्रृगाल होता है ।

उत्तर - मिथ्याप्रलापी जनवंचको यो
वेष्यांकरो वा कलहप्रवीणः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दानादिधर्माद्धि सदैव दूरः
स जंबुकः स्यान्मनुजोऽपि मृत्वा ॥ ७५ ॥

अर्थ- जो मनुष्य सदाकाल मिथ्याभाषण करता रहता है, सदाकाल लोगोंको ठगता रहता है, सबके साथ ईर्ष्या द्वेष करता रहता है, वा सबके साथ कलह करता रहता है, और जो पात्रदान जिनपूजा आदि धर्मकार्योंसे सदा दूर रहता है ऐसा मनुष्य मरकर सृगाल होता है।

भावार्थ - सृगाल गीदड़को कहते है। गीदड़ बहुत ही चालक होता है और प्राय: ठग ठगाकर ही अपना पेट भरा करता है। जो मनुष्य मिथ्याभाषण करनेमें, लड़ाई झगड़ा करने में चतुर होता है वा अनेक जीवोंके साथ ईर्ष्या द्वेष करता रहता है, जो कभी दान नहीं देता, कभीं जिनपूजा नहीं करता, कभी व्रत उपवास नहीं करता, तथा और भी शुभकार्योंसे दूर रहता है ऐसा मनुष्य मरकर गीदड़ ही होता है।

आगे - यह मनुष्य शील और व्रतोंको भंग करनेवाला किस कारणसे होता है यही बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
व्रतं गृहीत्वा त्यजतीह मूढः ॥

अर्थ - हे भगवान् ! अब कृपाकर यह बतलाइये के यह मनुष्य किस किस पापकर्मके करनेसे व्रतोंको ग्रहण करके भी छोड़ देता है।

उत्तर - यः कारयित्वा व्रतशीलभंगं ।
तुष्येत्परेषां प्रविद्याय निंदाम् ॥
साधोश्चरित्रे ह्ययुनक् प्रदोषं ।
स स्यादमुत्रे व्रतशीलभंगी ॥ ७६ ॥

अर्थ - जो मनुष्य दूसरोंके व्रत वा शीलको भंग कराकर प्रसन्न होता है, वा दूसरोंकी निंदा करता है, अथवा जो साधुओंके चारित्रमें दोष लगाता है, ऐसा मनुष्य मरकर परलोकमें अपने व्रत शीलोंको भंग करनेवाला होता है।

भावार्थ - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग ये पांच व्रत कहलाते हैं तथा गुणव्रत शिक्षाव्रतोंको शील कहते हैं। ये व्रत और शील दोनों ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्माका कल्याण करनेवाले हैं और परंपरासे मोक्षके कारण हैं। इसलिए जो मनुष्य इन व्रत और शीलोंको ग्रहण करके फिर छोड़ देता है अथवा इनका भंग करता रहता है अथवा इनमें अधिक अतिचार लगाता रहता है वह मनुष्य बहुत अधिक पापी समझना चाहिये। कल्याण करनेवाले रत्नको पाकर कोई भी नहीं छोड़ता। इसीप्रकार इन व्रतोंको भी लेकर कभी नहीं छोड़ना चाहिये। फिर भी जो मनुष्य इनको धारणकर छोड़ देता है उसके समान कोई भाग्यहीन पापी नहीं है। ऐसा भाग्यहीन पापी मनुष्य पहले जन्ममें दूसरोंके व्रत शील भंग करानेसे होता है, दूसरोंकी निंदा करनेसे होता है, अथवा मुनियोंके पवित्रचारित्रमें दोष लगानेसे होता है। अथवा किसी धर्मात्माको मिथ्याकलंक लगानेसे होता है। यही समझकर भव्य जीवोंको इन पापोंसे सदा बचते रहना चाहिए।

आगे - यह मनुष्य किस पापके करनेसे मरकर गायकी पर्याय पाता है यही कहते हैं।

प्रश्न - कस्मादि पापाच्च वद प्रभो ! मे।
मृत्वा मनुष्यो भवतीह धेनुः ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापके करनेसे यह मनुष्य मरकर गायका शरीर धारण करता है।

उत्तर - आचारहीनश्च विचारशून्यो
ह्यभक्ष्यभक्षी भुवि केवलं यः।
पानान्नलोभी खलु मंदबुद्धिः
स स्यादमुत्रे मनुजोऽपि धेनुः ॥ ७७ ॥

अर्थ - जो मनुष्य सदाचारसे रहित है, विचारशून्य है, अभक्ष्य भक्षण करनेवाला है, अन्नपानका अत्यंत लोलुपी है, अथवा जो मंदबुद्धि है ऐसा मनुष्य मरकर परलोकमें गायकी पर्याय प्राप्त करता है।

भावार्थ - गाय बहुत भोली-भाली होती है। इसलिए जो पुरुष इस जन्ममें आचार विचार करते, चाहे जहां, चाहे जिसके घर, चाहे जिसके हाथका खा लेते हैं जो खाने-पीने वा रहन-सहन विचार नहीं करते, न भक्ष्य अभक्ष्यका विचार करते हैं, तथा जो अन्नपानके तीव्रलोलुपी बने रहते हैं और जिनकी बुद्धि अत्यंत मंद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है ऐसे मनुष्य मरकर गायका जन्म लेते हैं ।

आगे - भैंस वा भैंसाकी पर्याय किस कारणसे प्राप्त होती है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा मनुष्यो महिषो भवेत्कौ ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस कारणसे भैंस वा भैंसा होता है ।

उत्तर - धर्मोपदेशं सुखदं न श्रुत्वा ।
गृह्णाति यः केवलमेव दोषम् ।।
वाऽशान्तिमेकां विषमां करोति ।
स स्याद्धि मृत्वा महिषो ह्यभाग्यः ।। ७८ ।।

अर्थ- जो पुरुष धर्मके उपदेशको कभी नहीं सुनता तथा केवल दोषको ही ग्रहण किया करता है तथा इस संसारमें जो केवल एक अशांति को ही उत्पन्न किया करता है ऐसा पुरुष मरकर भैंसा होता है ।

भावार्थ- भैंसा बहुत हठीला, उपद्रव करनेवाला, और कभी न शांत रहनेवाला पशु है । इसलिए जो मनुष्य सदा अशांति फैलाया करता है कभी सामाजिक झगड़े वा कभी धार्मिक झगड़े उत्पन्न किया करता है, जो पुरुष कभी देशके झगड़े उत्पन्न करता है, कभी राज्यके झगड़े उत्पन्न करता है, कभी कुटुंबके झगड़े वा कभी भाइयोंके झगड़े उत्पन्न किया करता है अथवा जो धर्मकार्योंकी ओर कभी ध्यान नहीं देता जो सदा दूसरोंके दोषोंको ही ग्रहण किया करता है । ऐसा पुरुष मरकर भैसा ही होता है जो इस पर्यायमें आकर भी उपद्रव किया करता है ।

आगे - बकरा होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा मनुष्योऽपि भवेदजः कौ ।।

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस कारणसे बकरा होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - वृथैव गच्छेद्धि वदेद् वसेद् वा ।
करोत्यकार्यं नयनं निमील्य ॥
निजप्रशंसां च परप्रणिन्दां ।
कृत्वेति तुष्येत्स भवेदजः कौ ॥ ७९ ॥

अर्थ - जो मनुष्य बिना प्रयोजनके व्यर्थ ही इधर उधर घूमता फिरता है, व्यर्थ ही बकवाद करता फिरता है, और व्यर्थ ही इधर उधर रहता फिरता है तथा जो अपने नेत्रोंको बंदकर निंदनीय कार्य किया करता है, अथवा अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा करके बहुत प्रसन्न होता है ऐसा मनुष्य मरकर इसी पृथ्वीपर मरकर बकरा होता है ।

भावार्थ - बकराकी पर्याय नीच पर्याय है उसको सदाकाल मरनेका भय लगा रहता है, तथा भूख प्यासके महादु:ख भोगा करता है । ऐसी नीच पर्याय नीच और व्यर्थके काम करनेसे ही होती है । जो मनुष्य बिना कामके बाजारमें वा गलियोंमें इधर उधर घूमा करता है, अथवा जो बिना प्रयोजनके अनेक प्रकारकी बकवाद किया करता है, और जो चाहे जहां रह जाता है, जो किसी प्रकारका विचार किये बिना बुरेसे बुरा काम कर डालता है, जो अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होता है तथा दूसरे की निंदा सुनकर वा स्वयं दूसरोंकी निंदा करके प्रसन्न होता है अथवा जो पुरुष अन्य ऐसे ही ऐसे नीच कार्योंको करता रहता है ऐसा पुरुष मरकर बकरा होता है ।

आगे - कौआकी पर्याय प्राप्त करनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा मनुष्यो भवतीह काकः ॥

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस पापकार्यके करनेसे कौआ होता है ।

उत्तर - वस्तु ह्यभक्ष्यं मलिनं च निंद्यं ।
यश्चात्ति मांसं कटुकं ब्रवीति ॥
दु:खप्रदं कर्कशमेव वाक्यं ।
मृत्वा स मर्त्यो भवतीह काकः ॥ ८० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ- जो मनुष्य अभक्ष्य मलित और निंदनीय पदार्थोंका भक्षण करता है और जो दु:ख देनेवाले कठोर और कड़वे वाक्य ही बोला करता है ऐसा मनुष्य मरकर कौआ होता है ।

भावार्थ- कौआ अत्यंत निंदनीय पक्षी है वह अभक्ष्य भक्षण करता रहता है। मलिन निंद्य पदार्थोंका भक्षण करता है, मांस भिष्टा आदिका भक्षण करता है और सदाकाल कठोर वचन बोला करता है । यहांतक कि इस संसारमें उसका बोलना अपशकुन माना जाता है । ऐसे निंद्य पक्षीकी पर्याय निंद्य काम करनेसे ही प्राप्त होती है । जो मनुष्य कौओं के समान अभक्ष्य भक्षण किया करते हैं, मलिन पदार्थोंका भक्षण किया करते हैं, निंदनीय पदार्थोंका भक्षण किया करते हैं, मद्यमांस मधुका सेवन किया करते हैं वा उदंबर फलोंका भक्षण किया करते हैं अथवा जो कौओंके समान कठोर दुर्वचन कहा करते हैं, निंदनीय वचन कहा करते हैं वा दूसरोंकी निंदा किया करतेहैं ऐसे मनुष्य मरकर इन्हीं पापोंके कारण कौओंकी पर्याय प्राप्त करते हैं ।

आगे - दुष्ट होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा मनुष्यो भवतीह दुष्टः ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मनुष्य किस किस पापके करनेसे मरकर दुष्ट होता है ।

उत्तर - दुष्टस्य येन व्यसनस्यजन्तोः ।
साधोः समं वा विषमं विवादः ।।
मिथ्यात्वमूढस्य कृता प्रशंसा ।
मृत्वा स मर्त्यो भवतीह दुष्टः ।। ८१ ।।

अर्थ - जो मनुष्य इस जन्ममें किसी दुष्टको साथ वादविवाद करता है वा किसी जुआरी वा चोर आदि व्यसनियोंके साथ वादविवाद करता रहता है । अथवा जो साधु सज्जनोंके साथ विवाद करता रहता है । अथवा जो मनुष्य मिथ्यादृष्टी अत्यंत मूर्ख मनुष्योंकी प्रशंसा किया करता है ऐसा मनुष्य मरकर दुष्टमनुष्य होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ - दुष्टमनुष्य सबके साथ दुष्टता किया करता है, तथा विशेषत: सज्जनोंके साथ वा वीतराग निर्ग्रंथ साधुओंके साथ दुष्टता किया करता है। ऐसा दुष्टमनुष्य दुष्ट वा नीच काम करनेसे ही उत्पन्न होता है। जो मनुष्य दुष्टमनुष्योंमें रहता है, दुष्टमनुष्योंकी प्रशंसा किया करता है, दुष्टमनुष्योंसे दुष्टताके काम सीखता है, वा मिथ्यादृष्टियोंके साथ रहकर मिथ्यात्वकी वृद्धि करता है, वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंकी निंदा करता है, उनके साथ वादविवाद करना चाहता है, वा उनका तिरस्कार करता है, अथवा जो अन्य ऐसे ही दुष्टताके कार्य किया करता है ऐसा मनुष्य मरकर फिर भी महादुष्ट होता है और फिर अनेक दुष्टताके काम कर नरक आदि दुर्गतियोंके महादु:ख भोगता रहता है। यही समझ कर मनुष्योंको कभी दुष्टता नहीं करनी चाहिए। सज्जनोंके ही साथ अपनी संगति रहनी चाहिए और सदाकाल धर्मकार्यमें लगे रहना चाहिए।

आगे - व्यभिचारी होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्याद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा नर: स्याद्व्यभिचारसेवी ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापके करनेसे मरकर व्यभिचारी मनुष्य होता है।

उत्तर - वेश्यादिकानां च कुशीलजन्तो: ।
संग: कृतो दुष्टजनादिकानाम् ॥
क्रीडा समं येन नपुंसकेन ।
मृत्वा नर: स्याद्व्यभिचारभाक् स: ॥ ८२ ॥

अर्थ - जो मनुष्य इस जन्ममें वेश्याओंकी संगति करते हैं, अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी संगति करते हैं व दुष्ट लोगोंकी संगति करते हैं, अथवा जो नपुंसकोंके साथ क्रीड़ा करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर व्यभिचारी होते हैं।

भावार्थ - व्यभिचार सेवन करना महापाप हैं, जो पुरुष व्यभिचार सेवन करता है वा व्यभिचार सेवन करनेकी इच्छा करता है वह मनुष्य भी रावणके समान अत्यंत निंदित होकर नरकादिक दुर्गतियोंके दु:ख भोगता है। रावणने व्यभिचार सेवन करनेकी इच्छामात्र ही की थी उसीके फलसे आजतक उसकी निंदा हो रही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है तथा वह रावणका जीव आजतक नरकमें पड़ा दु:ख भोग रहा है। इसलिए व्यभिचार सेवन करनेकी कभी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये। जो मनुष्य व्यभिचारी जीवोंके साथ उठता बैठता है वेश्याओंकी संगतिमें रहता है वा अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी संगतिमें रहता है, वा अन्य चोर जुआरी आदि दुष्ट लोगोंकी संगतिमें रहता है वा अनंगक्रीडा करता है हिजड़ोंकी संगतिमें रहता है वा उनके साथ क्रीड़ा करता है ऐसा मनुष्य इस लोकमें भी व्यभिचारी बन जाता है और मरकर भी तीव्र व्यभिचारी होता है। जहांसे मरकर फिर वह नरकादिक दुर्गतियोंके दु:ख भोगता है। इसलिए भव्य जीवोंको कभी भी दुष्ट संगतिमें नहीं बैठना चाहिये।

आगे - पागल होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्याद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।
मृत्वेति मर्त्यो ग्रहिलो भवेत्कौ।

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पाप-कार्यके करनेसे यह मनुष्य मरकर अगले जन्ममें पागल हो जाता है।

उत्तर - मंत्रैश्च तंत्रैर्ग्रहिलोन्यजीव:।
कृतश्च, कृतवा ग्रहिलापमानम्॥
वारोप्य तस्योपरि रोषदोषं।
तुष्येत्स मृत्वा ग्रहिलो नर: स्यां॥ ८३॥

अर्थ - जो मनुष्य किसी मंत्रसे वा किसी तंत्रसे अन्य जीव को पागल बना देता है, अथवा जो पागल जीवोंका अपमान करता है अथवा जो उस पागलके ऊपर क्रोधित होनेका दोष आरोपण कर संतुष्ट होता है ऐसा मनुष्य मरकर अगले जन्ममें पागल होता है।

भावार्थ - पागल मनुष्योंका जीवन भी व्यर्थ है। वह न तो कुछ धर्मकर्म कर सकता है और न घर गृहस्थीका काम कर सकता है। पागल मनुष्य केवल इधर उधर घूमता रहता है। उसे न खानेका ध्यान है न पीनेका ध्यान है और न पहरनेका ध्यान है। यदि नंगा है तो नंगा ही घूमता रहता है। ऐसा पागल मनुष्य पापकर्मके उदयसे ही होता है। जो मनुष्य किसी मंत्रतंत्र से किसी मनुष्यको पागल बना देता है वा किसी पागलका अपमान करता है अथवा जो ऐसी ही ऐसी अन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी प्रकारकी मायाचारी करता है वह मनुष्य मरकर अगले जन्ममें अवश्य ही पागल होता है ।

आगे - बन्दीगृहमें पड़नेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
जीवाः स्वयं बन्दिगृहे पवन्ति ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि ये जीव किस किस पापकार्यके करनेसे अपने आप बंदीगृहमें जा पड़ते हैं ।

उत्तर - कारागृहे यैरपराधमुक्ता ।
जीवा बलाद् बन्दिगृहे बनादौ ।।
उक्त्वानृतं वा विपदेऽहि वद्धाः ।
स्वयं व्यथादौ खलु ते पतन्ति ।। ८४ ।।

अर्थ - जिन मनुष्योंने अपराधरहित जीव भी उनके आपत्तिमें डालनेके लिये झूठ बोलकर तथा बलपूर्वक बंदीगृहमें डाल दिया है अथवा किसी वनमें लेजाकर बंदीगृहमें डाल दिया है ऐसे जीव अगले जन्ममें जाकर अनेक विपत्तियोंको सहन करने के लिये अपने आप बंदीगृहमें जा पहुंचते हैं ।

भावार्थ - निरपराध जीवोंको दु:ख देना वा उनको झूठ बोलकर वा झूठा दोष लगाकर बंदीगृहमें डाल देना, वा मिथ्या कलंक लगाकर देश निकाला दे देना, वा किसी निर्जन बनमें छोड़ देना महापाप कहलाता है । क्योंकि ऐसा करनेसे उस जीवको महादु:ख होता है । इसलिए जो जीव ऐसा पाप करते हैं उन मनुष्योंको अगले जन्ममें किसी न किसी बहानेसे बंदीगृहमें अवश्य जाना पड़ता है । वहांपर उन्हें अनेक प्रकारके दु:ख भोगने पड़ते हैं तथा वहांसे निकलकर अन्य दुर्गतियोंके दु:ख भोगने पड़ते हैं । यही समझकर निरपराध जीवोंको कभी सताना नहीं चाहिये और न उनको कभी मारना चाहिये ।

आगे - उत्पन्न होते ही मरजानेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
स्वजन्मकाले म्रियते हि जीवः ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पापकार्यके करनेसे जन्म लेते ही समय मर जाता है ।

उत्तर - यैर्जन्मकाले हि परे च जीवा: ।
सुमारिता वा खलु छेदिताश्च ।।
कृतो वियोगो जनवान्धवानां ।
ते जन्मकाले मनुजा म्रियन्ते ।। ८५ ।।

अर्थ - जो मनुष्य अन्य जीवोंको उत्पन्न होते ही मार देते हैं वा छेदन भेदन करदेते हैं अथवा किसी भी जीवको उसके माता पितासे वा भाई बंधुओंसे अलग कर देते हैं ऐसे जीव अगले जन्ममें जाकर जन्म होते ही मरजाते हैं ।

भावार्थ - जन्म होते ही किसी जीवको मार देना बहुत बड़ा पाप हैं । क्यों कि उस समय उसकी अवस्था अत्यंत शोचनीय बलहीन और परवश होती है । उस समय वह कुछ नहीं कर सकता यहांतक कि रो भी नहीं सकता । ऐसी अवस्थामें किसी भी दूसरे के बच्चेको मार देनेके समान अन्य कोई पाप नहीं है । मार देना वा छेदन भेदन कर देना एक ही बात है । इसी प्रकार उत्पन्न होते ही किसी बालकको उसके माता पितासे अलग कर देना या भाई-बंधुओंसे अलग कर देना भी बड़ा पाप है । क्योंकि जिन लोगोंसे वह बालक अलग कर दिया जाता है उनको महादु:ख होता है । इसी प्रकार किसी बालकके मार देनेपर भी उसके माता-पिता वा कुटुंबियोंको बहुत दु:ख होता है । इसी महापापके कारण ऐसा मनुष्य मरकर उत्पन्न होते मार दिया जाता है अथवा स्वयं मर जाता है । यही समझकर भव्यजीवोंको कभी किसी बालकको न मारना चाहिए और उसके मातापितासे उसको अलग करना चाहिए ।

आगे - निंदनीय होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
भवन्ति जीवा भुवि निंदनीया: ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पापके करनेसे इस संसारमें निंदनीय वा निंदा करने योग्य उत्पन्न होते हैं ।

उत्तर - धर्मस्य देवस्य गुरोश्च निंदां ।
वाऽधार्मिकाणां च कृत: प्रसंग: ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यैर्भक्षितं चान्यधनं ह्यभक्ष्यं ।
भवन्ति कौ ते जननिंदनीयाः ॥ ८६ ॥

अर्थ - जो मनुष्य देव, धर्म वा गुरुकी निंदा करते हैं, अथवा जो अधार्मिक पुरुषोंकी संगति करते हैं, अथवा जो दूसरोंका धन भक्षण करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर परलोकमें समस्त जीवोंके द्वारा निंदनीय होते हैं।

भावार्थ - जो मनुष्य इस संसारमें निंदनीय होता है उसे सब लोग घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। कोई उसका विश्वास नहीं करता और सब लोग उसका अपमान करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसा निंदनीय मनुष्य होना महापापका फल है। तथा वह ऐसा महापाप देव, शास्त्र, गुरुकी निंदा करनेसे होता है। देव, शास्त्र, गुरु परम वीतराग हैं, सर्वथा वीतरागताका उपदेश देते हैं, कभी किसीसे कुछ चाहते नहीं, सदाक़ाल अपने आत्माके कल्याणमें वा अन्य भव्यजीवोंके कल्याण करनेमें लगे रहते हैं। ऐसे परमपूज्य देव, शास्त्र, गुरुका तिरस्कार करना महापापका कारण है और ऐसे ही पाप करनेसे यह जीव निंदनीय वा घृणास्पद होता है। इसके सिवाय अधर्मात्मा वा पापी जीवोंकी संगति करनेसे भी अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न होते रहते हैं। प्रायः धर्महीन मनुष्योंकी संगतिसे ही देव, शास्त्र, गुरूकी निंदा की जाती है। अथवा ऐसे पापियोंकी संगतिसे ही अभक्ष्यभक्षण और परधन हरण आदि महापाप किए जाते हैं तथा इन्हीं पापोंके कारण यह जीव परलोकमें जाकर अत्यंत निंदनीय होता है। इसलिए भव्यजीवोंको पापियोंकी संगति कभी नहीं करनी चाहिए। ऐसे पापकर्योंसे सदा बचते रहना चाहिए।

आगे - अपमृत्यु होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
प्राप्नोति जीवः सहसापमृत्युम् ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापके करनेसे इस जीवको अकस्मात् अपमृत्यु होजाती है।

उत्तर - दत्वान्यजीवाय विषं च तुष्येत् ।
विषाद्विलोक्यैव परस्य मृत्युम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रक्षिप्य वह्नौ ह्यसिना च हत्वा ।
तस्यापमृत्युः सहसा भवेत्कौ ।। ८७ ।।

अर्थ - जो पुरुष किसी जीवको विष देकर संतुष्ट होता है, अथवा विषके देनेसे होनेवाली किसी की मृत्युको देखकर संतुष्ट होता है, अथवा जो किसी जीवको अग्निमें फेंककर वा किसीको तलवारसे मारकर प्रसन्न होता है ऐसा मनुष्य अकस्मात् होनेवाली अपमृत्युसे मरता है ।

भावार्थ - किसीको विष देकर मारना या अग्निमें फेंककर मार देना वा तलवार बंदूकसे मार देना वा अन्य किसी प्रकारसे जीवोंको मार देना महापाप माना जाता है । ऐसा महापाप करनेवाला मनुष्य अपमृत्युसे मरता है और मरकर नरकादिक दुर्गतियोंमें पहुंचकर चिरकालतक दुःख भोगता रहता है । अपमृत्यु भी पापकर्मके उदयसे ही होती है । तथा पापका फल देनेके लिये ही होती है, यही समझकर भव्य जीवोंको सदाकाल पापसे डरते रहना चाहिये ।

आगे - धन घर आदिके जल जानेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
प्रदह्यते नु ह्यनलैर्गृहादिः ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापकार्यके करनेसे इस जीवका घर धन आदि जल जाता है ।

उत्तर - विध्वंसने धान्यधनादिकानां ।
येन प्रयत्नो दहने कृतश्च ।।
दग्धं परेषां सधनं गृहादिः ।
प्रदह्यते तस्य धनं गृहादिः ।। ८८ ।।

अर्थ - जो मनुष्य दूसरोंके धन धान्यादिकोंके नाश करनेका प्रयत्न करते रहते हैं, वा दूसरोंके घर धन आदिके जलानेका प्रयत्न किया करते हैं अथवा जिन्होंने दूसरोंका धन वा घर जला दिया है ऐसे मनुष्योंका धन व घर अग्निसे अवश्य जल जाता है ।

भावार्थ - दूसरोंके घरमें अग्नि लगा देना, वा धन नष्ट कर देना, रहनेका स्थान नष्ट कर देना वा जीविका नष्ट कर देना अथवा और भी ऐसे ही ऐसे पाप करना महापापका कारण है । ऐसे पापोंके करनेसे पापकर्मोंका बंध होता है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस कर्मके उदयसे उसका घर धन आदि सब जल जाता है वा नष्ट होजाता है। इसलिए भव्य जीवोंको कभी ऐसा चिंतवन नहीं करना चाहिये।

आगे - स्त्री पुत्रादिक के वियोगका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वंद प्रभो ! मे।
भार्यादिबंधोश्च भवेद् वियोगः ॥

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि स्त्री-पुत्र, भाई, बंधु आदि इष्ट जनोंका वियोग किस किस पापकार्यके करने से होता है।

उत्तर - यैश्चान्यभार्यादिवियोगकार्ये।
दत्तानुमोदश्च कृतः प्रयत्नः ॥
सवकार्यसिध्यै हि परापमानै-।
स्तेषां वियोगः स्वजनैः समं स्यात् ॥ ८९ ॥

अर्थ - जिन जीवोंने पहले जन्ममें अन्य जीवोंकी स्त्री, पुत्र, भाई आदि कुटुंबी लोगोंके वियोग करने में प्रयत्न किया है, वा अनुमोदन की है अथवा अपने कार्यकी सिद्धिके लिये दूसरोंका अपमान किया है ऐसे लोगोंको अगले जन्ममें जाकर अपने कुटुंबी लोगोंका वियोग सहन करना ही पड़ता है।

भावार्थ - किसीकी स्त्रीका वियोग करना किसीके पुत्रका वियोग करना वा किसी के भाई का वियोग करना पापका ही कारण है। तथा जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। यही कारण है कि जो दूसरोंके बच्चोंका वा स्त्री पुत्रादिकोंका वियोग करता है परलोकमें जाकर उसके पुत्र, स्त्री आदिका वियोग अवश्य होता है। यही समझकर किसी के कुटुंबका वियोग कभी नहीं करना चाहिये।

आगे - धन नाश होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।
धनस्य नाशो भवतीह नृणाम् ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मनुष्योंके धनका नाश किस पापकार्यके करनेसे होता है।

उत्तर - कृतो धनादेर्हरणे प्रयत्नो।
द्वारेण राज्ञः किल कारितो यैः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौरादिद्वारेण परस्य हानिः ।।
धनादिनाशो भवतीह तेषाम् ।। ९० ।।

अर्थ - जो पुरुष दूसरोंके धनको हरण करनेका प्रयत्न करता है अथवा जो राजा आदिके द्वारा दूसरोंके धनको हरण करनेका प्रयत्न करता है, अथवा जो चोर जुआरी आदिकी सहायतासे दूसरोंको हानी पहुंचाता है उस पुरुषके धन आदिका नाश अवश्य होता हैं ।

भावार्थ - अनेक लोग ऐसे होते हैं जो दूसरोंकी हानि पहुंचानेमें अत्यंत प्रसन्न होते हैं । यदि वे स्वयं हानि नहीं पहुंचा सकते, तो फिर किसी चोरकी सहायतासे हानि पहुंचा देते हैं अर्थात् चोरी करवा देते हैं, लुटवा देते हैं, अथवा राजा वा राजकर्मचारियोंके द्वारा हानि पहुंचा देते हैं, परस्पर लड़ाकर हानि पहुंचवा देते हैं, अथवा अन्य कितने ही कारणोंसे हानि पहुंचवा देते हैं ऐसे जीवोंके परिणाम सदा अशुभ रहते हैं और उन परिणामोंके निमित्तसे बंधे हुए कर्मोंके उदयसे किसी न किसी प्रकारसे उनके धनका भी सर्वथा नाश हो जाता है । चाहे वह धनका नाश चोरीसे हो, वा राज्यकी ओरसे हो, वा व्यापारके घाटेसे हो वा अन्य आकस्मिक कारणोंसे हो, परंतु अवश्य हो जाता है । यही समझकर बुद्धिमान् जीवोंको दूसरोंकी हानि करनेका चिंतवन कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे - कंठमाला होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
ग्रंथिश्च कंठे भवतीह जन्तोः ।।

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापकर्मके करनेसे इस जीवके गलेमें गांठे व कंठमाला हो जाती है ।

उत्तर - पीडान्यकण्ठे खलु येन दत्ता ।
वा दापिता द्वेषवशाद्धि निंदा ।।
कौ ग्रन्थिजीवस्य कृता कुचेष्टा ।
ग्रंथिर्हि कण्ठे भवतीह तस्य ।। ९१ ।।

अर्थ - जो मनुष्य अन्य जीवोंके कंठमें दुःख पहुंचाया करते हैं, अथवा किसी द्वेषके कारण दूसरोंके द्वारा पीड़ा पहुंचवाया करते हैं अथवा किसीकी निंदा किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हैं, अथवा किसी जीवके गलेमें होनेवाली गांठकी कुचेष्टा किया करते हैं ऐसे जीवोंके कंठमें अवश्य ही गांठ उत्पन्न होजाती है।

भावार्थ - कंठमें गांठका उत्पन्न होजाना कंठमाला कहलाती है। यह कंठमाला कष्टसाध्य वा असाध्य रोग कहलाता है। तथा वर्षोंतक दुःख देता रहता है, यह ऐसा रोग पापकर्मके उदयसे ही होता है। तथा वह पापकर्म दूसरोंको दुःख देनेसे ही बंधता है जो लोग दूसरोंके कंठमें छेदन भेदन कर दुःख पहुंचाया करते है, जो स्वयं दुःख नहीं पहुंचा करते वे दूसरोंके द्वारा पहुंचाया करते हैं वा झूठी निंदा किया करते हैं, अथवा जिस किसी जीवके कंठमें गांठ उठी है, उसकी हँसी किया करते हैं वा दुःख पहुंचाने की नियतसे उसकी गांठको छिन्न भिन्न किया करते है, अथवा अन्य कितने ही उपायोंसे दुःख पहुंचाने की चेष्टा किया करते हैं ऐसे पुरुषोंके गले में ऐसी ही कंठमाला होती है और उससे वे महादुःखी हुआ करते हैं। यही समझकर किसी रोगीको कभी दुःख नहीं देना चाहिये। रोगीकी सदा सहायता करते रहना चाहिये।

आगे - ऊंटकी पर्याय प्राप्त करनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।
मर्त्यः किलोष्ट्रो भवतीह मृत्वा ॥

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापके करनेसे यह मनुष्य मर कर ऊंट होता है।

उत्तर - नमेन्न देवं न गुरुं न शास्त्रं।
बाऽधो महीं यो न विलोक्य गच्छेत् ॥
उदण्डवृत्तिश्च धनेन मत्तो।
मृत्वा किलौष्ट्रः स भवेदभाग्यः ॥ ९२ ॥

अर्थ - जो मनुष्य न तो अरहंतदेवको नमस्कार करता है न वीतराग निर्ग्रंथ गुरुको नमस्कार करता है, अथवा जो ऊंची नीची भूमिको देखकर नहीं चलता तथा जो सदा काल उद्दंडवृत्तिको धारण करता रहता है और धनके मदसे उन्मत्त रहता है ऐसा मनुष्य मरकर परलोकमें भाग्यहीन ऊंट होता है।

भावार्थ - ऊंटकी पर्याय एक निकृष्ट पर्याय है। उसकी चाल सवारी आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब निकृष्ट कहलाती है। ऐसी निकृष्ट और उद्धत पशुकी पर्याय निकृष्ट और उद्धत काम करनेसे ही प्राप्त होती है। जो मनुष्य मदोन्मत्त वा उद्धत होकर देव, शास्त्र, गुरु आदि किसीको नमस्कार नहीं करता, अथवा जो ऊंची नीची भूमिको देखकर नहीं चलता अपनी उन्मत्ताके कारण बिना देखे चलता है। अथवा जो सदा काल उद्दंडवृत्तिको धारण करता रहता है और अपने धनके मदसे उन्मत्त होकर किसीको कुछ नहीं गिनता ऐसा उद्धत और उन्मत्त मनुष्य मरकर ऊंट होता है।

आगे - हाथीकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।
जीवो गजः कौ भवतीह मृत्वा ॥

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पापके करनेसे मरकर हाथीकी पर्यायमें पहुंचता है।

उत्तर - व्रतोपवासं न तपो जपं वा।
सद्धर्मदेवादिगुरोर्न सेवाम् ॥
कृत्वाऽकरोत्केवलदेहपुष्टं।
मृत्वा मनुष्योऽपि गजो भवेत्सः ॥ ९३ ॥

अर्थ - जो मनुष्य न तो कभी व्रत उपवास करता है, न तपश्चरण करता है, न जप करता है और न देव धर्म गुरुकी सेवा करता है। इस प्रकार धार्मिक कार्योंको न करता हुआ जो केवल शरीरको पुष्ट किया करता है ऐसा मनुष्य मरकर हाथी ही होता है।

भावार्थ - जिस प्रकार हाथीकी पर्याय केवल शोभाके लिए है किसी कामके लिए नहीं है तथा उसके खानेका खर्च भी बहुत अधिक है। ऐसी यह पर्याय उन्हीं जीवोंको प्राप्त होती है जो मनुष्य पर्याय पाकर भी व्रत, उपवास, जप, तप, आदि कुछ नहीं करते हैं, न कभी श्रेष्ठधर्मको धारण करते हैं और न कभी देव, शास्त्र, गुरुकी सेवा करते हैं। इस प्रकार जो मनुष्य एक भी धार्मिकक्रियाको न करते हुए केवल शरीरको पुष्ट करनेके लिये भोजन किया करते हैं अथवा शरीरको ही पालन पोषण करनेमें रात दिन लगे रहते हैं ऐसे पुरुष मरकर हाथी ही होते हैं। अत एव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्य जन्म पाकरके व्रत, उपवास, जप, तप आदि धार्मिक कार्योंका करना अत्यंत आवश्यक होजाता है। प्रत्येक मनुष्यको अवश्य करना चाहिये।

आगे - जोंककी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।
मृत्वा मनुष्यश्च भवेद् जलौक: ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर बतलाइये कि यह जीव किस किस पापके करनेसे जोंककी पर्याय प्राप्त करता है।

उत्तर - सुखप्रदान् दु:खहरान् परेषां।
त्यक्त्वा गुणान् ये भवदान् प्रदोषान् ॥
गृह्णन्ति कुर्वन्ति सदापमानं।
मृत्वा जलौका भुवि ते भवन्ति ॥ ९४ ॥

अर्थ - जो मनुष्य प्रत्येक जीवको सुख देनेवाले तथा दु:खोंको दूर करनेवाले दूसरों के श्रेष्ट गुणों को छोड़कर केवल जन्म मरणरूप संसारको बढ़ानेवाले दोषोंको ही ग्रहण किया करते हैं तथा जो सदाकाल श्रेष्ठ गुणोंका वा सज्जनोंका अपमान किया करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर इस संसारमें जोंककी पर्याय प्राप्त करते हैं।

भावार्थ - जोंककी पर्याय अत्यंत निंदनीय पर्याय है यदि जोंकको दूध देनेवाले किसी थन पर भी लगादी जाय तो भी वह दूध ग्रहण किया करती है। इसी प्रकार जो मनुष्य उत्तमसे उत्तम गुणवालोंके समीप रहते हुए भी उनके उत्तम गुणोंको ग्रहण नहीं करते तथा उनके दोषोंको ही ग्रहण किया करते हैं अथवा जो उत्तम गुणियोंमें भी मिथ्या दोष लगा देते हैं ऐसे मनुष्य मरकर जोंक ही होते हैं। जो इस पर्यायमें दूध जैसे उत्तम पदार्थको छोड़कर रुधिर ही ग्रहण करते हैं।

आगे - उलूक वा उल्लूकी पर्याय प्राप्त होने का कारण बदलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।
मृत्वा मनुष्यो भुवि कौशिक: स्यात् ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापके करनेसे मरकर उल्लूकी पर्याय प्राप्त करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - कुर्वन्ति देवस्य न दर्शनं ये ।
पिबन्ति साधोर्वचनामृतं न ।।
दूरऽतिदूरे गुरुतो भ्रमन्ति ।
भवन्ति मृत्वा खलु कौशिकास्ते ।। ९५ ।।

अर्थ - जो मनुष्य न तो कभी भगवान् अरहंत देवके दर्शन करता है न कभी वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके वचन रूपी अमृतका पान करता है तथा जो वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंसे दूर दूर रहते हैं उनके समीप तक नहीं जाते ऐसे मनुष्य मरकर उल्लूकी पर्याय प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - जिस प्रकार उल्लू दिनमें किसीके दर्शन नहीं कर सकता, आंखे बंद कर छिप जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य मनुष्य पर्याय प्राप्त करके भी भगवान् अरहंत देवके दर्शन कभी नहीं करता, न वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके दर्शन करता है और न उन गुरुओंके मोक्षमार्गको निरूपण करनेवाले अमृतमय वचनों को सुनता है तथा तीव्रमिथ्यात्वके कारण जो गुरुओंके समीप तक नहीं जाता है ऐसा मनुष्य मरकर उल्लूकी पर्याय प्राप्त करता है ।

आगे - डांस मच्छरोंकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा मनुष्याश्च भवन्ति दंशाः ।।

अर्थ - हे स्वामिन ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापके करनेसे यह मनुष्य मरकर डांस वा मच्छरोंकी पर्याय प्राप्त करता है ।

उत्तर - गुरोः पुरो ये स्तवनं नतिं वा ।
कुर्वन्ति पश्चात् खलु तत्प्रणिन्दाम् ।।
सदापमानं च पुरः परेषां ।
मृत्वा नरास्ते च भवन्ति दंशाः ।। ९६ ।।

अर्थ - जो मनुष्य वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके सामने उनकी स्तुति किया करते हैं वा उनको नमस्कार करते हैं और उन मुनियोंके पीछे उनकी निंदा किया करते हैं तथा अन्य लोगोंके सामने उन्हीं मुनियोंका अपमान किया करतै हैं ऐसे मनुष्य मरकर डांस मच्छरकी ही पर्याय प्राप्त करते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ - मच्छर जिस प्रकार कानपर कर गीत सुनाया करता है और फिर समय पाकर पीछेसे काट लिया करता है उसी प्रकार जो मनुष्य वीतराग मुनियोंके सामने तो उनकी स्तुति किया करते हैं वा उनको नमस्कार भी करते हैं परंतु उनके पीछे उनकी निंदा किया करते हैं वा उनमें मिथ्या कलंक लगाया करते हैं अथवा उनके लिए अन्य कितने ही प्रकारके दुर्वचन कहा करते हैं । इसी प्रकारके जो मनुष्य प्रायः सबका अपमान किया करते हैं, सबको पहुंचाया करते हैं वा छिप छिपकर हानि पहुंचाते हैं ऐसे मनुष्य मरकर डांस मच्छर ही होते हैं ।

आगे - सर्पकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा मनुष्याश्च भवन्ति सर्पाः ।।

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापके करनेसे सर्पकी पर्याय प्राप्त करते हैं ।

उत्तर - धर्मस्वरूपं च गुरूपदेशं ।
श्रुत्वापि बुध्वा सकलं पदार्थम् ।।
वैरं न मिथ्यात्वविषं त्यजन्ति ।
मृत्वा जनास्ते च भवन्ति सर्पाः ।। ९७ ।।

अर्थ - जो मनुष्य धर्मका स्वरूप सुनकर भी, गुरुका उपदेश सुनकर भी तथा समस्त पदार्थोंका स्वरूप समझकर भी जो अपने वैर विरोधका त्याग नहीं करते है अथवा अपने मिथ्यात्व रूपी विषका त्याग नहीं करते ऐसे मनुष्य मरकर सर्प की पर्याय पाते हैं ।

भावार्थ - जिस प्रकार सर्प जन्म जन्मांतर तक अपना बैर नहीं छोड़ता तथा मंत्रवादियोंके द्वारा समझानेपर भी सब प्रकारसे संतुष्ट करदेने पर भी अपना वैर नहीं छोड़ता तथा सुखी रखनेपर भी काटना नहीं छोड़ता उसी प्रकार जो मनुष्य गुरुके उपदेशसे समस्त तत्त्वोंका स्वरूप समझ लेता है, अपने आत्माका स्वरूप समझ लेता है, वैर विरोध वा कषायोंका स्वरूप समझ लेता है, इतना सब समझ लेने पर भी जो मनुष्य अपना वैर विरोध नहीं छोड़ता वा मिथ्यात्वरूपी विषका त्याग नहीं करता आत्माका स्वरूप समझकर भी जो आत्मामें लीन नहीं होता, वा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शनका यथार्थ स्वरूप जानकर भी उसको ग्रहण नहीं करता ऐसा मनुष्य मरकर सर्पका शरीर धारण करता है ।

आगे - बिच्छूकी पर्याय धारण करनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
स्युर्वृश्चिका कौ मनुजाश्च मृत्वा ॥

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापके करनेसे मरकर बिच्छू होता है ।

उत्तर - स्वख्यातिहेतोः स्वजनान् परान् वा ।
वाग्वज्रतश्चेतसि ताडयन्ति ॥
दंशन्ति ये नेत्रविकारदन्तै-
स्ते वृश्चिकाः स्युर्मनुजाश्च मृत्वा ॥ ९८ ॥

अर्थ - जो मनुष्य अपनी प्रसिद्धिके लिए अपने कुटुंबी लोगोंके वा अन्य लोगोंके हृदयमें अपने वचनरूपी वज्रकी चोटसे ताड़ना करते हैं अथवा जो दांतोंसे वा नेत्रोंके विकारोंसे मनुष्योंको काटते हैं ऐसे मनुष्य मरकर बिच्छू होते हैं ।

भावार्थ - बिच्छू जिस प्रकार अपने डंककी चोट मारता है उसी प्रकार जो पुरुष वज्रके समान चुभनेवाले कठोर वचनोंकी चोट मारते हैं वा दातोंसे काट लेते हैं अथवा नेत्रोंके विकारकी चोट मारते हैं अथवा जो और भी ऐसे ही ऐसे काम करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर बिच्छू होते हैं । बिच्छू एक निकृष्ट जीव है वह जहां जाता है वहींसे भगाया जाता है वा मारा जाता है । इसी प्रकार कठोरवचन कहनेवाला ही पीटा जाता है वा मारा जाता है । यही समझकर किसी भी भव्यजीवको कठोरवचन कभी नहीं कहने चाहिये ।

आगे - चटककी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा नरः स्याच्चटको ह्यभाग्यः ॥

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापके करनेसे यह मनुष्य मरकर चटक वा चिडा होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - धनार्जनं ज्ञानविवर्द्धनार्थं ।
दानार्चनार्धं न करोति किंतु ॥
पुत्राय वा केवल कुक्षिहेतो- ।
मृत्वा स मर्त्यश्चटको भवेत्कौ ॥ ९९ ॥

अर्थ - जो मनुष्य अपने धनका संचयकर न तो उससे ज्ञानकी वृद्धि करता है और न दान पूजा आदि श्रेष्ठकार्योंमें खर्च करता है । अथवा उस धनको केवल पेट भरनेमें खर्च करता है अथवा अपनी संतान पालन करनेमें खर्च करता है ऐसा मनुष्य मरकर चिडा ही होता है ।

भावार्थ - धन पाकरके उस धनको दानमें खर्च करना, पूजामें खर्च करना, जिनालय बनवाना, जिनप्रतिमा बनवाना, धार्मिक शिक्षा देना आदि श्रेष्ठ कार्योंमें ही खर्च करना चाहिये । यह मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है । धनका प्रयोजन केवल पेट भरलेना नहीं है । क्योंकि पेट तो कौआ आदि नीच जानवर भी भर लेते हैं । मनुष्य जन्म पाकरके परलोक सुधारना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है । इतना समझते हुए भी जो मनुष्य प्राप्त हुए धनसे केवल अपना पेट भरते हैं अथवा केवल अपनी संतान के भरण पोषणमें ही अपना धन खर्च कर डालते हैं ऐसे मनुष्य मरकर चिडा ही होता है । क्योंकि चिडा भी केवल अपना पेट भरता है और यथाशक्ति संतानको पाल लेता है । यही समझकर धनी पुरूषको सदाकाल अपना धन धर्मकार्यमें खर्च करते रहना चाहिये ।

आगे - तोतेकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा मनुष्योऽपि शुको भवेत्कौ ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस पापके करनेसे तोतेकी पर्याय प्राप्त करता है ।

उत्तर - ज्ञानादिगर्वं भुवि केवलं यः ।
करोति किंचित्सुखदं न कार्यम् ॥
मिष्टं सदा जल्पति यत्र तत्र ।
मृत्वा शुकः स्यान्स च भाग्यहीनः ॥ १०० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - जो मनुष्य इस संसारमें सदाकाल ज्ञान, धन आदिका अभिमान करता रहता है और अन्यजीवोंको सुख देनेवाला कार्य कभी नहीं करता तथा जो इधर उधर घूमता हुआ केवल मीठे वचन सुना देता है ऐसा मनुष्य मरकर भाग्यहीन तोतेकी पर्याय प्राप्त करता है।

भावार्थ - तोता केवल मीठा बोलता है इसके सिवाय वह अन्य किसी काममें नहीं आता। इसी प्रकार जो मनुष्य इस संसारमें केवल धन वा ज्ञानके अभिमानमें चूर रहता है जो अन्य जीवोंको सुख देनेवाला परोपकार वा दानादिकका कार्य किंचिन्मात्र भी नहीं करता। केवल मीठे वचन कहता हुआ इधर उधर घूमता रहता है ऐसा मनुष्य मरकर तोते की ही पर्याय प्राप्त करता है। यही समझकर भव्यजीवोंको अपने ज्ञान वा धन आदिका अभिमान कभी नहीं करना चाहिये। तथा केवल मीठे वचन कह कर ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, किंतु उन मीठे वचनोंके साथ साथ अपने आत्माका तथा अन्य जीवोंका कल्याण भी करना चाहिये। अपने ज्ञानसे जिनधर्मकी प्रभावना करनी चाहिये।

आगे - वृक्षकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।
मृत्वा मनुष्यो भवतीह वृक्षः ।।

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापके करनेसे वृक्षकी पर्याय प्राप्त करता है।

उत्तर - स्वर्मोक्षदं शान्तिकरं सदा यः।
जिनं सुधर्मं च गुरुं विगर्वात् ।।
न वन्दते बोधकरं च शास्त्रं ।।
मृत्वा स मर्त्यो भवतीह वृक्षः ।। १०१ ।।

अर्थ - इस संसारमें देव, शास्त्र, गुरु और सद्धर्म ही स्वर्गमोक्ष देनेवाले हैं और आत्मामें शांति उत्पन्न करनेवाले है। जो मनुष्य अपने मिथ्या अभिमानसे ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेवको, उन जिनेन्द्रदेवके कहे हुए श्रेष्ठ धर्मको, आत्मज्ञान प्रकट करानेवाले जिनप्रणीत शास्त्रोंको और उनकी आज्ञानुसार चलनेवाले वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंकी वंदना नहीं करता है वह मनुष्य मरकर वृक्ष ही होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ - वृक्ष सदा खड़ा ही रहता है वह किसीके सामने भी नम्र नहीं होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य इतना अभिमानी है कि जो भगवान् जिनेन्द्रदेवके सामने जाकर भी कभी नम्र नहीं होता है। भगवान् जिनेन्द्रदेव समस्त आत्माओंका कल्याण करने वाले समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाले हैं, समस्त जीवोंको सुख देनेवाले अहिंसा धर्मका उपदेश देनेवाले हैं और स्वर्ग मोक्षके साक्षात् कारण हैं। ऐसे भगवान जिनेन्द्रदेवको भी नमस्कार न करना उनके सामने जाकर भी वृक्षके समान खड़े रहना महापाप है। क्योंकि इन्द्रादिक देव भी भगवान् जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करते हैं फिर भला मनुष्यकी तो बात ही क्या है। जो मनुष्य होकर भी जिनेन्द्रदेवको नमस्कार नहीं करता था उनके कहे हुए शास्त्र वा धर्मको नमस्कार नहीं करता अथवा निर्ग्रंथ गुरुओंको नमस्कार नहीं करता ऐसा मनुष्य मरकर अपने गाढ़ अभिमानके कारण वृक्ष ही होता है। यही समझकर मनुष्योंको अभिमान कभी नहीं करना चाहिये।

आगे - मयूरकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।
मर्त्योऽपि मृत्वा च शिखी भवेत्कौ ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापके करनेसे मयूरकी पर्याय प्राप्त करता है।

उत्तर - स्वात्मानुभूतेः स्वरसं न पीत्वा।
हठात्स्वयं पाययति परान् यः ॥
त्यक्त्वा स्वकृत्यं यतते परार्थं।
स स्याच्छिखी कौ मनुजोऽपि मृत्वा ॥ १०२ ॥

अर्थ - जो मनुष्य अपने आत्माके अनुभवसे उत्पन्न हुए शुद्ध आत्माके रसको स्वयं नहीं पीता है किंतु हठपूर्वक दूसरोंको पिलानेका प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जो अपने आत्मकर्तव्यको छोड़कर दूसरोंका उपकार करनेके लिए प्रयत्न करता है वह मनुष्य मरकर मयूर ही होता है।

भावार्थ - मयूर स्वयं महापाप उत्पन्न करता रहता है, वह प्रतिदिन अनेक कीड़ोंको मारकर खा जाता है तथापि वह केवल देखनेमें सुंदर लगता है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्द मीठा बोलता है । इसी प्रकार जो मनुष्य अपने आत्माका कल्याण तो कभी करता नहीं, तथा स्वयं अनेक प्रकारके पाप किया करता है और फिर भी दूसरोंका कल्याण करनेके लिए लंबे चौड़े उपदेश दिया करता है और सदा परोपकार करनेका नाटक दिखाया करता है ऐसा मनुष्य मरकर मयूरकी पर्याय प्राप्त करता है । यही समझकर सबसे पहले अपने आत्माका कल्याण करना चाहिये अपने आत्माका कल्याण कर लेनेपर दूसरेके कल्याण करनेका प्रयत्न करना चाहिये । तथा अपने आत्माका कल्याण कर लेनेपर ही दूसरोंका कल्याण किया जा सकता है ।

आगे - गिधकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा मनुष्यो भवतीह गृद्ध्रः ।।

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापके करनेसे यह मनुष्य मरकर गीधकी पर्याय प्राप्त करता है ।

उत्तर - कृत्वा स्वयं नैव धनार्जनादिं ।
यः केवलं बंधुगृहे भुनक्ति ।।
गच्छेत्सदा यत्र लभेत वाऽन्नं ।
मर्त्यः स मृत्वा भवतीह गृद्ध्रः ।। १०३ ।।

अर्थ - जो मनुष्य स्वयं कभी धनोपार्जन नहीं करता, केवल कुटुंबमें जाकर भोजन कर लेता है तथा जहांपर अन्न मिल जाता है वहीं पर चला जाता है। ऐसा बेकार मनुष्य मरकर गीधकी पर्याय प्रप्त करता है ।

भावार्थ - जिस प्रकार गीध मांस भक्षण करता है और वह भी मरे हुए पशुओंका ही मांस भक्षण करता है तथा जहां कहीं मांस पड़ा दिखाई देता है वहीं पहुंच जाता है । इसी प्रकार जो मनुष्य कभी कुछ कमाता नहीं न कमानेका कभी प्रयत्न करता है, भाई बंधुओंके यहां जैसा कुछ मिल जाता है खा लेता है । यदि घरमें कुछ खानेका न मिला तो फिर जहां भोजन मिलता है वहीं जा पड़ता है और भक्ष्य अभक्ष्य जो कुछ मिल जाता है खा लेता है । जो भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार नहीं करता, निकृष्टसे निकृष्ट भोजन कर लेता है ऐसा मनुष्य मरकर अवश्य ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गीधकी पर्याय प्राप्त करता है।

आगे - बंदरकी पर्याय प्राप्त करनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मर्त्योऽपि मृत्वा च कपिर्भवेत्कौ ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापके करनेसे बंदरकी पर्याय धारण करता है।

उत्तर - देशेऽन्यदेशेऽन्यगृहेऽपि गच्छे-
न्निष्कारणं यश्च वनस्पतीन् वा ॥
छिनत्ति धर्मायततं भिन्नति ।
मृत्वा स मर्त्यश्च भवेत्कपिः कौ ॥ १०४ ॥

अर्थ - जो मनुष्य बिना कारणके ही देश विदेश घूमता फिरता है वा विना कारणके ही अनेक वनस्पतियोंको तोड़ता फिरता है वा जिनालय आदि धर्मायतनोंको तोड़ता फिरता है ऐसा मनुष्य मरकर बंदरकी पर्याय प्राप्त करता है।

भावार्थ - जिस प्रकार बंदर देश विदेशके समस्त स्थानोंमें घूमता फिरता है, वा घर घर घूमता फिरता है और वह भी बिना किसी प्रयोजनके घूमता रहता है, तथा अनेक वनस्पतियोंको अनेक वृक्षोंको, अनेक फलोंको अनेक पुष्पोंको तोड़ डालता है वा अनेक घरोंमें, मंदिरोंमें पहुंचकर हानि पहुंचाया करता है वा उनको तोड़ फोड़ दिया करता है ऐसा मनुष्य मरकर बंदर की पर्यायमें उत्पन्न होता है। यही समझकर भव्य जीवोंको ऐसे पापोंसे सदा काल बचते रहना चाहिये।

आगे - साधर्मियोंके साथ विवाद करनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च करोति जीवः ।
वृथा विवादं सह धार्मिकैश्च ॥

अर्थ - हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पापके करनेसे धर्मात्माओंके साथ वादविवाद करता रहता है।

उत्तर - देवस्य धर्मस्य गुरोः पुरा पैः ।
कृतोऽपमानश्च वृथा विवादः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुर्वन्ति संस्कारवशात्प्रकोपं ।
साधर्मिकैस्ते विवदन्ति लोके ।। १०५ ।।

अर्थ - जो पुरुष पहले जन्ममें देव, धर्म, गुरुका अपमान करते हैं अथवा पहले जन्मके संस्कारोंके निमित्तसे गुरुओंपर क्रोध करते हैं वा उनके साथ विवाद करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर दूसरे लोकमें जाकर भी धर्ममें वा धर्मात्माओंके साथ वादविवाद किया करतै हैं ।

भावार्थ - धर्ममें वा धर्मात्माओंके साथ विवाद करना वा धर्ममें किसी प्रकारकी शंका रखना सम्यग्दर्शनको नष्ट करता है वा मिथ्यात्वको बढ़ाना है । गुरुके साथ तो कभी वादविवाद करना ही नहीं चाहिए क्योंकि गुरुकी तो आज्ञा ही मान्य होती है । गुरु वीतराग होते हैं और समस्त आशाओंसे रहित निर्ग्रंथ होते हैं । वे जो कुछ कहते हैं आत्मकल्याणके लिए ही कहते हैं । ऐसे निस्पृह गुरुओंके साथ विवाद करना पापका कारण है । ऐसा पाप वही मनुष्य करता है जो पहले भवमें देव, धर्म, गुरुका अपमान करता है, उन्हें पूज्य नहीं मानता, वा उनकी निंदा करता रहता है, वा धर्म की हँसी उड़ाता है वा धर्मात्माओंके साथ विवाद करता रहता है, वा धर्मात्माओंको नीचा दिखाता रहता है, वा अन्य कितने ही ऐसे ही ऐसे काम किया करता है । ऐसा मनुष्य मरकर गुरुओंके साथ वा धर्मत्माओंके साथ झगड़नेवाला वा वादविवाद करनेवाला होता है ।

आगे - राजाको भी रंक होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
राजापि मृत्वा भवतीह रंकः ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापके करनेसे राजा भी मरकर रंक हो जाता है ।

उत्तर - धर्मादिशून्यो विषये निमग्नो ।
द्वेषी प्रजानां पशुवद्विहारी ।।
मांसाशनो यो मदिराप्रपायी ।
मृत्वा स राजा भवतीह रंकः ।। १०६ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - जो राजा धर्म कर्मसे सर्वथा रहित होता है, इन्द्रियोंके विषयोंमें लीन रहता है, प्रजासे द्वेष करता रहता है, पशुओंके समान विहार करता रहता है, मांस भक्षण करता है और मदिरा पान करता है। ऐसा राजा मरकर इसी संसारमें अत्यंत दरिद्र रंक होता है।

भावार्थ - राजाओंको धर्मात्मा होना अत्यावश्यक है। क्योंकि राजाओंके धर्मात्मा होनेसे समस्त प्रजा धर्मात्मा हो जाती है। यदि राजा पापी होता है तो समस्त प्रजा पाप करने लग जाती है। प्रजा सदाकाल राजाका अनुकरण करती रहती है। राजा प्रजा दोनोंके पाप करनेसे राज्य नष्ट हो जाता है तथा दोनों के पुण्य करनेसे राज्यकी वृद्धि होती है। इसलिए जो राजा धर्मकार्योंसे वंचित रहता है कभी धर्मकार्य नहीं करता वह राजा मरकर परलोकमें अत्यंत दरिद्री रंक होता है। इसी प्रकार जो राजा सदाकाल विषयोंमें लीन रहता है, वह भी मरकर रंक ही होता है। क्योंकि सदाकाल विषयोंमें लीन रहने वाला राजा न तो धर्मकर्म कर सकता है, न प्रजाका पालन कर सकता है और न धर्मात्माओंकी रक्षा कर सकता है। तथा उसकी देखादेखी उसकी प्रजा भी ऐसी ही होजाती है। इसलिए राजाओंको धर्मकार्य करते हुए न्यायपूर्वक इन्द्रियोंको तृप्त करना चाहिये। इसी प्रकार जो राजा प्रजासे द्वेष करता है प्रजाको पुत्रके समान पालन नहीं करता वा पशुओंके समान सदाकाल बिना प्रयोजनके भी इधर उधर घूमा करता है अथवा जो मद्यपान मांसभक्षण आदि निकृष्ट पदार्थोंका सेवन करता है ऐसा राजा मरकर परलोकमें निकृष्ट वा नीच रंक होता है। यही समझकर राजाओंको ऊपर लिखे निकृष्ट कार्योंसे सदा बचते रहना चाहिये।

आगे - कुदेव कुशास्त्र वा कुगुरुकी प्रशंसा करनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च करीति जीवः।
कुदेवधर्मादिगुरुप्रशंसाम् ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पापके करनेसे कुदेव कुधर्म वा कुगुरुकी प्रशंसा किया करता है।

उत्तर - कुदेवशास्त्रस्य गुरोः पुरा यैः।
श्रद्धा कृता वा विनयादिभक्तिः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुर्वन्ति संस्कारवशात्त एव ।
परत्र लोकेपि च तत्प्रशंसाम् ।। १०७ ।।

अर्थ - जिन लोगोंने पहले जन्ममें कुदेव कुशास्त्र वा कुगुरु की श्रद्धा की है वा इन्ही कुदेव कुशास्त्र कुगुरुकी विनय, भक्ति की है ऐसे जीव मरकर अपने संस्कारोंके निमित्तसे परलोकमें भी जाकर कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओंकी ही प्रशंसा किया करते हैं ।

भावार्थ - मिथ्यात्वका संस्कार जन्म जन्मांतर तक जाता है । जो मनुष्य इस जन्ममें गाढमिथ्यात्वमें लीन रहता है वह मनुष्य परलोकमें जाकर भी उसी मिथ्यात्वमें लीन बना रहता है । मिथ्यात्वकर्म करनेसे जो दर्शनमोहनीयकर्मका बंध होता है उसकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तरि कोडा कोडी सागर तककी रहती है अर्थात् सत्तरि कोडा कोडी सागर तक वह एक समयमें बंधा हुआ कर्म फल देता रहता है । इसी प्रकार प्रत्येक समयमें बंधा हुआ कर्म अपनी स्थितिके अनुसार तथा अनुभागके अनुसार फल दिया करता है । तथा उसीके अनुसार वह जीव मिथ्यात्व सेवन किया करता है । यही कारण है कि जो पुरुष पहले जन्ममें कुदेवादिकका श्रद्धान करता वा उनकी विनय भक्ति करता है वह पुरूष अगले जन्म में भी उन्हीं कुदेवादिकोंका श्रद्धान करता है उन्हीं की विनय भक्ति करता है और उन्हींकी प्रशंसा करता है । यही समझकर तथा काल लब्धिको पाकर भव्यजीवोंको अपने मिथ्यात्वका त्याग कर देना चाहिये और शास्त्रोक्तविधिके अनुसार सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेना चाहिये । मिथ्यात्वके संस्कार से ही बहुतसे विद्वान शास्त्रोंको पढ़कर भी उनके विपरीत चलते हैं, अपने तीव्रमिथ्यात्वके उदयसे शास्त्रोक्त कर्तव्योंको मिथ्या बतलाते हैं पंचामृताभिषेकका निषेध करते हैं, वा पुष्पपूजन, फलपूजन, दीपपूजन, धूपपूजनका निषेध करते हैं, पात्रदानका निषेध करते हैं, यहांतक कि आरतीका भी निषेध करते हैं । ऐसे लोगे परलोकमें भी जाकर शास्त्रोंका यथार्थ श्रद्धान नहीं कर सकते । इसके सिवाय जो विधवाविवाह, विजातीय विवाह आदि दुष्कर्मोंका प्रतिपादन करते हैं उन्हें तो तीन मिथ्या दृष्टि कहना ही चाहिए । इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - घर गृहस्थीसे रहित होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा नरः स्याद् गृहदारहीनः ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस किस पापके करनेसे घर गृहस्थीसे रहित होता है ।

उत्तर - छित्वा गृहादिं मधुमक्षिकाणां ।
वा पक्षिकाणां च रसं पिबन्ति ।।
लोभात्परेषां च कलेवरं ये ।
भवन्ति कौ ते गृहदारहीनाः ।। १०८ ।।

अर्थ - जो पुरुष मधु मक्खियोंके छत्ते तोड़ डालते हैं और उनके शहदको खा पी जाते हैं अथवा बया आदि अनेक पक्षियोंके घोंसले तोड़ देते हैं व तीव्र-लोभके कारण उन पक्षियोंका मांस खा जाते हैं ऐसे मनुष्य मरकर घर स्त्री आदि सबसे रहित अकेले ही होते हैं ।

भावार्थ - किसी भी पशु, पक्षीका घर बिगाड़ देना, उसको आश्रय हीन बना देना महापाप है । मधु मक्खियोंका छत्ता तोड़नेमें तो अनेक मक्खियोंकी हिंसा होती है तथा अनेक मक्खियां बिना घरबारके आश्रयरहित हो जाती हैं । तथा शहदका स्पर्श करने मात्रसे उसमें रहनेवाले अनंत जीव मर जाते हैं । इसी प्रकार किसी पशु, पक्षीको मार देना भी उसके कुटुंबको दु:खी करना है । इसलिए जो मनुष्य इस जन्ममें दूसरोंका घरबार तोड़ता है वह मनुष्य मरकर अगले जन्ममें घर गृहस्थीसे रहित अकेला ही रहता है ।

आगे - कीड़े मकोड़ेकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा नरः स्यात्खलु कीटकः कौ ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापके करनेसे यह जीव मरकर कीड़े मकोड़ोंमें उत्पन्न होता है ।

उत्तर - रक्षा सयित्या लघुप्राणिनां वा ।
कृता न दृष्टा गुरुदेवमुद्रा ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीना न तुष्टा धनगर्वितैर्यै ।
र्भवन्ति दुष्टा भुवि कीटकास्ते ।। १०९ ।।

अर्थ - जो पुरुष समितियोंका पालन कर छोटे छोटे प्राणियोंकी रक्षा नहीं करते हैं, न देव शास्त्र गुरुके दर्शन करतें हैं, और धनके मदसे मदोन्मत्त होकर जो किसी भी दीन दरिद्रीको संतुष्ट नहीं करते ऐसे मनुष्य मरकर इसी संसारमें दुष्ट छोटे छोटे कीड़े होते हैं ।

भावार्थ - छोटे छोटे कीड़े थोड़ासा कारण मिलनेपर योंही मरजाते हैं, कोई पैरके तले दबकर मर जाता है । कोई लीद गोबर में दबकर मर जाता है, कोई मलमूत्रमें दबकर वा बह कर मर जाता है और कोई पानीमें बह कर मर जाता है । जो मनुष्य ऐसे छोटे छोटे जीवोंकी रक्षा नहीं करते हैं भूमिको देखकर नहीं चलते हैं वा देख शोध कर पदार्थोंको न उठाते हैं न रखते हैं, जो मलमूत्र भी देख शोधकर नहीं करते तथा अपने प्रमादके कारण इन सब कामोंसें छोटे छोटे कीड़े मकोड़ोंका घात किया करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर अगले जन्ममें छोटे छोटे कीड़े होते हैं जिन्हें अन्य लोग सब दाबदूब कर मार देते हैं । इसी प्रकार जो जीव देव, शास्त्र, गुरुके दर्शन नहीं करते, न उनका उपदेश सुनते हैं और न उनपर श्रद्धान रखते हैं । तथा जो दीन दरिद्री मनुष्योंको कभी संतुष्ट नहीं करते, कभी उनको भोजन तक दानमें नहीं देते और सदाकाल धनके मदमें उन्मत्त रहते हैं ऐसे मनुष्य मरकर छोटे छोटे कीड़े होते हैं । यही समझकर छोटे छोटे कीड़े मकोड़ोंकी रक्षा अवश्य करते रहना चाहिये । तथा दीनदरिद्रियोंको कुछ न कुछ दान देकर अवश्य संतुष्ट करते रहना चाहिए ।

आगे - शक्तिहीन होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा नरः स्याद्भुवि शक्तिहीनः ।.

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पापके करनेसे मरकर अत्यंत शक्तिहीन होता है ।

उत्तर - स्वार्थाभिसिध्द्यै स्वबलेन जन्तून् ।
हत्वा च भीतिं खलु दर्शयित्वा ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वद्धा सदा: बन्दिगृहे जना यै ।
मृत्वा खलास्ते च भवन्त्यशक्ता: ।। ११० ।।

अर्थ - जो निर्दय मनुष्य अपने स्वार्थकी सिद्धि करनेके लिए अपने बलसे भय दिखलाकर दूसरे प्राणियोंको मार देते हैं अथवा जो उनको बांधकर बंदिगृहमें डाल देते हैं ऐसे दुष्ट मनुष्य मरकर परलोकमें शक्तिहीन ही होते हैं ।

भावार्थ - जो बलवान् पुरुष इस जन्ममें शक्तिहीन मनुष्योंको दबाया करते हैं, अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए उन्हे बंदिगृहमें डलवा देते हैं, उन्हें लूट लेते हैं उनका घरबार छीन लेते हैं, धन धान्य छीन लेते हैं वा समय पड़नेपर उन्हें मार भी देते हैं ऐसे मनुष्य मरकर परलोकमें जाकर अत्यंत शक्तिहीन होते हैं तथा ऐसे शक्तिहीन होते हैं जिन्हें सब लोग, दबा लें अनेक प्रकारके दु:ख पहुंचावे, बंदीगृहमें डलवा दें वा मरवा दें । यही समझकर बलवान् पुरुषोंको कभी दीन दुखियोंको नहीं सताना चाहिए, किंतु जितनी बन सके उतनी उनकी सहायता करनी चाहिए ।

आगे - श्रेष्ठ कार्य करनेपर भी निंदा होनेका कारण बतलाते हैं-

प्रश्न - निंदैव सत्कार्यकृतेऽपि कस्मात् ।
कर्मोदयात्स्याभ्दवतीह लोके ।।

अर्थ - हे गुरो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापकार्यके करनेसे वा किस कर्मके उदयसे श्रेष्ठकार्य करने पर भी मनुष्यकी निंदा होती है ।

उत्तर - सत्कार्यकर्तुर्भुवि दीनबन्धो: ।
सम्पूर्णविश्वे यतत: प्रशान्त्यै ।।
निंदा कृता येन नरोत्तमस्य ।
स्यादेव सत्कार्यकृतेऽपि तस्य ।। १११ ।।

अर्थ - जो पुरुष इस संसारमें सदाकाल श्रेष्ठकार्य करते रहते हैं, जो दीन दरिद्रियोंको सदाकाल सहायता देते रहते हैं, और जो समस्त संसारमें शांति स्थापित करनेके लिये प्रयत्न किया करते हैं ऐसे उत्तम पुरुषोंकी भी जो लोग निंदा करते हैं ऐसे पुरुष यदि सत्कार्य करते रहे तो भी उनकी निंदा ही होती है ।

भावार्थ - श्रेष्ठ कार्य करनेपर भी निंदा का होना पापकर्म के उदयका ही कार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माना जाता है । जो लोग उत्तम गुणवान् मनुष्योंकी निंदा किया करते हैं सत्कार्य करनेवालोंकी निंदा किया करते हैं, धार्मिक विद्वानोंकी निंदा किया करते हैं वा धर्मकार्योंकी निंदा किया करते हैं, जो शास्त्रोक्त वचनोंको मिथ्या ठहरानेका प्रयत्न करते हैं, वा शास्त्रोक्त वचनोंके प्रतिकूल चलते हैं, वा शास्त्रोक्त वचनोंमें दोष लगाते हैं, वा देव शास्त्रोंको नीच अस्पृश्य मनुष्योंसे स्पर्श कराते है अथवा जो और भी ऐसे ही ऐसे धर्म विरुद्ध नीतिविरुद्ध कार्य करते हैं ऐसे मनुष्य परलोकमें जाकर यदि श्रेष्ठ कार्य भी करते हैं तो भी किसी न किसी प्रकारसे उनकी निंदा होती है । अत एव धर्मविरुद्ध वा नीतिविरुद्ध कार्य कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे - सत्कार्य करनेपर भी धनादिक की हानि होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च भवेद्धनादेः ।
सदा हि सत्कार्यकृतेऽपि हानिः ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि श्रेष्ठ कार्योंके करनेपर भी इस मनुष्यके धनकी हानि किस कारणसे होती है ।

उत्तर - दानादिपूजां न जपं तपो हि ।
कृत्वा न धर्मं भुषि केवलं यः ।।
धनार्जने स्यान्निरतश्च तस्य ।
हानिः सुसत्कार्यकृते धनादेः ।। ११२ ।।

अर्थ - जो पुरुष दान, पूजा, जप, तप वा अन्य धार्मिक कार्योंको कभी नहीं करता है केवल धनसंचय करनेमें सदाकाल तल्लीन रहता हैं ऐसा पुरुष परलोकमें जाकर यदि श्रेष्ठकार्य भी करता है तो भी उसके धनादिककी हानि होती ही है ।

भावार्थ - धनसंचय करनेके साथ इस मनुष्यको धर्मकार्य भी अवश्य करते रहना चाहिए । भगवान् जिनेंन्द्रदेवकी पूजा करना, तथा मुनियोंकी वैयावृत्य करना, स्वाध्याय करना आदि प्रत्येक दिनके करने योग्य धर्मकार्य हैं । इन कार्योंमें प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ द्रव्य अवश्य खर्च करते रहना चाहिये । कमाये हुए धनमेंसे चौथाई भाग वा दशवां भाग धर्मकार्यमें अवश्य खर्च कर देना चाहिए । इन कार्योंके सिवाय तीर्थयात्रा, गुरुदर्शन, गुरुसेवा आदि भी धर्मकार्य हैं इनमें भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथाशक्ति खर्च करना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है । धन कमानेमें पापकर्मका बंध होता ही है । यदि उस धनको किसी भी धर्मकार्यमें न लगाया जाय तो फिर पाप ही पाप बना रहता है । उस धनकी धर्मकार्यमें लगानेसे जो पुण्यकी प्राप्ति होनी चाहिए वह नहीं होती । यही कारण है कि अगले जन्ममें जाकर उस पापकर्मके उदयसे श्रेष्ठकार्योंके करनेपर भी उसके धनादिककी हानि बराबर होती रहती है । यही समझकर धर्मकार्यमें आलस कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे - अनावृष्टि वा वर्षा न होनेका कारण दिखलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
काले हि काले न भवेत्सुवृष्टि ।।

अर्थ- हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापके करनेसे समय समय पर अच्छी वर्षा नहीं होती ।

उत्तर - न धार्मिका वा मुनयो न यत्र ।
न देवपूजा न च पात्रदानम् ।।
दुष्टा जना यत्र वसन्ति तत्र ।
वृष्टिर्न शान्तिश्च भवेत्कदापि ।। ११३ ।।

अर्थ - जिस देशमें न तो धार्मिक पुरुष रहते हैं, न मुनि लोग रहते हैं, जहां पर न देव पूजा होती है और न पात्रदान होता है तथा जहांपर दुष्ट अधार्मिक लोग ही निवास करते हैं ऐसे देशमें वृष्टि और शांति कभी नहीं होती है ।

भावार्थ - जिस देशमें धर्मात्मा और पुण्यवान् जीव आकर जन्म लेते हैं, जहांपर प्रतिदिन देवपूजा होती रहती है, विधिपूर्वक अभिषेक होता रहता है, नैमित्तिक विधिविधान होते रहते हैं, वा प्रतिष्ठादिक कार्य होते रहते हैं, जहांपर वीतराग निर्ग्रंथ मुनिराज भी आकर निवास करते हैं, जहांपर मुनियोंको प्रतिदिन आहारदान दिया जाता है, उनका उपदेश सुना जाता है, उनकी सेवा की जाती है, जहांपर समय समयपर रथोत्सव आदिके द्वारा धर्मप्रभावना होती है अथवा जहांपर समय समयपर श्रावकोंको आहार दानादिक देकर समदत्तिका प्रचार किया जाता है, ऐसे देशोंमें सदाकाल समयानुसार वर्षा हुआ करती है परंतु जहांपर ये ऊपर लिखे कार्य नहीं होते और जहांपर दुष्ट लोग ही निवास करते हैं ऐसे देशमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न तो समयानुसार वृष्टि होती है और न कभी शांति ही रहती है ।

आगे - पुण्यकार्य करनेवालेके साथ वैर विरोध करनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
सुपुण्यकर्तुश्च परैर्विरोधः ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापके करनेसे यह जीव पुण्यवान मनुष्योंके साथ वा पुण्यकार्य करनेवाले मनुष्योंके साथ वैरविरोध करता है ।

उत्तर - पूर्वं मिथो वैरविरोधकर्तुः ।
संगः कृतो येन खलादिसेवा ॥
तस्यैव संस्कारवशात्समं सः ।
करोति वैरं शुभकृत्यकर्तुः ॥ ११४ ॥

अर्थ - जो मनुष्य पहले जन्ममें वैर विरोध करनेवालों की संगति करते हैं वा दुष्ट लोगोंकी सेवा करते हैं ऐसे मनुष्य परलोकमें जाकर पहले जन्मके संस्कारके निमित्तसे पुण्यकार्य करने वालोंके साथ भी वैर विरोध किया करते हैं ।

भावार्थ - किसीके साथ वैर विरोध करना पापका कारण है । फिर भला पुण्यकार्य करनेवालेके साथ वैरविरोध करना तो और भी अधिक पापका कारण है । जो पुरुष बिना कारण वैर विरोध करनेवालोंकी संगति किया करते हैं वा उनके देखा देखी सज्जनोंके साथ वैर विरोध किया करते हैं व दुष्ट लोगोंकी संगति किया करते हैं वा उनकी सेवा किया करते हैं, अथवा श्रेष्ठधर्मका विरोध किया करते हैं ऐसे मनुष्य परलोकमें भी अपने वैर विरोधके संस्कारको साथ ले जाते हैं । और फिर उस संस्कारके निमित्तसे पुण्यकार्य करनेवालोंके साथ भी वैरविरोध किया करते हैं । यही समझकर दुष्ट लोगोंकी संगति कभी नहीं करनी चाहिए तथा वैरविरोध करनेवालोंकी संगति भी कभी नहीं करनी चाहिए ।

आगे - विपरीत बुद्धि हो जानेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पापच्च भवेन्नराणां ।
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापके करनेसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्योंकी बुद्धि विनाश होनेके साथ विपरीत रूप परिणत हो जाती है ।

उत्तर - कालोत्थबुद्धेः सुखशान्तिदात्र्या- ।
नाशाय यत्नो हि कृतश्च येन ।
तस्यैव हानिश्च सदापमानो ।
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ।। ११५ ।।

अर्थ - पुण्यवान् और बुद्धिमान् पुरूषोंकी बुद्धि सुख और शांति उत्पन्न करनेवाली होती है और समयानुसार उत्पन्न हो जाती है । परंतु जो पुरुष उस श्रेष्ठबुद्धिको भी नाश करनेके लिए प्रयत्न करता है, उस मनुष्यकी सदा हानि होती रहती है, सदा अपमान होता रहता है और उसके सदा विनाश होनेके समय उसकी बुद्धि अवश्य ही विपरीतरूप परिणत हो जाती है ।

भावार्थ - किसीकी श्रेष्ठ बुद्धिका नाश करना उसके आत्मा की निर्मलताका घात करना है । क्योंकि बुद्धि वा ज्ञान ही आत्मा का एक ऐसा प्रगट होनेवाला गुण है जो आत्माका चिह्न माना जाता है । ज्ञानसे ही आत्माका अस्तित्व मानना पड़ता है । ऐसे ज्ञानका वा ऐसी श्रेष्ठबुद्धिका नाश कर देना उस आत्माकी उच्चता, निर्मलता वा उत्तमताका नाश कर देना है । परंतु इस प्रकार आत्माकी निर्मलताका नाश कर देना महापापका कारण है । और इसी पापके उदयसे जब यह आत्मा परलोकमें जाकर उत्पन्न होता है तब स्थान स्थान पर उसकी हानि होती है और उसका नाश होनेके लिए उसकी बुद्धि विपरीत वा भ्रष्ट हो जाती है । जिससे कि वह अनेक अन्याय और अनर्थ करता हुआ नरक निगोदका पात्र हो जाता है । यही समझकर किसीकी बुद्धिको भ्रष्ट करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए । यदि किसीकी बुद्धि विपरीत होगई हो तो समझा बुझाकर उसको बदलनेका प्रयत्न करना चाहिये । तथा उसे मोक्षमार्गमें लगानेका प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

आगे - इस अध्यायके पठन पाठनका अभिप्राय दिखलाते हैं ।

उत्तर - ज्ञात्वेति निंद्यं विषमव्यथादं ।
त्यक्त्वापि कुर्वन्त्वशुभोपयोगम् ।।
शुभोपयोगेऽक्षसुखादिमूले ।
वृत्तिं च शुद्धे हि यतस्व गन्तुम् ।। ११६ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - इन सब विषयोंको अच्छे प्रकारसे पठन पांठन कर भव्य जीवोंको निंदनीय और अत्यंत दु:ख देनेवाले अशुभोपयोगका त्याग कर देना चाहिये तथा इन्द्रियजन्य सुखोंके मूल कारणभूत शुभोपयोगमें अपना मन लगाना चाहिये और अंतमें शुद्धोपयोग प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये ।

भावार्थ - इस अध्यायमें जो कुछ वर्णन किया है उससे यह सिद्ध हो जाता है कि पापकर्म करनेसे अशुभोपयोग होता है, तथा अशुभोपयोग होनेसे फिर पापकर्मोंका बंध होता है । इस प्रकार एक बारके अशुभोपयोगसे भी पापोंकी परंपरा बराबर चलती रहती है और उन पापोंके कारण इस जीवको नरकनिगोदादिकके महादु:ख भोगने पडते हैं । इसलिए भव्यजीवोंको सबसे पहले इस अशुभोपयोगका त्याग करना चाहिये । समस्त दु:खोंका मूल कारण यह अशुभोपयोग ही है। इसका त्याग किये बिना आत्माका कल्याण कभी नहीं हो सकता । तथा आत्माका कल्याण करना प्रत्येक जीवके लिये परमावश्यक है । अत एव अशुभोपयोगका त्याग कर शुभोपयोग धारण करना चाहिए और शुद्धोपयोग प्राप्त करनेके लिए सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए । क्योंकि मोक्षकी प्राप्ति शुद्धोपयोगसे ही होती है ।

आगे - समस्त अध्यायका सार बतलाते है ।

मतिः स्याद् यादृशी यस्य तस्य स्यात्तादृशी गतिः ।।
यदर्थे यस्य भावोऽस्ति प्रायस्तल्लभते हि सः ।। ११७ ।।

अर्थ - जिस मनुष्यकी जैसी बुद्धी होती है उस मनुष्यकी गति भी वैसी ही होती है । तथा जिस मनुष्यका भाव जिस पदार्थके लिए होता है उस मनुष्यको वह पदार्थ अवश्य प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ - संसारमें जितने पुण्य वा पाप हैं वे सब अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार होते हैं । यदि बुद्धि भ्रष्ट होती है वा पापरूप होती है तो उस जीवसे सदाकाल पाप होते रहते हैं, यदि जिस किसीकी बुद्धि सरल और यथार्थ होती है वह मनुष्य पापोंसे बचता हुआ सदाकाल पुण्यकार्य ही करता रहता है । इसीलिए आचार्य महाराजने कहा है कि जिसकी जैसी बुद्धि होती है उस को वैसी ही गति प्राप्त होती है । वहांपर गतिशब्दका अर्थ पुण्य पापरूप है । अथवा पुण्यसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वर्गादिक गति प्राप्त होती है और पापसे नरकादिक गति प्राप्त होती है। अथवा जिस किसी मनुष्य के भाव जिस पदार्थके लिए होता है प्राय: वह पदार्थ प्रयत्न करनेपर उसको मिल जाता है। जो मनुष्य मोक्ष की इच्छा रखकर मोक्षके लिए प्रयत्न करता है उसको दस पांच भवमें मोक्षकी प्राप्ति हो ही जाती है। जब प्रयत्न करनेसे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है तब फिर संसारी पदार्थोंकी तो बात ही क्या है ? अर्थात् प्रयत्न करनेपर संसारी पदार्थ भी प्राप्त हो ही जाते हैं। यही समझकर भव्यजीवोंको सदाकाल मोक्षके लिए ही प्रयत्न करते रहना चाहिए।

आगे - भावोंकी दुष्टता और चित्तके विकारोंका कारण बतलाते हैं।

पूर्वसंस्कारतो भावे दुष्टातां संगदोषत: ।
दुष्टता विकृतिश्चित्ते दु:खदा जायते नृणाम् ॥ ११८ ॥

अर्थ - मनुष्योंके भावोंमें जो दु:ख देनेवाली दुष्टता आती है वह पूर्वजन्मके संस्कारोंके निमित्तसे आती है तथा मनुष्योंके हृदयमें दु:ख देनेवाले जो विकार उत्पन्न होते हैं वे दुष्टजीवोंके संगतिके दोषसे उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ - पहले जन्ममें इस मनुष्यके जैसे संस्कार होते हैं अगले भवमें आकर उसके परिणाम वैसे ही हो जाते हैं। जिसके परिणाम मोक्षमार्गमें लग जाते हैं तथा उन परिणामोंके निमित्तसे जो मोक्षमार्गके लिए प्रयत्न करता रहता है उस संस्कारके निमित्तसे वह अगले जन्ममें भी मोक्षमार्गमें लगा रहता है तथा जो व्यसनोंमें वा किसी अन्य कुमार्गमें लग जाता है वह उन संस्कारोंके निमित्तसे अगले जन्ममें भी कुमार्ग वा व्यसनोंमें ही लगा रहता है। इससे सिद्ध होता है कि परिणामोंके होनेसे पहले जन्मके संस्कार ही कारण पड़ते हैं। कमठका जीव व्यसनमें पड़ गया था इसलिए उसका वह संस्कार कितने ही जन्म तक बना रहा था तथा उसके भाईका जीव किसी व्यसनमें न पड़कर मोक्षमार्गमें लग गया था, इसलिए उसने अंतमें जाकर मोक्षकी प्राप्ति कर ही ली थी। यही समझकर भव्यजीवोंको अपने परिणाम और कर्तव्य सदा श्रेष्ठ पुण्यरूप कार्योंमें वा मोक्षमार्ग में ही लगाना चाहिये। अन्य व्यसन वा कुमार्गसे सदा बचते रहना चाहिये। क्योंकि व्यसन वा कुमार्गमें पड़नेसे दुष्ट पुरुषोंकी ही संगति करनी पड़ती है। तथा दुष्टपुरूषोंकी संगतिसे सदाकाल हृदयमें विकार उत्पन्न होते हैं। उन विकारोंसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाप उत्पन्न होते हैं और पापोंसे नरकादिक दुर्गतियां प्राप्त होती हैं। इसलिए उन नरकादिक दुर्गतियोंसे बचनेके लिये दुष्टोंकी संगति सर्वथा छोड़ देनी चाहिये। आत्माके कल्याण का यही सबसे उत्तम मार्ग है।

आगे - इस आध्ययका उपसंहार करते हैं।

तदनुसारतो ग्रंथे वर्णितं ह्यशुभं फलम् ।
कस्यापि निंदनार्थं न न तिरस्कारहेतवे ।। ११९ ।।
सर्वप्राणहितार्थं हि शुद्धचिद्रूपमूर्तिना ।
धीमता स्वात्मतुष्टेन कुंथुसागरसूरिणा ।। १२० ।।

अर्थ - शुद्ध चैतन्यकी मूर्ति, अत्यंत बुद्धिमान् और अपने आत्मामें संतुष्ट रहनेवाले आचार्य श्री कुंथुसागर स्वामिने ऊपर कहे हुए कथनके अनुसार अशुभोपयोगका अशुभ फल वर्णन किया है। यह अशुभयोगका अशुभ फल न तो किसीकी निंदा करनेके लिए लिखा गया है, और न किसीका तिरस्कार करनेके लिए लिखा गया है। किंतु समस्त प्राणियोंका हित करनेके लिए लिखा गया है।

भावार्थ - इस ग्रंथको पठन-पाठन कर वा इसका स्वाध्याय कर भव्यजीव अपनें अशुभयोगोंका त्यांग कर दें और शुभोपयोग धारणकर मोक्षमार्गमें लग जाये इसी हेतुसे यह ग्रंथ लिखा है।

इति मुनि श्री १०८ कुंथुसागरविरचिते भावत्रयफलप्रदर्शि नाम ग्रंथे अशुभोपयोगफलवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः ।

इस प्रकार मुनि श्री १०८ कुंथुसागर विरचित भावत्रयफलप्रदर्शी नाम के ग्रंथकी 'धर्मरत्न' पं. लालाराम शास्त्री विरचित हिंदी भाषा टीकामें अशुभोपयोगके फलको वर्णन करनेवाला यह पहला अध्याय समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभोपयोगका फल.

सुखमदं दु:खहरं किलेष्टं ।
नत्वा मुदा पंचगुरुं यथावत् ॥
शुभोपयोगस्य फलस्वरूपं ।
सर्वात्मशान्त्यै कथयामि भक्त्या ॥ १२१ ॥

अर्थ - अब मैं समस्त जीवोंको सुख देनेवाले तथा सबके दु:खोको दूर करनेवाले ऐसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीको मैं विधिपूर्वक भक्तिके साथ नमस्कार करता हूं । और फिर समस्त जीवोंको शांति प्राप्त करनेके लिए शुभोपयोगके फलका निरूपण करता हूं ।

आगे - सुपुत्रोंकी प्राप्तिका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च सुपुत्रलाभा: ।
भवन्ति नृणां वद देव ! लोके ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्य-कार्यके करनेसे इस लोकमें मनुष्योंको सुपुत्रोंकी प्राप्ति होती है ।

उत्तर - कुमार्गलग्नान् हि परस्य पुत्रान् ।
युक्त्या विबोध्यैव पुरा सुमार्गे ॥
सेवादिकार्ये ह्ययुनक् सुसाधो- ।
र्मातुः स भव्यो लभते सुपुत्रान् ॥ १२२ ॥

अर्थ - जो मनुष्य पहले जन्ममें कुमार्गमें चलनेवाले दूसरेके पुत्रोंको युक्तिपूर्वक समझाकर सुमार्गमें लगा देता है तथा सज्जनोंकी सेवामें वा माता, पिताकी सेवामें लगा देता हैं ऐसा भव्यजीव दूसरे जन्ममें जाकर श्रेष्ठपुत्रोंको प्राप्त करता है ।

भावार्थ - दूसरोंकी संतानको सुशिक्षा देना, उनको धर्म मार्गमें लगाना, उनके आत्माको कल्याणमें लगा देना, पुण्यका कार्य है । जो पुत्र बालकपनमें धर्मशिक्षा ग्रहण कर लेते हैं वे फिर धर्ममार्गसे च्युत नहीं होते । यही कारण है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्योंने बालकोंके लिये सबसे पहले धर्मशास्त्रोंके पढ़नेका आदेश दिया है। जो पुरुष अपने वा दूसरोंके पुत्रोंको सबसे पहले धर्मशिक्षा देता है, उनको कुमार्गमें जानेसे रोकता है और सुमार्गमें लगाता है ऐसे भव्यजीवको आगेके जन्ममें जाकर श्रेष्ठ और सुयोग्य पुत्रोंकी प्राप्ति होती है।

आगे - सुयोग्य और धार्मिक पतिके प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।
धर्मानुकूलं लभते पतिं स्त्रीः ॥

अर्थ - हे देव अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्य कार्य के करनेसे स्त्रियोंको धर्मानुकूल पति प्राप्त होता है।

उत्तर - दानादिधर्मे सततं निमग्नं।
पुराभवे या पुरुषं विलोक्य ॥
तुष्येद् दयार्द्रा खिल दीननाथं।
श्रेष्ठं पतिं सा लभते गुणज्ञम् ॥ १२३ ॥

अर्थ - जो दयालु स्त्री पहले भवमें देवपूजा पात्रदान आदि धर्मकार्यमें निमग्न रहनेवाले पुरुषोंको देखकर संतुष्ट होती है वह स्त्री अगले जन्ममें अनेक दीनोंकी रक्षा करनेवाले, गुणी और श्रेष्ठ ऐसे उत्तम पतिको प्राप्त होती है।

भावार्थ - जिसके हृदयमें धर्मप्रेम होता है वही जीव धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होता है। धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होना वात्सल्यगुण है और वह सम्यग्दर्शनका एक अंग है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव ही धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न हो सकता है। जो स्त्री ऐसे सम्यग्दर्शनको धारण करती है, वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंको दर्शन कर अत्यंत प्रसन्न होती है जो देवपूजा वा पात्रदान करना अपना कर्तव्य समझती है और धर्मकी रक्षा करनेके लिये धर्मात्माओंकी सहायता करती रहती है, उनको देखकर उनके धर्मप्रेमसे प्रसन्न होती है ऐसी स्त्री परलोकमें जाकर अनेक गुणोंसे सुशोभित धर्मात्मा श्रेष्ठपति पाती है।

आगे - सुपुत्री प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माच्च पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।
लाभः सुतायाः भर्वात ह्यपुत्रे ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्यकर्मके करनेसे परलोकमें जाकर श्रेष्ठ पुत्री प्राप्त होती है ।

उत्तर - दानार्चनादौ च सदा निमग्नां ।
पुत्रीं सुशीलां च परस्य दृष्ट्वा ॥
योऽमणियच्छिक्षणदत्तचितां ।
सीतासमानां लभते स पुत्रीम् ॥ १२४ ॥

अर्थ - जो पुरुष दान पूजा आदि श्रेष्ठ कार्योंमें तल्लीन रहने वाली, सुशील और पढ़ने लिखनेमें चित्त लगानेवाली दूसरोंकी पुत्री को देखकर प्रसन्न होता है वह पुरुष परलोकमें जाकर सीताके समान सुपुत्री प्राप्त करता है ।

भावार्थ - जिस प्रकार राजा जनकके सीता पुत्री हुई थी जो सीता अत्यंत पतिव्रता थी, पतिकी भक्ति करनेवाली थी और जिसका नाम आजतक प्रसिद्ध है ऐसी पुत्री भी बडे भाग्यसे उत्पन्न होती है । जो पुत्री इस जन्ममें प्रतिदिन भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा करती है, दान देती है, संयम पालन करती है, व्रत उपवास करती है, तथा धार्मिकग्रंथोंका स्वाध्याय करती रहती हैं, जो पुत्री कुत्सित नाटक, उपन्यास, काव्य, कथा कहानी आदिकी पुस्तकोंको कभी नहीं पढ़ती है सदाकाल पुण्यवान् मोक्षगामी महापूरुषोंकी कथा वा अन्य धर्मशास्त्रोंके ग्रंथ पढ़ती रहती है तथा अन्य अनेक धर्मकार्य किया करती है ऐसी पुत्री भी परलोकमें जाकर सीताके समान श्रेष्ठ पुत्री होती है तथा जो पुरुष ऐसी सुपुत्रीयोंको देखकर प्रसन्न हुआ करते हैं वे पुरुष भी परलोकमें ऐंसी सुपुत्रीयोंको प्राप्त करते हैं ।

आगे - श्रेष्ठ पत्नी प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
नरः सुभार्यां लभते मनोज्ञाम् ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्यकार्य के करनेसे इस मनुष्यको श्रेष्ठ पत्नी प्राप्त होती है ।

उत्तर - कृत्वा पुरा शीलवतिप्रशंसां ।
दानार्चनादौ सुखदे सुलग्नाम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृष्ट्वा ह्यतुष्यद्विनयान्वितां स्त्रीं ।
श्रेष्ठां स भव्यो लभते सुशीलाम् ।। १२५ ।।

अर्थ - जो पुरुष पहले जन्ममें शीलवती स्त्रियोंकी प्रशंसा करके संतुष्ट होता है अथवा दानपूजा आदि सुख देनेवाले कार्योंमें सदा काल लग्न रहनेवाली और अत्यंत विनयवती स्त्रीको देखकर जो संतुष्ट होता है ऐसे भव्य पुरुषको श्रेष्ठ और सुशील स्त्री प्राप्त होती है ।

भावार्थ - शीलवती स्त्रियोंकी प्रशंसा करना उनको देखकर प्रसन्न होना, उनके शीलगुणकी प्रशंसा फैलाना, आदि कार्यों के करनेसे शील पालन करनेकी दृढ़ता होती है । यहां पर यह भी समझलेना चाहिये कि जो मनुष्य स्वयं शीलवान होता है, वही पुरुष शीलवती स्त्रियोंकी प्रशंसा किया करता है, और वही पुरुष धर्मकार्योंमें लीन रहनेवाली और पतिकी विनय करनेवाली पतिव्रता स्त्रियोंको देखकर प्रसन्न हुआ करता है । जो पुरुष स्वयं शील पालन नहीं करता यह कुशील पुरुष तो कुशीला स्त्रियोंको देखकर प्रसन्न होता है, तथा ऐसा कुशील पुरुष शीलवती स्त्रियोंसे द्वेष रखता है, कुशीलपुरुष सदाकाल कुशीलको बढ़ानेका प्रयत्न किया करता है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शीलवान् पुरुष ही शीलवती स्त्रियोंकी प्रशंसा किया करता है धर्म पालन करनेवाली पतिव्रता स्त्रियोंको देखकर प्रसन्न हुआ करता है और इसप्रकार यह धर्मकी प्रभावना किया करता है । ऐसे भव्य पुरुषोंको ही परलोकमें जाकर पतिव्रता श्रेष्ठपत्नी प्राप्त होती है ।

आगे - यशस्वी होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
सुकीर्तियुक्तो भवतीह जीवः ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव इस संसारमें यशस्वी होता है ।

उत्तर - तीर्थंकराणां गुणकीर्तनाद्वा ।
सुधार्मिकाणां गुरुसेवया वा ।।
सन्मानसत्कारविधोर्विशेषात् ।
जीवो यशस्वी भवतीह विश्वे ।। १२६ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - जो पुरुष तीर्थंकरोंके गुणवर्णन करता रहता है, धर्मात्मा पुरुषोंका विशेष आदर सत्कार करता रहता है और वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा किया करता है ऐसा पुरुष इस संसारभरमें यशस्वी हो जाता है।

भावार्थ - संसारमें यशस्वी होना, वा कीर्तिमान होना बड़े पुण्यकर्मके उदयसे हुआ करता है। तथा यशस्वी होने योग्य पुण्यकर्म तीर्थंकर परमदेवके गुणवर्णन करनेसे, उनकी स्तुति करनेसे, उनकी पूजा करनेसे बंधको प्राप्त होता है। इसका भी सर्वोत्कृष्ट हुआ करता है। जहां तीर्थंकर परमदेव जन्म लेते हैं। वहांपर उनके गर्भमें आनेसे छह महीने पहलेसे ही इंद्रकी आज्ञासे कुबेर प्रतिदिन तीनों समय रत्नोंकी वर्षा किया करता है तथा उसी समयसे देव देवियां आकर माता पिताकी सेवा किया करती हैं। जन्म लेते ही इन्द्र अपनी सब विभूतिके साथ आता है और भगवानको मेरु पर्वतपर लेजाकर क्षीरसमुद्रके जलसे उनका अभिषेक करता है। यह कितने बड़े पुण्यकर्मकी महिमा है। जो लोकांतिक देव अपने स्थानसे कभी बाहर नहीं आते वे भी तीर्थंकर परमदेवके विरक्त होनेपर आकर भगवानकी स्तुति करते हैं। तथा केवलज्ञानके समय स्वयं इन्द्र आकर समवसरण की रचना करता है। तथा प्रातिहार्य आदिकी विभूति प्रगट होती है। यह सब उन तीर्थंकर परमदेवके अपार पुण्यकी महिमा है। ऐसे तीर्थंकर परमदेवकी भक्ति स्तुति करनेवाला पुरुष अवश्य ही यशस्वी होता है। इसीप्रकार वीतराग निर्ग्रंथ गुरु भी महातपस्वी होते हैं, इन्द्र आदि देव भी उनकी सेवा किया करते हैं। ऐसे गुरुओंकी सेवा करना उनकी स्तुति करना, उनकी वैयावृत्य करना आदि सब कीर्ति फैलनेका कारण है। तथा धर्मात्मा पुरुषोंका आदर सत्कार करना, उनकी सेवा भक्ति करना आदि भी यश बढ़ानेवाला है। जो पुरुष इन सब कामोंको करता है, तथा श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति, धर्मप्रभावना करता है उस पुरुषका यश समस्त संसारमें फैल जाता है। तथा तीर्थंकरोंके समान उनका यश भी चिरकाल तक बना रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - सुख देनेवाले कुटुंबकी प्राप्तिका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
सुखप्रदं ना लभते कुटुम्बम् ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे इस जीवको सुख देनेवाला कुटुंब प्राप्त होता है ।

उत्तर - यो यस्य कस्यापि कुटुम्बिनः कौ ।
कृत्या मिथो वैरविरोधशांतिम् ।।
दत्वा धनादिं सुखिनं च तुष्येत् ।
प्राप्नोति योग्यं सुखदं कुटुम्बम् ।। १२७ ।।

अर्थ - जो पुरुष किसी भी कुटुंबके परस्पर होनेवाले वैर विरोधको शांत कर देता है वा किसी दुःखी कुटुंबको धनादिक देकर संतुष्ट करता है अथवा किसी सुखी कुटुंबको देखकर संतुष्ट होता है ऐसा पुरुष परलोकमें जाकर योग्य और सुख देनेवाले कुटुंबको प्राप्त होता है ।

भावार्थ - योग्य और सुख देनेवाले कुटुंबके प्राप्त होनेसे यह जीव सुखी रहता है । यदि संतान वा भाईबंधु अथवा स्त्री आदि कोई भी अपने कुटुंबमें अयोग्य होता है तो उसके निमित्तसे सब घर वा सब कुटुंब दुखी रहता है । दुखी होनेपर प्रायः धार्मिक क्रियाएं भी छूट जाती हैं । यदि वही कुटुंब योग्य होता है तो घरभरको सुख मिलता है और सुखी होनेसे धार्मिक क्रियाएं भी बिना किसी विघ्नके पूर्ण हो जाती हैं । इसलिए योग्य और सुख देनेवाले कुटुंबका मिलना भी पुण्यकर्मसे प्राप्त होता है । जो पुरुष दूसरोंको योग्य बनाता रहता है, उनके परस्परके वैर विरोधको शांत करता रहता है, धार्मिक शिक्षा देता रहता है, धर्मात्मा पुरुषोंको धन वस्त्र आदि देकर सुखी बनाता है, तथा ऐसे सुखी धर्मात्माओंको देखकर संतुष्ट होता है और जो धर्मात्मा पुरुषोंकी सब प्रकारसे सहायता करता रहता है, ऐसे पुरुषको परलोकमें जाकर अवश्य ही सुयोग्य कुटुंब प्राप्त होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - संयमी होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
सुसंयमी कौ भवतीह जीवः ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव इस संसारमें आकर संयमको धारण करता है ।

उत्तर - यो वागतो देवगतेश्च मातुः ।
पितुः कृता भक्तिवशात्सुसेवा ।।
सत्संगतिर्येन शिवप्रदा हि ।
स संयमी स्याद्गुणदोषवेदी ।। १२८ ।।

अर्थ - जो जीव देवगतिसे आता है, भक्ति पूर्वक माता पिताकी सेवा करता है, और मोक्ष देनेवाली धर्मात्मा सज्जनों की संगति करता है ऐसा गुण और दोषोंको जाननेवाला पुरुष अवश्य ही संयम धारण कर संयमी होता है ।

भावार्थ - संयम धारण करना मोक्षका कारण है, और इसीलिए ऐसा यह संयम बहुत बड़े पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होता है । पांचों इंद्रिय और मनको वश करना इंद्रिय संयम है तथा छहों कार्यके जीवोंकी रक्षा करना प्राणिसंयम है । यह संयम सज्जातिमें उत्पन्न होनेवाले उत्तम मनुष्योंको ही प्राप्त होता है, और इसीलिए वह बहुत अधिक पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होता है, जो जीव पहले जन्ममें भगवान अरहंतदेवकी भक्ति करते हैं, उन की पूजा करते हैं, वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंको दान देते हैं श्रावक धर्मको पालन कर मुनिव्रत धारण करते हैं और फिर तपश्चरण कर देवगतिको प्राप्त होते हैं ऐसे जीव स्वर्गसे आकर उत्तम मनुष्य संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं । इसके सिवाय मातापिताकी सेवा करना, वीतराग गुरुओंकी सेवा करना, धर्मात्मांओंके साथ रहना और सदाकाल धर्मकार्य करते रहना भी देवगतिके कारण हैं तथा इस प्रकार देव गति प्राप्त करनेवाले जीव भी उत्तम मनुष्य होकर संयम धारण कर लेते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - शोकरहित सुखी होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
शोकेन मुक्तश्च सदा सुखी स्यात् ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव शोकरहित सुखी होता है ।

उत्तर - बिम्बप्रतिष्ठां गुरुदेवसेवां ।
विलोक्य तुष्येज्जिनधर्मवृद्धिम् ॥
धर्मोत्सवं धार्मिकजीवलोकान् ।
स शोकमुक्तश्च सदा सुखी स्यात् ॥ १२९ ॥

अर्थ - जो धर्मात्मा मनुष्य बिम्बप्रतिष्ठाको देखकर प्रसन्न होता है, देव धर्म गुरुकी पूजा भक्ति सेवा आदिको देखकर प्रसन्न होता है जिनधर्मकी वृद्धि और अनेक धर्मोत्सवोंको देखकर प्रसन्न होता है तथा धर्मात्मा लोगोंको देखकर प्रसन्न होता है ऐसा मनुष्य परलोकमें जाकर शोकसे रहित होकर सदा काल सुखी रहता है ।

भावार्थ - दु:ख शोक आदिकी प्राप्ति पापकर्मके उदयसे होती है । तथा पापकर्मोंका नाश धर्मकार्योंके करनेसे होता है । भगवन् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना, जिनालय बनवाना, जिनप्रतिमा बनवाना, उनकी प्रतिष्ठा करना, वा दूसरोंके द्वारा कराई हुई प्रतिष्ठाओंको देखना, पात्रदान देना, गुरुसेवा करना, जिन धर्मका उपदेश देकर जिनधर्मकी वृद्धि करना, अन्धमतोंका खंडन कर अपने जिनधर्मकी प्रभावना करना, रथोत्सव करना, कराना, देखना, धर्मात्मा पुरुषोंको दान देना उनके स्वाध्याय आदिका प्रबंध कर देना, जैनग्रंथोंको लिखाकर देना, स्वाध्याय-शाला बनवाना, तीर्थयात्रा करना आदि सब धर्मकार्य हैं । इनके करनेसे पापकर्मोंका नाश होता है, तथा पुण्यकर्मोंकी प्राप्ति होती है । इस प्रकार पापकर्मोंके नाश हो जानेसे यह जीव अगले जन्ममें जाकर शोकरहित हो जाता है और उस पुण्यकर्मका उदय होनेसे सदाकाल सुखी रहता है । यही समझकर भव्य जीवोंको सदाकाल अपना समय धर्मकार्योंमें ही व्यतीत करते रहना चाहिए ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - यह जीव अनेक जीवोंका स्वामी किस कारणसे होता है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
स्वामी भवेशा बहुजीवकानाम् ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्यके करनेसे अनेक जीवोंका स्वामी होता है ।

उत्तर - देवस्य धर्मस्य गुरोश्च सेवां ।
यो धार्मिकाणां विनयं च कृत्वा ।।
दीनाय दत्वैव गृहान्नवस्त्रं ।
तुष्येत्स मृत्वा बहुजीवकर्ता ।। १३० ।।

अर्थ - जो पुरुष देव शास्त्र और धर्मकी सेवा करके संतुष्ट होता है, अथवा जो धर्मात्मा पुरुषोंका आदर सत्कार कर वा उनकी विनयकर संतुष्ट होता है और जो धनहीन धर्मात्माओं को घर अन्न वस्त्र आदि देकर संतुष्ट होता है ऐसा पुरुष मरकर अनेक जीवोंका स्वामी होता है ।

भावार्थ - इस संसारमें राजा महाराज वा बड़े बड़े सेठ लोग ही अनेक जीवोंके स्वामी होते हैं और ऐसे महापुरुष श्रेष्ठ पुण्यकर्मसे ही होते हैं । इस संसारमें सबसे श्रेष्ठ पुण्यकर्मसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी सेवाभक्ति करना है । इसका भी कारण यह है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव सर्वोत्कृष्ट देव हैं, इन्द्रादिक देव भी सदाकाल उनकी सेवा किया करते हैं । यद्यपि वे जिनेन्द्रदेव वीतराग हैं तथापि उनके शुद्ध आत्माके प्रभावसे सेवाभक्ति करनेवाले पुरुषके परिणाम भी शुद्ध हो जाते हैं तथा उन शुद्ध परिणामोंके निमित्तसे वह जीव श्रेष्ठ पुण्यकर्मोंका बंध कर लेता है और उस पुण्यकर्मके उदयसे राजा महाराजा होकर अनेक जीवोंका स्वामी होता है । अथवा जो पुरुष धर्मात्मा पुरुषोंको अनेक प्रकारके दान देता है वह भी परलोकमें जाकर अनेक जीवोंका स्वामी होता है । यही समझकर प्रत्येक भव्यजीवको प्रतिदिन भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनी चाहिये और मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका आदि समस्त रत्नत्रय धारण करनेवाले भव्यजीवोंको यथोचित दान देना चाहिए । इस संसारमें पात्रोंको दान देना ही भूरि संपत्तिका कारण है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - नीरोग शरीर प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
नीरोगदेहं लभते मनुष्यः ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस मनुष्यको किस किस कारणसे नीरोग शरीर प्राप्त होता है ।

उत्तर - सरोगिपात्राय किलौषधान्नं ।
भक्त्या प्रदत्तं विमलासनादि ॥
सरोगिनः साधुजनस्य येन ।
सेवा कृता स्यान्स सुखी ह्यरोगी ॥ १३१ ॥

अर्थ - जो मनुष्य मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका इन चारों प्रकारके रोगी पात्रोंको भक्ति पूर्वक औषध अन्न आदि देता है व निर्मल पवित्र आसन देता है अथवा जो रोगी मुनियोंकी सेवा सुश्रूषा करता है वह जीव अगले भवमें जाकर नीरोग और सुखी होता है ।

भावार्थ - रोगी जीवोंको औषधिदान देना उनको नीरोग बनाना है । जो रोगी नीरोग होजाता है वह जन्मभर सुखी रहता है । यदि कोई साधु रोगी हो वा अर्जिका, श्रावक रोग युक्त हो तो उनको औषधि देकर नीरोग करना विशेष पुण्यका कारण होता है । इसका भी कारण यह है कि रत्नत्रयको धारण करनेवाला चारों प्रकारका संघ नीरोग होनेपर रत्नत्रयकी वृद्धि करता है और अपने आत्माका कल्याण करता है । यदि वह रोगी ही बना रहता तो वह रत्नत्रयकी वृद्धि करनेसे वा आत्मकल्याण करनेसे वंचित रह जाता है । औषधि प्राप्त होजानेसे वह नीरोग होकर फिर आत्मकल्याणमें लग जाता है । अत एव औषधि देनेवाला भी उस आत्म कल्याणमें सहायक बन जाता है और इस प्रकार वह विशेष पुण्यका भागी होता है । उस विशेषपुण्यसे ही वह अगले जन्ममें नीरोग और सुखी रहता है । इसी प्रकार रोगी मुनियोंकी या अन्य व्रतियोंकी सेवा सुश्रूषा करना भी उनके आत्मकल्याणमें सहायता देना है । इसीलिए वह भी विशेष पुण्यका भागी होता है और अगले जन्ममें वह भी सुखी और नीरोग रहता है । अत एव समर्थ पुरुषोंको रोगियोंके लिए औषधि देनेका प्रबंध अवश्य करते रहना चाहिए । तथा साथमें यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी समझ लेना चाहिये कि वह औषधि शुद्ध और पवित्र हो, मद्य, मांस वा आसव अरिष्ट आदिसे बनी न हो। इसका भी कारण यह है कि मद्य वा मांस आदिसे बनी हुई औषधि देनेसे अत्यंत पापका भागी होना पड़ता है, और वह पाप-पुण्यको भी पापरूपमें परिणतः कर देता है। अत एव शुद्ध और पवित्र औषधि देना ही सर्वथा उचित और पुण्यका कार्य है।

आगे - नीतिमान् और बलवान् होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।
नीत्या बलिष्ठो भवतीह जीवः ॥

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्यके करनेसे नीतिमान् और बलवान होता है।

उत्तर - रक्षा कृता येन च दीनजन्तो-
र्वाऽशक्तजन्तोश्च सुखाय यत्नः।
क्षुधातृषार्त्ताय जलान्नदानं।
वलेन नीत्यापि बली भवेत्सः ॥ १३२ ॥

अर्थ - जो मनुष्य दीन दुखी जीवोंकी रक्षा किया करता है, अथवा असमर्थ जीवोंको सुख पहुंचानेका प्रयत्न किया करता है, वा भूखे प्यासे जीवोंको अन्न् जल देता रहता है, ऐसा जीव परभवमें जाकर शरीरसे भी बलवान् होता है। और नीतिके पालन करनेमें भी बलवान् होता है।

भावार्थ - इस संसारमें छोटे मोटे जितने प्राणी हैं उन सबकी रक्षा करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। तथा जो जीव अत्यंत दीन है वा दुखी है उसकी रक्षा करना तो प्रत्येक मनुष्यका विशेष और आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। इसीप्रकार असमर्थ जीवोंको सुख पहुंचाना वा भूखें जीवोंको शुद्ध जल देना भी पुण्यका कार्य है। भूखे प्यासे जीवोंको अन्न जल देनेसे धनादिककी वृद्धि होती है। तथा निर्बलोंकी सहायता करनेसे बलकी प्राप्ति होती है। यही कारण है कि दिन दुखी जीवोंकी रखा करनेसे, उनको सुख पहुंचानेसे वा अन्न जलका दान देनेसे इस जीवको शारीरिक शक्ति भी प्राप्त होती है और नैतिक शक्ति भी प्राप्त होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - समताभाव प्राप्त होनेका कारण बताते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
स्याद्देव ! जीवः समतास्वभावी ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव समतारूप परिणामोंको प्राप्त करलेता है ।

उत्तर - श्राद्धोत्तमादेर्विनयं च कृत्वा ।
यः शान्तमुद्रां जिनदेवसाधोः ।।
विलोक्य तुष्येत्सुजनात्सधर्मा ।
स्यात्कौ स मृत्वा समतास्वभावी ।। १३३ ।।

अर्थ - जो धर्मात्मा पुरुष उत्तम श्रावकोंकी विनय कर संतुष्ट होता है अथवा जिनदेव और वीतराग गुरुकी शांतमुद्रा देखकर प्रसन्न होता है वा सज्जन पुरुषोंको देखकर प्रसन्न होता है ऐसा पुरुष मरकर इसी पृथ्वीपर समतारूप परिणामोंको धारण करने वाला होता है ।

भावार्थ - सुख दुःख दोनोंमें समान परिणाम रखना, सोना मिट्टी दोनोंको समान मानना, इष्टसंयोग वा इष्टवियोगमें समान परिणाम धारण करना वा अनिष्टसंयोग वा अनिष्टवियोगमें समान परिणाम धारण करना समता कहलाती हैं । इस प्रकार समतारूप परिणामोंको धारण करना बडे पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होता है । इसका भी कारण यह है कि जहांपर समतारूप परिणाम होते हैं वहांपर लोभ मोह रागद्वेष आदि सब नष्ट होजाते हैं तथा इन सब विकारोंके नष्ट होनेसे पापरूप कर्मोंका बंध नहीं होता है । इसीलिए समतारूप परिणामोंकी धारण करना पुण्यकर्म के उदयसे होता है और पुण्यकर्मोंका ही बंध करता है । ऐसा यह समता परिणाम मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविकाओंकी विनय करनेसे, रत्नत्रयको धारण करनेसे, देव गुरुकी शांतमुद्राका दर्शन करनेसे और रत्नत्रयको धारण करनेवालोंकी संगति करनेसे ही प्राप्त होता है । यही समझकर रत्नत्रयको धारण करना प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - धर्मात्मा होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
सुधार्मिक: कौ भवतीह जीव: ॥

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव धर्मात्मा हो जाता है।

उत्तर - धर्मोत्सवं धर्मरतान् जनान् यो- ।
दयान्वितान् वा व्रतशीलपूतान् ॥
विलोक्य तुष्येत्स्वगुरुं कृपाब्धिं ।
स धार्मिको ना प्रभवेदमुत्र ॥ १३४ ॥

अर्थ - जो पुरुष किसी धर्मोत्सवको देखकर प्रसन्न होता है, जो अत्यंत दयालु पुरुषोंको देखकर प्रसन्न होता है, वा शील व्रतोंको पालनकर पवित्र होनेवाले पुरुषोंको देखकर प्रसन्न होता है, अथवा कृपाके सागर ऐसे वीतराग निर्ग्रंथ परमगुरुको देखकर जो अत्यंत प्रसन्न होता है ऐसा मनुष्य परलोकमें जाकर भी धर्मात्मा ही होता है।

भावार्थ - जो जीव इस लोकमें रहकर सदाकाल धर्मकार्य करता रहता है वा धर्ममें लीन रहता है वह परलोकमें भी जाकर धर्मात्मा ही होता है। धर्मकार्य करनेसे आत्मा भी धर्मरूप ही हो जाता है और इसीलिए वह अगले जन्ममें भी धर्मात्मा होता है। धर्मकी प्रभावना करनेवाले अनेक प्रकारके उत्सव देखना वा करना, कराना, जिनालय बनवाना, जिनप्रतिमा बनवाना, प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठामें आये हुए अनेक धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होना, दयालु व्रतियोंको देखकर प्रसन्न होना, उनकी सेवा सुश्रूषा करना, देव गुरुओंके दर्शन कर प्रसन्न होना, उनकी पूजा करना गुरुओंकी वैयावृत्त्य करना। तीर्थयात्रा करना आदि सब धर्मकार्य हैं। इनमें लीन रहनेवाला पुरुष अगले जन्ममें भी अवश्य ही धर्मात्मा होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - निर्भय होने का कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
सुनिर्भयो चान्यभवे भवेन्ना ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्यके करनेसे परलोकमें जाकर निर्भय हो जाता है ।

उत्तर - दीनाय येनान्नजलाभयादि ।
कुभूपदुष्टादिजनैर्हताय ।।
दत्वा कृता दुःखिजनस्य रक्षा ।
स निर्भयो ना प्रभवेदमुत्र ।। १३५ ।।

अर्थ - जो पुरुष किसी दुष्ट राजा वा अन्य दुष्ट क्रोधी आदि जीवोंके द्वारा सताये हुए दीन दुखियोंको अन्न जल अभय आदि देकर उन दुखी जीवोंकी रक्षा करता है वह मनुष्य परलोकमें जाकर अवश्य ही निर्भय होता है ।

भावार्थ - किसी भी दुष्टके द्वारा सताया हुआ मनुष्य सदाकाल भयभीत रहता है । तथा जो भयभीत रहता है वह कभी सुखी नहीं हो सकता । प्रायः दुष्ट लोग वा दुष्ट राजा लोग दीन दुखियोंको ही सताया करते हैं । ऐसे दीन दुखियोंको जो अश्वासन दिया करते हैं, उनकी रक्षा करते हैं, उनको अन्न जल दिया करते हैं वा उनको अपनी शरणमें लेकर उनको अभयदान दिया करते हैं, अथवा अपने अपने कर्मके उदयसे दुखी हुए अन्यजीवोंकी भी रक्षा किया करते हैं, उनके दुःख दूर किया करते हैं और उनको सब प्रकारसे निर्भय बना देते हैं ऐसे मनुष्य परलोकमें जाकर भी निर्भय होते हैं ।

आगे - उदार होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्मिन् सुकार्ये हि कृते विशेषे ।
चित्तं ह्युदारं च भवेन्नराणाम् ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किन किन शुभ कार्योंके करनेंसे मनुष्योंका हृदय उदार हो जाता है ।

उत्तर - सत्पात्रदानादनुमोदनाद्वा ।
मिथ्यादृशां वा शिवमार्गदानात् ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दत्त्वान्नदानं हृदि हर्षयोगात् ।
भवेन्नराणां हृदयं ह्युदारम् ।। १३६ ।।

अर्थ - जो मनुष्य वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंको आहार दान देता है, वा उसकी अनुमोदना करता है, अथवा जो मिथ्यादृष्टी जीवोंको मोक्ष मार्गमें लगाता है, वा आहारदान देकर अपने हृदयमें हर्ष मानता है, ऐसा मनुष्य परलोक में जाकर उदार हृदयवाला होता है ।

भावार्थ - दान तो अनेक मनुष्य दिया करते हैं परंतु वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंको दान देनेवाले बड़े पुण्यकर्मके उदयसे ही होते हैं । इसका भी कारण यह है कि वीतराग निर्ग्रंथ मुनि न तो कुछ परिग्रह ही रखते हैं और न कभी किसीसे किसी भी पदार्थकी याचना करते हैं । रत्नत्रयको वा विशेषकर सम्यक्चारित्र को पूर्णरीतिसे प्राप्त करनेके लिये वे आहार अवश्य लिया करते हैं । सम्यक्चारित्रकी पूर्णता बिना शरीरके नहीं हो सकती, तथा बिना आहारके शरीर नहीं टिक सकता । अतएव दिन में एकवार वा दो चार दश उपवास करनेके अनंतर श्रावकोंके आहारके समय आहारके लिये मौन धारण कर श्रावकोंकी बस्तीमें जाते हैं । तथा जिस मार्गसे वा जहांतक सर्वसाधारण लोग आते जाते हैं वहीं तक जाते हैं । यदि किसी श्रावकने उनका प्रतिग्रह कर लिया तो उसके यहां आहार लेलेते हैं अन्यथा फिर अपने तपश्चरणके स्थानपर चले जाते हैं । ऐसी निरीह वृत्तिको धारण करनेवाले मुनियोंकी आहार देनेके परिणाम देव शास्त्र गुरुपर अटल श्रद्धान रखनेवाले जीवोंके ही होते हैं । तथा ऐसे ही जीव उस आहार दान की अनुमोदना कर सकते हैं । वा ऐसे आहार दानको देकर प्रसन्न हो सकते हैं । ऐसे मनुष्य अपनी आयु पूर्णकर भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं वा देव होते हैं तथा वहांसे आकर अत्यंत उदार हृदयको धारण करनेवाले महादानी होते हैं । तथा अंतमें समस्त विभूतिका त्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण करते हैं और तपश्चरण कर मोक्ष प्राप्त करलेते हैं ।

आगे - वक्ता होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ना ।
धीमान् भवेद्वान्यभवे सुवक्ता ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किन किन पुण्यकार्योंके करनेसे यह जीव परलोकमें आकर बुद्धिमान् वक्ता होता है ।

उत्तर - विद्याप्रदानं विदुषां सेवा ।
येन प्रशंसा निजबोधकर्तुः ।।
विद्यार्थिने वा जिनशास्त्रदानं ।
कृतं स वक्तान्यभवे भवेद्धि ।। १३७ ।।

अर्थ - जो मनुष्य इस जन्ममें अनेक विद्यार्थियोंको विद्यादान देता है, जो विद्वानोंकी सेवा करता है, अपने आत्माको आत्मज्ञान करानेवाले गुरुवोंकी प्रशंसा करता है, और जो विद्यार्थियोंको पढ़नेके लिए जैन शास्त्रोंको देता है ऐसा पुरुष परलोकमें जाकर यथार्थ बोलनेवाला वक्ता होता है ।

भावार्थ - विद्याका दान देनेसे आत्मामें विद्याका संस्कार होता है, जो पुरुष स्वयं विद्याका दान नहीं दे सकता उसको विद्याके पढ़नेमें सहायता देनी चाहिये। तीव्रबुद्धि विद्यार्थियोंके लिए पढ़नेके सब साधन इकट्ठे कर देने चाहिये । तथा विद्वानोंकी सेवा करते रहना चाहिये । अपने गुरुकी प्रशंसा करते रहना चाहिये। जिनग्रंथोंको लिखालिखाकर दान देना चाहिये । तथा यह ध्यानमें रखना चाहिये कि जैन शास्त्रोंका पठन पाठन करना ही विद्याध्ययन करना है । क्योंकि आत्माका कल्याण जैनशास्त्रोंके पठन पाठनसे ही होता है । अन्य शास्त्रोंके पठन पाठन करनेसे आत्माका कल्याण कभी नहीं होता, किंतु अन्य शास्त्रोंके पठन पाठनसे यह जीव संसारमार्गमें लग जाता है । इसलिये जो पुरुष जैन शास्त्रोंके पठन पाठनमें सहायता पहुंचाता हैं, जैनशास्त्रोंको पढ़ाता सुनाता है वह पुरुष परलोकमें जाकर अवश्य ही उत्तम वक्ता होता है ।

आगे - स्वतंत्र होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्मिन् सुपुण्ये च कृते विशेष ।
जीवः स्वतंत्रोपि सुखी भवेत्कौ ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव स्वतंत्र और सुखी होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - कुटुंबहीनाय तदात्मशान्त्यै ।
योधं धनादिं सुखदं च दत्वा ।।
वस्त्रान्नहीनाय तदेव तृष्ये-
ज्जीवः स्वतंत्रः स भवेदमुत्र ।। १३८ ।।

अर्थ - जो मनुष्य कुटुंबरहित मनुष्योंकी आत्माओंको शांत करनेके लिये उनको समझाता है, उनके लिए सुखके साधन धन धान्य आदि पदार्थोंको देता है तथा अन्न वस्त्ररहित मनुष्योंको अन्न वस्त्र देकर अत्यंत संतुष्ट होता है ऐसा मनुष्य परलोकमें जाकर अवश्य ही स्वतंत्र और सुखी होता है ।

भावार्थ - आश्रयहीन जीवोंको आश्रय देना, दुखी जीवोंका दुःख दूर कर उनको सुख पहुंचाना, भुखे प्यासोंको अन्न जल देना, वस्त्र रहित संसारी जीवों को वस्त्र देना, मिथ्या ज्ञानियोंको सम्यग्ज्ञान प्रदान करना, अधर्ममें लगे हुए जीवोंको धर्ममें लगाना, वा और भी ऐसे ही ऐसे कार्य करना पुण्य बढ़ाने वाले कार्य हैं तथा ऐसे ही पुण्यकार्य करनेसे यह जीव परलोक में जाकर किसी के आधीन नहीं रहता, स्वतंत्र होकर सुखी होता है तथा अंतमें समस्त कर्मोंको नष्ट कर परम स्वतंत्र सिद्धपरमेष्ठी बन जाता है ।

आगे - सुंदर शरीरकी प्राप्तिका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
ना सुन्दरांगो भवतीह मृत्वा ।।

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्यके करनेसे परलोकमें जाकर सुंदर शरीर धारण करता है ?

उत्तर - स्यात्सर्वजीवः शुभदेहधारी ।
येषां सदिच्छा गुरुदेवभक्तिः ।।
दृष्ट्वान्यदेहं भुवि रोगहिनं ।
तुष्येत्स मृत्वा भुवि सुन्दरांगः ।। १३९ ।।

अर्थ - इस संसारमें समस्त जीव सुंदर शरीरको धारण करने वाले हों ऐसी श्रेष्ठ इच्छा जिनको सदाकाल बनी रहती है तथा जो सदाकाल भगवान् जिनेन्द्र-देवकी भक्ति किया करते हैं वा वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंकी भक्ति किया करते हैं और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो दूसरों के नीरोग शरीरको देखकर संतुष्ट हुआ करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर परलोकमें भी उत्तम सुंदर शरीरको धारण करते हैं ।

भावार्थ - उत्तम और सुंदर शरीरका प्राप्त होना भी बड़े भारी पुण्यकर्मके उदयसे होता है । जो पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेव की भक्ति किया करता है, उनकी पूजा किया करता है, उनका ध्यान किया करता है तथा उनके कहे हुए शास्त्रोंकी आज्ञानुसार अपनी प्रवृत्ति रखता है, वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंकी भक्ति करता है, उनकी सेवा सुश्रूषा करता है, तथा जो पुरुष सदाकाल समस्त जीव के सुखी होनेको भावना रखता है ऐसा जीव श्रेष्ठ पुण्यकर्मके उदयसे परलोकमें जाकर सुन्दर वा मनोहर शरीरको धारण करता है ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
सन्माननीयोऽन्यभवेज्जनोऽयम् ॥

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पुण्यकार्यके करनेसे दूसरे जन्ममें भी जाकर मान्य वा आदर सत्कार करने योग्य होता है ।

उत्तर - येनात्मभक्त्या गुरुदेवसेवा ।
स्नेहप्रवृत्तिश्च मिथः कृता हि ॥
तद्वाक् प्रमाणं मनसा कृतं वै ।
सन्माननीयोऽन्यभवे भवेत्सः ॥ १४० ॥

अर्थ - जो पुरुष अपने आत्मभक्तिसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी सेवा करता है, वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा करता है, तथा उन्हीं देव शास्त्र गुरुओंके वचनोंको मन वचन कायसे प्रमाण मानता है और जो समस्त जीवोंमें परस्पर प्रेममय प्रवृत्ति रखता है ऐसा पुरुष परलोकमें भी जाकर श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा माननीय पुरुष होता है ।

भावार्थ - सज्जन पुरुष भी जिसको माने, जिसका विनय करे उसको माननीय कहते हैं । जो पुरुष पूज्य पुरुषोंकी पूजा किया करता है, पूज्य पुरुषोंकी सेवा किया करता है, वीतराग सर्वज्ञ देवके वचनोंको प्रमाण मानकर उन्हींके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है । जो देव शास्त्र गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन कभी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं करता और न कभी किसीको नीचा दिखानेका प्रयत्न करता है । अथवा जो पुरुष परस्पर वैर विरोध करानेका भी कभी प्रयत्न नहीं करता, जो सदा काल सबके साथ अनुरागरूप प्रवृत्ति रखता है । ऐसा पुरुष मरकर परलोकमें भी वैभवशाली माननीय पुरुष होता है, जिसे सब लोग मानते हैं, सब लोग जिसका विश्वास करते हैं और सब लोग जिसको बड़ा मानते हैं ।

आगे - ज्ञानी व्रती होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
ज्ञानी व्रती स्यान्मनुजोऽन्यलोके ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव परलोकमें भी जाकर ज्ञानी और व्रती मनुष्य होता है ।

उत्तर - येन क्रियायुक्तनरप्रशंसाऽ- ।
नाचारवृत्तेश्च कृता प्रणिन्दा ।।
फलं व्यथादं व्यसनस्य बुध्वा ।
ज्ञानी व्रती स्यादिति भाग्यभाक्सः ।। १४१ ।।

अर्थ - जो पुरुष सातों व्यसनोंको अत्यंत दुःख देनेवाले समझकर अनाचार प्रवृत्तियोंकी निंदा किया करता है, और व्रत उपवास करनेवाले वा जिनपूजा, पात्रदान आदि करनेवाले क्रियायुक्त पुरुषोंकी प्रशंसा किया करता है ऐसा भाग्यशाली पुरुष परलोकमें भी जाकर ज्ञानी और व्रती पुरुष होता है ।

भावार्थ - जूआ, चोरी, शिकार, वेश्यासेवन, परस्त्रीसेवन, मांस, मद्यसेवन आदि सब व्यसन कहलाते हैं । ये व्यसन सब दुःख देनेवाले हैं । इन व्यसनोंके सेवन करनेसे इस लोकमें भी दुःख मिलता है और परलोकमें भी नरकादिकके दुःख भोगने पड़ते हैं । यही समझकर जो पुरुष इन समस्त व्यसनोंका त्याग कर देता है तथा अपनी अनाचार रूप प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग कर देता है और जो सदाकाल शास्त्रोक्त क्रियाकांडका पालन किया करता है, अर्थात् जो प्रतिदिन भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा किया करता है, मुनियोंको दान दिया करता है, व्रत उपवास किया करता है, पर्वके दिनोंमें विशेष उत्सव किया करता है, रथोत्सव आदिके द्वारा धर्मकी प्रभावना किया करता है शास्त्रोंका स्वाध्याय किया करता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और जो सदाकाल धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा किया करता है ऐसा पुरुष परलोकमें भी जाकर ज्ञानी और व्रती पुरुष होता है, तथा भाग्यशाली होता है ।

आगे - भाई बंधुओंमें प्रेम होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
प्रीतिर्भवेद् बंधुजने मिथः कौ ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव अपने भाई बंधुओंका प्रेमपात्र बन जाता है ।

उत्तर - श्रीदां सुशांतिं भुवि कारयित्वा ।
बंधोर्मिथः स्नेहकरीं प्रवृत्तिम् ।।
विलोक्य तुष्येत्मियबांधवानां ।
स्नेहो मिथः स्यादिति तस्य कृत्यात् ।। १४२ ।।

अर्थ - जो पुरुष इस संसारमें लक्ष्मीको बढ़ानेवाली शांति स्थापन कर देता है, जो भाई भाइयोंमें परस्पर स्नेह बढ़ानेवाली प्रवृत्तिको बढ़ाता रहता है, और जो परस्पर प्रेमसे रहनेवाले भाई बंधुओंको देखकर संतुष्ट हुआ करता है ऐसा पुरुष अपने इन श्रेष्ठ कार्योंसे अपने भाई बंधुओंमें परस्पर स्नेहको धारण करनेवाला होता है ।

भावार्थ - भाई बंधुओंमें परस्पर प्रेमके साथ रहना सौभाग्यकी बात है । यह सौभाग्य उसीको प्राप्त होता है जो पहले जन्ममें किसीके लिये कभी कोई उपद्रव नहीं करता । जो सबके साथ शांतिका वर्ताव रखता है, अन्य लोगोमें भी शांति स्थापन कराता है, भाई भइयोंमें प्रेम कराता है, धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होता है, धर्मात्माओंकी सेवा करता है और धर्मात्माओंके अनुरागसे प्रसन्नता प्रगट करता है । ऐसा पुरुष परलोकमें भी जाकर सबका प्रेम पात्र होता है और सबके साथ प्रेमसे रहता है ।

आगे - बिछुड़े हुए पुत्रकी प्राप्तिका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - वियोगिपुत्रस्य भवेत्सुलाभः ।
कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे पुत्रका वियोग होनेपर भी परदेश चले जानेपर भी उसकी प्राप्ति हो जाती है ।

उत्तर - दत्ता धृतिः पुत्रवियोगिने यै-
स्तत्पुत्रलाभाय कृतः प्रयत्नः ।
संयोगवार्ता हि कृता नं चान्या-
ऽस्माद् योग्यकृत्यादिति पुत्रलाभः ।। १४३ ।।

अर्थ - किसी भी पुरुषके पुत्रका वियोग होनेपर अर्थात् किसी भी कारणसे उसके बाहर वा परदेश चले जानेपर जो उसके लिए धैर्य बंधाता है, उसकी खोज करनेके लिए प्रयत्न करता है और जो सदाकाल उसके मिल जानेकी ही बात कहता है, उसके विपरीत बात कभी नहीं कहता ऐसा पुरुष अपने इन योग्य कार्य करनेके कारण अपने बिछुड़े हुए पुत्रको भी प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ - कभी कभी किसीका पुत्र अप्रसन्न होकर घरसे निकल जाता है, परदेश चला जाता है, अथवा उसे कोई बहकाकर ले जाता है वा चुराकर ले जाता है, अथवा साथसे छूट जाता है अथवा और किसी प्रकारसे बिछुड़ जाता है । ऐसी अवस्थामें उसके माता-पिता वा भाई-बंधुओंको धैर्य देना चाहिये, उसको खोज करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए, यदि वह पुत्र मिल जानेपर भी न आता हो तो उसको समझा बुझाकर ले आना चाहिये और इस प्रकार उसके माता-पिता वा भाई बंधुओंको संतुष्ट करना चाहिये जो मनुष्य इस प्रकारका प्रयत्न करते हैं ऐसे पुरुषोंके पुत्रादिकोंका वा भाई-बंधुओंका वियोग कभी होता ही नहीं है । यदि किसी कारणसे हो भी जाय तो वह विछुड़ा हुआ भाई वा पुत्र अपने आप आजाता है । ऐसे पुरुषोंको इष्ट वियोगका दुःख कभी नहीं होता है ।

आगे - पिता-पुत्रके स्नेहका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! स्यात् ।
स्नेहः सुपुत्रस्य मिथः पितुश्च ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे पितापुत्रमें परस्पर स्नेह रहता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - पितुः सुपुत्रस्य मिथः प्रमोदं ।
दृष्ट्वेति तुष्येद्विनयोपचारम् ।।
विनाश्य वैरं ह्यकरोत्प्रशांतिं ।
स्नेहो द्वयोः स्यात्सुकृतेः प्रतापात् ।। १४४ ।।

अर्थ - जो पुरुष पिता-पुत्रके परस्परके प्रमोदको देखकर संतुष्ट होता है, उनके विनय और उपचारको देखकर प्रसन्न होता है, अथवा किसी पितापुत्रके परस्परके विरोधको मिटाकर जो शांति स्थापन कर देता है ऐसा पुरुष अपने पुण्यकार्योंके प्रतापसे पितापुत्र दोनोंके साथ प्रेम धारण करता है ।

भावार्थ - पिता-पुत्र दोनोंके साथ अनुराग पूर्वक वर्ताव रखना, पिताकी सेवा सुश्रूषा करना उनकी आज्ञाका पालन करना, अपने कर्तव्यका पालन कर पिताको प्रसन्न रखना तथा पुत्रका लालन पालन करना, उसको अनुचित कार्योंसे रोकना पढ़ाना, लिखाना, व्यापार आदि सिखाना तथा उसको धार्मिक बनाना आदि समस्त क्रियाएं कुटुंबके सुखके साधन हैं । जो घरका स्वामी अपने कुटुंबके साथ इस प्रकारका वर्ताव रखता है वह स्वामी तथा उसका वह कुटुंब सदाकाल सुखी रहता है । ऐसा सुख बड़े भाग्यसे मिलता है । जो जीव पहले जन्ममें कौटुम्बिक प्रेमको देखकर प्रसन्न होता है, किसी भी कुटुंबमें वैर विरोध नहीं होने देता, होनेपर बहुत शीघ्र उसे मिटा देता है, और जो सेवा, सुश्रूषा, परोपकार आदिके द्वारा सबका प्रिय भाजन बना रहता है ऐसा जीव मरकर परलोकमें भी अपने समस्त कुटुंबके साथ प्रेम भावसे रहता है ।

आगे - गर्भमें सुपुत्र आनेके चिन्ह बतलाते हैं ।

प्रश्न - कथं सुपुत्रस्य स्थितिः प्रगम्या ।
कृत्वा कृपां मे वद मातृगर्भे ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि माताके गर्भमें सुपुत्रके आनेपर क्या क्या चिन्ह प्रगट हो जाते हैं ।

उत्तर - गर्भे सुपुत्रागमनात्प्रसादः ।
मातुः पितुर्वा विमलो विचारः ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दानार्चनादौ च सदा प्रवृत्तिः ।
ज्ञेयं सुकृत्याद्धि सुपुत्रजन्म ।। १४५ ।।

अर्थ - यदि माताके गर्भमें कोई सुपुत्र आजाता है तो माता पिताका हृदय प्रसन्न हो जाता है, उनके विचार निर्मल हो जाते हैं और दान, पूजा आदि शुभकार्योंमें प्रवृत्ति हो जाती है । यदि ये सब कार्य होने लगें तो समझ लेना चाहिए कि इस गर्भसे सुपुत्रका जन्म होगा ।

भावार्थ - माताके गर्भमें जैसा पुत्र होता है माता-पिताके विचार भी वैसे ही हो जाते हैं । यदि वह बालक शूर-वीर होता है तो माता-पिताके विचार किसी भी युद्धमें विजय प्राप्त करनेके परिणाम होजाते हैं । यदि वह गर्भका बालक धर्मात्मा होता है तो माता-पिताके विचार धर्मरूप परिणत होजाते हैं । जिनपूजा, पात्रदान तीर्थयात्रा आदि करनेके विचार होजाते हैं धर्मोत्सव वा रथोत्सव आदिके करने कराने वा देखनेके भाव हो जाते हैं । ऐसे परिणामोंसे उस गर्भके बालकका सुपुत्रपना जान लिया जाता है ।

आगे - इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्तिका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - पुण्योदयाद्वांछितदं सुवस्तु ।
कस्मात्प्रभो ! मे लभते वदात्मा ।।

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्य कर्मके उदयसे इस जीवको इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्ति होता है ।

उत्तर - भव्याय संघाय चतुर्विधाय ।
येन प्रदत्तं विमलौपधान्नम् ।।
सर्वास्मसौख्याय कृताभिलाषा ।
दिव्यं नरः कौ लभते सुवस्तु ।। १४६ ।।

अर्थ - जो पुरुष भव्य पुरुषोंके लिये वा मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका इन चारों प्रकारके संघके लिये पवित्र औषधि, वा पवित्र आहार जल प्रदान करना है अथवा जो समस्त जीवोंको सुखी बनानेकी अभिलाषा करता रहता है ऐसा पुरुष इसी संसारमें इच्छानुसार पदार्थोंको प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ - पात्रदान देनेसे धन धान्यकी वृद्धि होती है, जो पुरुष प्रतिदिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पात्रदान देता है, वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंको आहार देता है वा औषध वा शास्त्र देता है वा मुनियोंके लिये वसतिकाएं बनवा देता है ऐसा पुरुष मरकर भोगभूमिमें ही उत्पन्न होता है । वहांपर उसे कल्पवृक्षोंके द्वारा इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्ति होती रहती है । तदनंतर वहांकी आयु पूर्णकर वह देव होता है और वहां भी इच्छानुसार भोगोपभोगों की सामग्री प्राप्त कर सुखका अनुभव करता रहता हैं। इसलिए यदि इच्छानुसार सुख सामग्री प्राप्त करना है तो प्रत्येक भव्य जीवको पात्रदान देनेका नियम लेना चाहिये यदि ऐसा योग अपने यहां न हो तो जहां कहीं वीतराग निर्ग्रंथ मुनि हों वहां जाकर पात्रदानका लाभ लेना चाहिये । इसमें चूकना मनुष्यजन्मको खो देना है ।

आगे - देव पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
स्वर्गे च जीवो भवतीह देवः ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्य कार्यके करनेसे यह जीव स्वर्गमें जाकर देव होता है ।

उत्तर - व्रतोपवासेन तपोजपाभ्यां ।
देवादिसेवाकरणेन भक्त्या ।।
सत्तीर्थयात्रार्चनदानतः स्यात् ।
शुभोपयोगैर्दिविजी भवेत्सः ।। १४७ ।।

अर्थ - जो मनुष्य अनेक व्रत उपवास करता है, तपश्चरण करता है जप वा ध्यान करता है, भक्तिपूर्वक देव, शास्त्र, गुरुकी सेवा पूजा करता है, तीर्थयात्रा करता है, प्रतिदिन देवपूजा करता है और प्रतिदिन पात्रदान देता है वह भव्य मनुष्य अनेक अनेक पुण्यकार्योंसे स्वर्गमें जाकर देव होता है ।

भावार्थ - देवपर्याय इस संसारमें सुखमय पर्याय है । वहांपर जन्म लेते ही थोड़ी देरमें युवावस्थाको प्राप्त हो जाता है । उसके साथ ही अवधि ज्ञान होता है वहांपर कल्पवृक्ष होते हैं । जो इच्छानुसार समस्त सामग्री देते हैं । अनेक वर्षोंबाद भूखकी इच्छा होती है और उसी समय उनके गलेसे अमृत झड़ पड़ता है जिससे वे परम तृप्त होजाते हैं । देवोंको कभी बुढ़ापा नहीं आता और न कभी कोई दुःख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही होता है। ऐसी यह देवोंकी सुखमय पर्याय तपश्चरण वा ध्यान करनेसे प्राप्त होती है अथवा पूर्ण अणुव्रत वा महाव्रत धारण करनेसे होती है, वा समतापूर्वक अनेक उपवास करनेसे प्राप्त होती है। अथवा मुनिराज आचार्य समंतभद्रके समान भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भक्ति करनेसे प्राप्त होती है। इस प्रकार अनेक पापकर्मोंको नष्ट कर महापुण्य कार्योंके करनेसे यह देवपर्याय प्राप्त होती है।

आगे - मनुष्यपर्याय प्राप्त होनेका कराण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्मिन् सुकार्ये च कृते विशेषे।
मृत्वा भवेन्ना नरजन्मधारी ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस विशेष पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव मनुष्य पर्यायको धारण करता है।

उत्तर - दानार्चनादार्जवधर्मयोगात्।
क्रोधादिनाशात्समतारसाद्वा ॥
मृत्वा मनुष्यों भवतीह विश्वे।
प्रियश्च सर्वस्य सुखप्रदो हिं ॥ १४८ ॥

अर्थ - जो मनुष्य सदा दान देता रहता है, भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करता रहता है, अपने परिणामोंको छल कपटसे रहित सरल बनाये रखता है और जो क्रोधको नाशकर समतारसमें लीन रहता है, ऐसा मनुष्य मरकर इसी रसमें सबको प्रिय और सबको सुख देनेवाला उत्तम मनुष्य होता है।

भावार्थ - स्वाभाविक कोमल परिणामोंका होना मनुष्य पर्यायका कारण है। जिसके परिणाम स्वभावसे ही कोमल वा सरल होते हैं वह क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंसे दूर रहता है, तथा कषायोंसे दूर रहनेके कारण समता-परिणामोंको धारण करता है, और समता धारण करनेसे दान, पूजा, जप, तप आदि आत्माके कल्याण करनेवाले कार्योंमें ही लगा रहता है। इन सब पुण्य कार्योंके करनेसे वह फिर उत्तम मनुष्य होता है अथवा देवपर्यायका सुख भोगकर उत्तम मनुष्य होता है और फिर ध्यान तपश्चरणके द्वारा कर्मोंको नष्ट कर मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - भोगभूमिमें मनुष्य जन्म प्राप्त करनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
ना जन्म गृह्णाति सुभोगभूम्याम् ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह मनुष्य भोगभूमिमें उत्तम मनुष्य होता है ।

उत्तर - स्वसौख्यभोक्त्रे मुनयेऽन्नदानं ।
दत्तं प्रदातुं च कृताभिलाषा ।।
येन प्रशंसा मुनिदानदातुः ।
स जायते वेति सुभोगभूम्याम् ।। १४९ ।।

अर्थ - जो मनुष्य अपने आत्मसुखमें लीन रहनेवाले मुनियोंके लिये आहारदान देता है वा देनेके लिये अभिलाषा करता है अथवा जो देनेवालोंकी प्रशंसा करता है वह मनुष्य आयु पूर्ण होनेपर भोगभूमिमें उत्पन्न होता है ।

भावार्थ - रत्नत्रयको पालन करनेवाले वा अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहनेवाले मुनि मोक्षके साक्षात् पात्र हैं । ऐसे मुनि उत्तमपात्र कहलाते हैं । ऐसे मुनियोंको जो आहार दान देता है वह उन मुनियोंको मोक्ष प्राप्तिमें सहायक होता है और स्वयं मोक्ष पहुंचनेके लिये पूरा साधन बना लेता है । ऐसा मनुष्य आयुके पूर्ण होते ही भोगभूमिमें मनुष्य पर्याय धारण कर उत्पन्न होता है । तथा वहांसे स्वर्गमें देव होता है और फिर एक दो मनुष्य पर्याय धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है । तथा जो मनुष्य शीलव्रत पालन करनेवाले श्रावक श्राविकाओंको आहार दान देता है वा ऐलक, क्षुल्लक, अर्जिका, क्षुल्लिका आदिको आहार वस्त्र आदि देता है वह मध्यम भोग भूमिमें मनुष्य पर्याय धारण कर उत्पन्न होता है । और जो अव्रती सम्यग्दृष्टियोंको आहार वस्त्र आदि यथायोग्य दान देता है वह जघन्य भोगभूमिमें मनुष्य होता है । इसी प्रकार मिथ्या तपश्चरण करनेवाले भेषी साधुओंको जो दान देता है वह कुभोगभूमिमें उत्पन्न होता है । तथा अपात्रोंको दान देना व्यर्थ समझा जाता है । जो पुरुष दान देने की इच्छा करता है वा दानकी अनुमोदना करता है वा दान देनेवालेकी प्रशंसा करता है वह भी उसी फलको प्राप्त होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - आर्यखंडमें उत्पन्न होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
शुभार्यखंडे हि भवेन्नृजन्म ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव आर्यखण्डमें मनुष्यजन्म धारण करता है ।

उत्तर - जनान् कुवासे वसतः प्रगृह्य ।
योऽस्थापयत्सौख्यकरे सुवासे ।।
दत्वान्नवस्त्रं सुखदं प्रतुष्येत् ।
स्यादार्यखण्डे खलु तन्नृजन्म ।। १५० ।।

अर्थ - अत्यंत निकृष्ट स्थानोंमें निवास करनेवाले अनेक जीवोंको उठाकर जो सुख देनेवाले उत्तम स्थानोंमें बसा देता है और फिर उनको सुख देनेवाले अन्न वस्त्र देकर संतुष्ट होता है वह मनुष्य मरकर आर्यखण्डमें उत्तम मनुष्य होता है ।

भावार्थ - आर्यखण्ड एक उत्तम स्थान है । उसमें मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति रहती है । उसमें तीर्थंकर वा अनेक मुनिराज विहार करते रहते हैं । अनेक अर्जिकाएं वा श्रावक श्राविकाएं रत्नत्रयका पालन करती रहती हैं । यही सब आर्यखण्डकी विशेषता है । ऐसे धर्मस्थानमें जन्म लेना वास्तवमें पुण्यका ही कार्य है और पुण्यका ही साधन है । जो मनुष्य निकृष्ट स्थानोंमें बसे हुए लोगोंका उद्धार करते है उन्हें अच्छे स्थानोंमें बसाते हैं ऐसे मनुष्य मरकर आर्यखण्डमें जन्म लेते हैं तथा वहांपर धर्मसाधन कर यथासाध्य रत्नत्रयका पालन करते हैं और ध्यान तपश्चरणके द्वारा कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ।

आगे - अल्पभोजी होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
स्वल्पान्नभोजी भवतीह भव्यः ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव बहुत थोड़ा अन्न भक्षण करने वाला होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - स्वराज्यकर्त्रे मुनयेऽन्नदानं ।
दत्वेति दीनाय गृहादिवस्तु ॥
स्वल्पं च भुक्त्वाऽनशनेन तुष्येत् ।
स्वल्पान्नभोजी स भवेदमुत्र ॥ १५१ ॥

अर्थ - जो मनुष्य अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहनेवाले मुनियोंको आहारदान देकर संतुष्ट होता है वा दीनदरिद्रियोंको अन्न, वस्त्र, घर आदि देकर संतुष्ट होता है । अथवा जो थोड़ासा ही भोजन कर संतुष्ट होता है । ऐसा मनुष्य परलोकमें जाकर अल्प भोजन करनेवाला होता है ।

भावार्थ - बहुत अधिक भोजन करना दरिद्रताका चिह्न है और थोड़ा भोजन करना भाग्यशाली होनेका चिन्ह है । सबसे थोड़ा भोजन देवपर्यायमें होता है। वहांपर सैकड़ों हजारों वर्षोंके बीत जानेपर क्षुधाकी वेदना होती है और उसी समय उनके गलेसे अमृत झड़ पड़ता है जिससे उनकी तृप्ति होजाती है। इसीप्रकार भोगभूमिमें भी बहुत थोड़ा आहार है । उत्तम भोगभूमिमें तीन दिन बाद आंवलेके समान थोड़ा आहार लेते हैं । मध्यम भोगभूमिमें दो दिन बाद और जघन्य भूमि में एक दिन बाद कुछ अधिक आहार लेते हैं । कर्मभूमिमें चौथे कालमें प्रतिदिन एक बार आहार लेते हैं । पांचवे कालमें प्रतिदिन दो बार आहार लेते हैं और छठे कालमें प्रतिदिन कई बार आहार लेते हैं । इससे भी सिद्ध होता है कि पुण्यवान् मनुष्य कम आहार लेते हैं । जो मनुष्य दान देते रहते हैं तथा जो विशेष कर मुनियोंको दान देते हैं वा अनेक व्रत उपवास करते हैं तथा जो सुख दुःख दोनों में संतोष धारण करते हैं ऐसे मनुष्य अपनी आयु पूर्ण होनेपर परलोकमें बहुत थोड़ा अन्न ग्रहण करनेवाले उत्तम पुरुष होते हैं ।

आगे - व्यवहारचतुर होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
भवेच्च भव्यो व्यवहारदक्षः ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह मनुष्य अपने व्यवहारकार्योंसे चतुर होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - विद्याकलादौ चतुरान् विलोक्य ।
विवेकिनो ज्ञानिजनस्य शंसाम् ।।
कृत्वेति तुष्येन्मुनिवर्गसेवां ।
भवेत्स मृत्वा व्यवहारदक्षः ।। १५२ ।।

अर्थ - जो मनुष्य विद्या कला आदिमें चतुर मनुष्योंको देखकर संतुष्ट होता है वा विवेकी और ज्ञानी पुरुषोंकी प्रशंसा किया करता है, अथवा जो मुनियोंकी सेवा किया करता है ऐसा मनुष्य परलोकमें जाकर व्यवहारके सब कार्योंमें निपुण होता है ।

भावार्थ - व्यवहारचतुर होना बुद्धिमानीका काम है। जो मनुष्य बुद्धिमानोंको वा कलाकारोंको देखकर प्रसन्न होता है, ज्ञानी और विचारशील मनुष्योंको देखकर प्रसन्न होता है वा उनकी प्रशंसा करता है अथवा जो मुनियोंकी सेवा करता रहता है, संघकी सेवा करता रहता है, धर्मको धारण करता रहता है वा व्रत उपवास करता रहता है ऐसा मनुष्य परलोकमें जाकर व्यवहारके समस्त कार्योंमें चतुर होता है, वह अपने व्यवहारमें कभी नहीं चूकता ।

आगे - कवि होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
सुकाव्यकर्ता हि भवेत् कविः कौ ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पुण्यकार्यके करनेसे उत्तम काव्यको करनेवाला श्रेष्ठकवि होता है ।

उत्तर - निर्दोषदेवादिकथाप्रशंसा ।
सुकाव्यकर्तुर्गुणकीर्तनादिः ।।
परंपराधर्मगुरोः कृता यै-
र्भवन्ति मृत्वा कवयोवरास्ते ।। १५३ ।।

अर्थ - जो मनुष्य वीतराग सर्वज्ञदेवकी कथा कहता है, उनकी स्तुति किया करता है, उनके चरित्रोंको कहनेवाले उत्तम कवियोंके गुण वर्णन किया करता है वा उनकी प्रशंसा किया करता है, अथवा परंपरासे चले आये धर्मगुरुओंके गुण वर्णन किया करता है वह जीव परलोकमें जाकर उत्तमकवि होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ - उत्तमकवि वही कहलाता है जो धर्मकथाओंको निरूपण करता है, जो तीर्थंकर परमदेवके पवित्र चारित्रको अपने काव्यके द्वारा निरूपण करता है, अथवा अन्य मोक्षगामी पुरुषोंके पवित्र चरित्रको अपने उत्तम काव्यके द्वारा निरूपण करता रहता है । अथवा पुण्यपापका फल दिखलानेके लिए तथा पापका त्याग करानेके लिए वा पुण्यकी वृद्धि करनेके लिए अन्य पुरुषोंकी कथाएं भी कहता है। ऐसे उत्तम विचारवाले कवियोंको उत्तमकवि कहते हैं । जो पुरुष देवपूजा, गुरु-पूजा, शास्त्रपूजा किया करते हैं वा उनकी कथाओंको कहकर अपने आत्माको पवित्र किया करते हैं वा जिनसेन, समंतभद्र आदि उत्तम कवियोंकी प्रशंसा किया करते हैं वा उनकी कथाओंकी सुनाया करते हैं ऐसे पुरुष परलोकमें जाकर सर्वोत्तम कवि होते हैं तथा आचार्य जिनसेन आदि उत्तम कवियोंके समान परमपूज्य पुरुषोंके पवित्र चारित्र्यका निरूपण करते हुए अपने आत्माका कल्याण करते रहते हैं । ऐसे महाकवि दो चार भवमें ही मोक्षकी प्राप्ति कर लेते हैं ।

आगे - दीर्घायु पाकर भी सुखी रहनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
दीर्घायुरेवापि सुखी सदा स्यात् ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह मनुष्य दीर्घ आयु पाकर भी सदा सुखी रहता है ।

उत्तर - व्याघ्रीमुखाद्रक्षित एव जीवो ।
विमोचितो बन्दिगृहत्सुबद्धः ।।
येन प्रदत्तं विमलौषधान्नं ।
दीर्घायुरेवापि सुखी सदा स्यात् ।। १५४ ।।

अर्थ - जो जीव किसी वाघ वा सिंहसे किसी जीवको बचा लेता है वा बंदीगृहमें बंधे हुए प्राणियोंको जो छुड़ा लेता है अथवा जो रोगी वा दु:खी जीवोंको निर्मल औषधि वा अन्न प्रदान किया करता है ऐसा जीव परलोकमें जाकर दीर्घायु प्राप्त करता है और सुखी भी रहता है ।

भावार्थ - दीर्घायु प्राप्त होनेसे वृद्धावस्थामें अनेक प्रकारके दु:ख उत्पन्न होजाते हैं । इन्द्रियां सर्व शिथिल होजाती हैं, कानोंसे सुनाई नहीं पड़ता, नेत्रोंसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिखाई नहीं पड़ता और स्मरण शक्ति सब नष्ट होजाती है। ऐसी अवस्थामें महादुःख होता है। परंतु जो पुरुष जीवोंकी रक्षा करते रहते हैं, प्रत्येक प्राणीको सुख पहुंचाने का प्रयत्न किया करता हैं, रोगीजीवोंकी औषधियां प्रदान किया करते हैं, भूखोंको अन्न जल दिया करते हैं और समस्त जीवोंके साथ मित्रताका व्यवहार किया करते हैं ऐसे पुरुष परलोकमें जाकर दीर्घ आयु पाकर भी सुखी रहते हैं। वृद्धावस्थामें भी उनकी इन्द्रियां काम करती रहती हैं और धन कुटुंब आदि सब प्रकारका सुख उनको प्राप्त होता है।

आगे - पूर्ण अंग उपांग प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! स्या।
दंगैरुपांगैः परिपूर्णदेही ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव अपने शरीरके अंग उपांगोंको पूर्णरूपसे प्राप्त करता है।

उत्तर - अंगाद्युपांगस्य परस्य येन।
रक्षा कृता स्वात्मसमा सदा च ॥
परांगपुष्ट्यैच कृतः प्रयत्नो।
भवेत्स मृत्वा परिपूर्णदेही ॥ १५५ ॥

अर्थ - जो पुरुष सदाकाल अपने आत्माके समान अन्य जीवोंके अंग उपांगोंकी रक्षा किया करता है और दूसरोंके अंग उपांगोंको पुष्ट करनेके लिये जो सदाकाल प्रयत्न किया करता है ऐसा जीव परलोकमें जाकर अपने शरीरके समस्त अंग और उपांगोंसे सुशोभित होता है।

भावार्थ - जो दूसरोंको दुःख दिया करता है वह स्वयं दुःखी होता है, जो दूसरोंके अंग उपांगोंको काटता है वह स्वयं अंग उपांगहीन होता है तथा जो दूसरोंके अंग उपांगोंकी रक्षा करता है, दूसरोंके अंग उपांगोंके रोगको दूर करता है, दूसरोंका लालन पालन करता है वा उनको पुष्ट बनाता है वह पुरुष परलोकमें जाकर अपने अंगउपांगोंको पूर्णरूपसे प्राप्त करता है, तथा उसके अंग उपांग सब पुष्ट होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न होनेका कराण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
श्रेष्ठ कुले जन्म भवेज्जनानाम् ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेता है ।

उत्तर - परप्रशंसापि निजात्मनिंदा ।
दीनस्य हीनस्य कृता च सेवा ॥
विश्वप्रशान्त्यै प्रियसत्यभाषा ।
स्यात्तस्य वा श्रेष्ठकुले सुजन्म ॥ १५६ ॥

अर्थ - जो पुरुष दूसरोंकी प्रशंसा किया करता है, अपनी निंदा किया करता है, दीन हीन पुरुषोंकी सेवा किया करता है, और समस्त संसारमें शांति स्थापित करनेके लिये जो प्रिय तथा सत्य वचन बोलता है वह जीव परलोकमें जाकर श्रेष्ठकुलमें जन्म लेता है ।

भावार्थ - श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेना मोक्षका साधन है और इसीलिए वह प्रशंसनीय माना जाता है । जो लोग मोक्षमार्गसें लगे हुए जीवोंकी प्रशंसा किया करते हैं, साधुओंकी स्तुति वा वैयावृत्य किया करते हैं, श्रावक श्राविकाओंकी प्रशंसा किया करते हैं, उनको यथाशक्ति दान दिया करते हैं तथा अपनी निंदा किया करते हैं, स्वयं मोक्षमार्गमें चलनेका प्रयत्न किया करते हैं दीन हीन मनुष्योंको दान दिया करते हैं, उनकी सहायता किया करते हैं, संसारभरमें शांति स्थापनकी इच्छा किया करते हैं और जो सदाकाल प्रिय और सत्य वचन कहा करते हैं ऐसे पुरुष परलोकमें जाकर उत्तम कुलमें उत्पन्न होते हैं ।

आगे - स्थिर जीविका प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
आजीविकां वा लभते स्थिरां कौ ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्यके करनेसे स्थिर जीविकाको प्राप्त कर लेता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - आजीविकायां विनियोज्य दीनान् ।
स्थानस्थितेभ्यः पशुपक्षिकेभ्यः ॥
दत्वान्नपानं हृदि यश्च तुष्ये- ।
दाजीविकां शांतिकरां लभेत ॥ १५७ ॥

अर्थ - जो पुरुष दीन हीन पुरुषोंको आजीविकामें लगा देता है और अपने अपने स्थानमें ठहरे हुए पशुपक्षियोंको अन्न, जल देकर संतुष्ट होता है ऐसा पुरुष शांतरीतिसे चलनेवाली और सदाकाल रहनेवाली आजीविकाको प्राप्त होता है ।

भावार्थ - यह जीव निराकुल होनेपर सुखी होता है, तथा निराकुल होनेपर ही धर्मकार्यमें लग सकता है । बिना जीविकाके यह जीव प्रतिक्षण व्याकुल बना रहता है । अतएव स्थिरजीविका का होना निराकुलताका कारण है । जो जीव दूसरोंकी जीविका लगाते रहते हैं, भूखों प्यासोंको अन्न जल दिया करते हैं, भूखे पशुओंको चारा दिया करते हैं, भूखे पक्षियोंको दाना डालते हैं अथवा और भी अनेक प्रकारसे जो अन्यजीवोंको निराकुल और सुखी बनाया करता हैं वे जीव परलोकमें जाकर स्थिरजीविका प्राप्त करते हैं और सदाकाल निराकुल होकर सुखी होते हैं ।

आगे - नीचकुलमें उत्पन्न होनेपर भी धन राज्य आदि प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च कुलेऽपि नीचे ।
जना लभन्ते धनराज्यसत्ताम् ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस कार्य के करनेसे नीच कुलमें उत्पन्न होनेपर भी इस जीवको धन वा राज्य मिल जाता है ।

उत्तर - सेवा कृताऽज्ञानतपःस्थितानां ।
येन प्रशंसा विनयः कृतश्च ॥
तेभ्यः प्रदत्तं विमलौषधान्नं ।
मृत्वा सुखी नीचकुलेपि सः स्यात् ॥ १५८ ॥

अर्थ - जो जीव अज्ञानतापूर्वक तपश्चरण करनेवाले मिथ्यागुरुओंकी सेवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता है, प्रशंसा करता है, विनय करता है, वा उनको अन्न, जल, औषधि आदि देता है वह जीव परलोकमें जाकर नीच कुलमें उत्पन्न होकर भी सुखी होता है।

भावार्थ - आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है, जो साधु होकर भी आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते, शरीरको ही आत्मा मान लेते हैं, अथवा आत्माको सर्वव्यापी मानते हैं, वा अणुमात्र मानते हैं, कोई कोई आत्मा और मनको एक मान लेते हैं वा आत्माको क्षणिक मानते हैं इस प्रकार विपरीत मानते हुए वे मिथ्या तपश्चरण करते हैं। उन्हें जीवोंका ज्ञान नहीं, जीवोंके स्थानोंका ज्ञान नहीं, इसलिए वे पंचाग्नि तप तपते हैं, वा वृक्षोंपर उलटे लटकते हैं, बाल बढ़ा लेते हैं जिनसे अनेक जीवोंकी हिंसा होती है। इस प्रकार जो साधु अनेक प्रकारसे जीवोंकी हिंसा करनेवाला तपश्चरण करते हैं उनकी सेवा सुश्रूषा करनेसे पुण्य तो होता नहीं किंतु थोड़ा बहुत अशुभ कर्मोंका बंध अवश्य होता है, इसलिए वे नीच कुलमें उत्पन्न होते हैं तथा अन्नदान देनेके कारण वे उस नीच कुलमें उत्पन्न होकर भी सुखी अवश्य होते हैं उन्हें धनादिककी प्राप्ति होजाती है वा राज्यादिककी प्राप्ति हो जाती है।

आगे - सत्यताके साथ आजीविका चलनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च जनस्य वृत्तिः।
सत्येन सार्धं चलतीह लोके ॥

अर्थ - हे प्रभो ! अब यह बतलाइये कि किस किस कारण से लोगोंकी आजीविका सत्यताके साथ चलती है।

उत्तर - निर्व्याजतो येन सधार्मिकेभ्यो।
दत्तं च दानं भुवितत्प्रशंसा ॥
कृता दरिद्रेऽपि न हीनवृत्तिः।
सत्यैः समं स्याद्भुवि तत्प्रवृत्तिः ॥ १५९ ॥

अर्थ - जो मनुष्य धर्मात्मा पुरुषोंको बिना किसी छल कपटके आहार जल देता है, वा उन धर्मात्माओंकी प्रशंसा करता है अथवा दरिद्र होनेपर भी अपनी हीनवृत्ति धारण नहीं करता वह पुरुष परलोकमें जाकर सत्यताके साथ अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीविका चला लेता है ।

भावार्थ - हीनवृत्ति धारण करना पापका कारण है, जिस आजीविकामें विशेष हिंसा हो उसको हीनवृत्ति कहते हैं । जो पुरुष दरिद्र होनेपर भी हीनवृत्ति धारण करता हो, वा अपनी पापरूप प्रवृत्ति नहीं होने देता, जो अपनी प्रवृत्ति पुण्यरूप रखनेका ही प्रयत्न करता है, पापकार्योंसे बचनेका प्रयत्न करता है, धर्मात्मा पुरुषोंको बिना किसी छल कपटके आहार दान देता है, उनकी सेवा सुश्रूषा करता है उनकी प्रशंसा करता है वा और भी ऐसे ही ऐसे कार्य किया करता है वह पुरुष परलोकमें जाकर निराकुलरूपसे रहता है तथा उसकी आजीविका सत्यता पूर्वक् चलती रहती है ।

आगे - अनेक जीवोंका एक साथ सुखी होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वदैककाले ।
ह्यनेकजन्तोश्च सुखोदयः स्यात् ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे एक ही कालमें अनेक जीव सुखी होजाते हैं ।

उत्तर - ये पंचकल्याणविधिं विलोक्य ।
कृत्वा च भक्त्या जिनतीर्थयात्राम् ।।
दत्वान्नदानं मुनयेऽतिहृष्टा- ।
स्तेष्वैककाले च सुखोदयः स्यात् ।। १६० ।।

अर्थ - जो पुरुष पंच कल्याणक विधिको देखकर प्रसन्न होते हैं, वा तीर्थ-यात्रा करके प्रसन्न होते हैं अथवा जो मुनियोंको अन्नदान देकर संतुष्ट होते हैं ऐसे समस्त पुरुषोंको एक ही साथ पुण्यकर्मोंका उदय हो आता है और सब जीव एक साथ सुखी हो जाते हैं ।

भावार्थ - पंचकल्याणक विधिको देखनेके लिए हजारों मनुष्य इकट्ठे होते हैं । जिस समय मेरुपर्वतपर भगवानका अभिषेक होता है उस समय हजारों मनुष्य उसको देखते हैं और एक साथ जयजयकार करते हैं । इसी प्रकार दीक्षाकल्याणक, ज्ञानकल्याणक वा मोक्षकल्याणकको देखते समय हजारों मनुष्य एक साथ जयजयकार करते हैं । उन सबको एकसाथ पुण्यका बंध होता है । वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुण्यका बंध जब उदयमें आता है तब भी एक ही साथ आता है और इस प्रकार वे समस्त जीव एक साथ सुखी हो जाते हैं। इसी प्रकार सम्मेदशिखर ऐसे पूज्य तीर्थस्थानोंपर प्रतिदिन सैंकड़ों यात्री वंदना करनेके लिए जाते हैं और एकसाथ जयजयकार करते हुए वंदना करते हैं। उन सबको पुण्यबंध होता है और वे कर्म एक साथ ही उदयमें आकर उन सबको सुखी बना देतै हैं। अथवा किसी स्थानपर सैकड़ों हजारों मनुष्य किसी मुनिराजके लिए दिए हुए आहारदानकी अनुमोदना करते हैं उन सबको एकसाथ पुण्यकर्मका बंध होता है तथा एक साथ ही उदयमें आता है। ऐसे सब जीवोंको एक साथ ही सुखकी प्राप्ति हो जाती है।

यद्यपि परिणामोंमें अन्तर होनेसे स्थिति अनुभागमें अंतर पड़ सकता है तथापि ऐसे समयमें अनेक जीवोंके परिणाम प्राय: समान भक्तिरूप होते हैं और ऐसे जीवोंके ही एक साथ उन कर्मोंका उदय होता है, और सब जीव एकसाथ सुखी होते हैं।

आगे - अनेक जीव जो एक साथ मोक्ष जाते हैं उसका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि योगाच्च वदैककाले।
प्रयान्ति मोक्षं बहुजीववर्ग: ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस कार्यके करनेसे अनेक जीव एक साथ मोक्षमें जा विराज मान होते हैं।

उत्तर - दीक्षाप्रशंसा बहुजीवकैर्यै-
भक्त्या कृता तीर्थंकरस्य लोके ॥
स्वानन्दतुष्टस्य यते: स्तुतिर्वा
त एक काले च शिवं प्रयान्ति ॥ १६१ ॥

अर्थ - जिस समय तीर्थंकरपरमदेव दीक्षा धारण करते हैं उस समय अनेक जीव भक्तिपूर्वक उस दीक्षाकी प्रशंसा करते हैं। अथवा अनेक जीव अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहनेवाले मुनियोंकी स्तुति वा प्रशंसा एक साथ मिलकर करते हैं। प्राय: ऐसे ही पुरुष एक ही साथ मोक्षमें जा विराजमान होते हैं।

भावार्थ - तीर्थंकरपरमदेव जब दीक्षा धारण करते हैं तब लाखों लौकांतिक देव आकर उन तीर्थंकर भगवानकी स्तुति करते हैं तथा हजारों लाखों विद्याधर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और हजारों लाखों भूमिगोचरी आकर उन तीर्थंकर भगवानकी स्तुति करते हैं। उनमेंसे लौकांतिक देव तो सब एकावतारी ही होते हैं। वहांसे आकर चरम शरीरी मनुष्य होते हैं और तपश्चरण कर मोक्ष जाते हैं। तथा विद्याधर और भूमि गोचरियोंमें भी अनेक जीव भव्य होते हैं और अनेक जीव निकट भव्य होते हैं। ऐसे जीवोंमें से ही कितने ही जीव एक दो भव धारण कर एकसाथ मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

आगे - किसी पशु वा किसी मनुष्यको देखकर परस्पर दोनोंमें प्रेम होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - पशुं नरं वा कमपीह दृष्ट्वा।
कस्मात् शुभात्स्याच्च मिथः प्रमोदः ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस शुभ कारणसे किसी पशु वा मनुष्यको देखकर परस्पर प्रेम उत्पन्न हो जाता है।

उत्तर - पिता च माता यदि वा सुपुत्रो।
भक्त्योपकारं ह्यकरोन्मिथोन्यः ॥
सखा भवेत्पूर्वभवस्य बंधु-
स्तान्बीक्ष्य मोहो भवतीह जन्तोः ॥ १६२ ॥

अर्थ - पिता, माता, सुपुत्र वा भाई-बंधु आदि मिलकर जब भक्तिपूर्वक एक दूसरेका उपकार करते हैं उनमेंसे परलोकमें जाकर जब किसी एक जीवको देखते हैं अथवा पूर्वभवके किसी भाई वा मित्रके जीवको देखते हैं तब जीवोंको मोह उत्पन्न हो ही जाता है।

भावार्थ - जब किसी पशु वा मनुष्यको देखकर प्रेम उत्पन्न होता है वा द्वेष उत्पन्न होता है तो समझ लेना चाहिए कि इसके साथ पहले भवका कोई न कोई संबंध अवश्य है। बिना पहले भवके संबंधके देखते ही न तो प्रेम उत्पन्न हो सकता है और न द्वेष उत्पन्न हो सकता है। पहले भवमें जिन जीवोंने अपना उपकार किया है अथवा जो अपने द्वारा उपकृत हुए हैं उन्हें देखकर मोह उत्पन्न हो जाता है और इसीलिए उनसे प्रेम प्रगट होने लगता है। पहले जन्मके मित्र वा भाई-बंधु भी कहीं भी भिन्न २ स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं परंतु जब वे जीव परस्पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक दूसरेको देखते हैं तब परस्पर प्रेम उत्पन्न हो ही जाता है । यही समझकर किसी जीवसे द्वेष नहीं करना चाहिए किंतु सबका उपकार करते रहना चाहिए ।

आगे - दु:खमें सहायक होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - किं कारणं मेस्ति बिना ही कोऽपि ।
दु:खे सहायो भवतीह जीव: ।।

अर्थ - हे भगवान् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि बिना कारणके ही कोई भी जीव अपने किसी दु:खमें सहायक हो जाता है इसका क्या कारण है ।

उत्तर - यस्मै प्रदत्तं वसनौषधान्नं ।
यस्यैव रक्ष विपदि त्वया चैत् ।।
कृता विशेषा हृदि यत्मशंसा ।
स स्यात्सहायो विषमेपि दु:खे ।। १६३ ।।

अर्थ - पहले जन्ममें जिस किसी के लिये वस्त्र दिया है औषधि दी है वा अन्न जल दिया है वा विपत्तिमें किसी की रक्षा की है वा जिस किसी की हृदयसे विशेष प्रशंसा की है ऐसा जीव परलोकमें जाकर भी किसी विशेष आपत्तिके समयमें भी सहायक हो जाता है ।

भावार्थ - पहले जन्ममें जिस किसीका हम लोक उपकार करते हैं वा जिस किसीको किसी आपत्तिसे बचाते हैं किसी रोगसे बचाते हैं वा उसकी इच्छानुसार पदार्थकी प्राप्ति कर देते हैं वा जिस किसी की सेवा सुश्रूषा करते हैं अथवा जिस किसी परदेशी की सहायता कर देते हैं किसी बुछुड़े हुएको उसके स्थानपर पहुंचा देते हैं अथवा किसी भी प्रकारसे जिस किसी का उपकार करते हैं वह जीव इस जन्ममें भी अपने ऊपर किसी प्रकारकी आपत्ति वा दु:ख आनेपर अकस्मात् आकर सहायक बन जाता है और उस दु:खको दूर कर देता है । यही समझकर सदाकाल दूसरेका दु:ख दूर करते रहना चाहिये वा दूसरोंका उपकार करते रहना चाहिये ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
व्ययो धनादेर्भवतीह धर्मे ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करनेसे इस जीवका धन वा अन्य पदार्थ धर्मके ही काममें लगते हैं ।

उत्तर - धनव्ययं कुर्वत एव धर्मे ।
लीनान् सुदिद्याध्ययनेपि जीवान् ॥
प्रबावनायां प्रविलोक्य तुष्येद् ।
धर्मे सदा तस्य धनव्ययः स्यात् ॥ १६४ ॥

अर्थ - जो लोग किसी भी धर्मकार्यमें अपना धन खर्च करते हैं वा धर्मकी प्रभावना करनेमें अपना धन खर्च करते हैं, अथवा जो जीव मोक्षमार्गको प्रतिपादन करनेवाले धर्मशास्त्रोंके पठन पाठनमें तल्लीन रहते हैं ऐसे जीवोंको देखकर जो अत्यंत संतुष्ट होते हैं ऐसे जीवोंका धन सदाकाल धर्ममें ही खर्च होता है ।

भावार्थ - जिनके धार्मिक संस्कार पहले जन्मसे होते हैं, जिनको पहले जन्मसे ही धर्मप्रेम है, जो पहले जन्ममें भी धर्मकार्योंमें खर्च होते देखकर संतुष्ट होते थे, जो धर्मकी प्रभावनामें खर्च होते देखकर प्रसन्न होते थे, अथवा जो धर्म शास्त्रोंका स्वाध्याय करनेवालोंको देखकर वा धर्मशास्त्रोंका अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियोंको देखकर प्रसन्न होते थे, वा और भी अनेक धार्मिक संस्कारोंको देखकर जो अत्यंत प्रसन्न होते थे ऐसे जीव इस लोकमें भी आकर धर्म प्रेम रखते हैं, उनके संस्कार सब धार्मिक होते हैं और उनका धन अन्य समस्त पदार्थ धर्मके ही काममें खर्च होते हैं । यह समझकर धर्मप्रेम सदा बनाये रखना चाहिये । परंपरासे यही जीवोंके लिये मोक्षका साधन है ।

आगे - श्रुतज्ञानी होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्यास्च वद प्रभो ! मे ।
जीवो भवेन्कौ श्रुतबोधधारी ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह किस किस पुण्यकार्यके करनेसे श्रुतज्ञानको धारण करनेवाला होता है ।

उत्तर - आज्ञापि भक्त्या परिपालिता हि ।
गुरोश्च सेवा विनयोपचारः ॥
येन प्रशंसापि कृतात्मशुद्धे -
र्भवेत्स भव्यः श्रुतबोधधारी ॥ १६५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - जो पुरुष भक्तिपूर्वक गुरुकी आज्ञाका पालन करते हैं भक्तिपूर्वक उनकी सेवा करते हैं उनका विनय करते हैं वा उनकी सुश्रूषा करते हैं और जो उनकी स्तुति वा प्रशंसा करते हैं अथवा जो आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्रशंसा किया करते हैं ऐसे भव्य जीव श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ - श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है तथा श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम गुरुभक्ति करनेसे होता है, गुरुकी सेवा करनेसे होता है, उनकी आज्ञाका पालन करनसे होता है, उनकी प्रशंसा करनेसे होता है, भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे हुए वचनोंका प्रचार करनेसे होता है। जिनवाणीका पठन-पाठन करना वा करानेसे होता है, वा जिनवाणीका पठन-पाठन करनेवालोंकी सहायता करनेसे होता है। अभिप्राय यह है कि जो भव्यजीव श्रुतज्ञानकी वृद्धि करता कराता रहता है वह जीव अगले जन्ममें अवश्य ही उत्तम श्रुतज्ञानको धारण करनेवाला होता है। यही समझकर भव्यजीवोंको सदाकाल जिनवाणीकी ही सेवा करते रहना चाहिए और उसीका अभ्यास करते रहना चाहिए।

आगे - शीलवान् होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याश्च वद प्रभो ! मे।
सच्छीलधारी भवतीह जीवः ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव परलोकमें जाकर शीलवान उत्पन्न होता है।

उत्तर - सुशीलवत्याः सुजनस्य सेवा।
स्वानन्दभाजः सुगुरोः सुसंगः ॥
श्रीदा कृता येन निजात्मचर्चा।
स स्यान्मनुष्यश्च सुशीलधारी ॥ १६६ ॥

अर्थ - जो मनुष्य पहले जन्ममें शीलवती स्त्रियोंकी सेवा किया करता है, शीलवान् सज्जन पुरुषोंकी सेवा सुश्रूषा किया करता है, अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन रहनेवाले वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके समीप रहकर उनकी सेवा किया करता है, और अतरंग बहिरंग लक्ष्मीको देनेवाली आपने आत्माके शुद्ध स्वरूपकी चर्चा किया करता है, वह मनुष्य इस लोकमें आकर अत्यंत शीलवान् होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ - जिस जीवके शील पालन करनेकी इच्छा होती है, जो शील पालन करनेको श्रेष्ठ समझता है, और आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझता है वह जीव शीलवान पुरुषोंकी सेवा सुश्रूषा किया करता है, वा शीलवती स्त्रियोंको उत्तम समझकर उनकी प्रशंसा किया करता है । अथवा परम शीलव्रत वा परम ब्रह्मचर्यको धारण करनेवाले और अपने शुद्ध आत्मामें लीन करनेवाले वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके समीप रहकर उनकी सेवा सुश्रूषा किया करता है, अथवा परम ब्रह्मचर्य शुद्धात्माका स्वरूप जाननेके लिए उसकी चर्चा किया करता है, उसका मनन अध्ययन और ध्यान किया करता है ऐसा पुरुष परलोकमें जाकर परम शीलवान् होता है ।

आगे - सर्वप्रिय होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।
भवेन्मनुष्यः सफलप्रियः कौ ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव इस संसारमें सर्वप्रिय होता है ।

उत्तर - स्नेहो मिथो येन कृतोऽनुरागः ।
सद्धर्मदेवादिगुरौ क्षमादौ ।।
निजात्मनिंदा च परप्रशंसा ।
स एव भव्यः सफलप्रियश्च ।। १६७ ।।

अर्थ - जो पुरुष धर्मात्मा भाइयों में प्रेम धारण करता है, धर्ममें अनुराग रखता है, भगवान् अरहंत देवमें वा वीतराग निर्ग्रंथ गुरुमें अनुराग रखकर उनकी भक्ति करता है, उत्तम क्षमा आदि दश प्रकारके धर्मे अनुराग धारण करता है, धर्मात्मा जीवोंकी प्रशंसा किया करता है और अपनी निंदा किया करता है, ऐसा भव्य जीव इस संसारमें सबको प्रिय लगनेवाला होता है ।

भावार्थ - जो मनुष्य धर्ममें प्रेम रखता है वही मनुष्य धर्मात्माओं में प्रेम रख सकता है । तथा जो धर्ममें प्रेम रखता है वही पुरुष देव शास्त्र गुरुकी भक्ति किया करता है उनकी पूजा किया करता है उनकी आराधाना किया करता है । इस प्रकार जो पुरुष धर्मप्रिय होता है वही पुरुष अगले जन्ममें जाकर सर्वप्रिय बन जाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। देखो ! धर्ममें प्रेम रखनेके कारण वा धर्मको पूर्ण रीतिसे पालन करनेके कारण तीर्थंकर परमदेव होते हैं और वे तीर्थंकर समस्त देवोंको समस्त मनुष्योंको और समस्ततिर्यचोंको प्रिय होते हैं। सामान्य केवली भी धर्म पालन करनेके कारण ही होते हैं और इसीलिये वे भी सर्वप्रिय ही होते हैं। अतएव सर्वप्रिय बननेके लिये धर्मपर अनुराग रखना अत्यंत आवश्यक है।

आगे - घर घर मंगल गान होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।
गृहे गृहे मंगलगीतवाद्यम् ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनसे घर घर मंगल गीत और वाद्य होते रहते हैं।

उत्तर - महोत्सवो येन जिनार्चनादि।
भक्त्या कृता तीर्थंकरस्तृतिश्च ॥
दूरीकृतं दु:खचयं जनानां।
सन्मंगलं स्यात्खलु तद्गृहादौ ॥ १६८ ॥

अर्थ -जो पुरुष भक्तिपूर्वक भगवान् जिनेन्द्र देवकी पूजा किया करता है, रथोत्सव प्रतिष्ठोत्सव आदि उत्सव किया करता है भगवान् तीर्थंकर परमदेवकी स्तुति किया करंता है, और जो समस्त जीवोंके दु:खोंको दूर किया करता है, ऐसे पुरुषके घर सदा काल मंगल गीत हुआ करते हैं।

भावार्थ - जो पुरुष पहले जन्ममें बार बार धर्मोत्सव किया करता है, कभी रथयात्राका उत्सव कराता है, कभी जिनालय बनवाकर उसका उत्सव कराता है, कभी जिनप्रतिमा बनवाकर उनकी प्रति,टाका महा-उत्सव कराता है, कभी किसी व्रतका उद्यापन कराता है और कभी किसी व्रतका उद्यापन कराकर उत्सव मनाता है। इस प्रकार जो मनुष्य सदाकाल धर्मोत्सव मनाया करता है वह पुरुष परलोकमें जाकर भी अनेक उत्सवोंका पात्र होता है। उसके घर प्रतिदिन उत्सव होता रहता है, प्रतिदिन गीत मंगल होते हैं और प्रतिदन बाजे बजाते हैं। कभी पुत्रोत्सवके गीत मंगल होते हैं, कभी पौत्रोत्सवके होतें हैं, कभी धनप्राप्तिके होते हैं, कभी किसी विजयपर होते हैं। यही समझकर प्रत्येक जीवको सदाकाल धर्मोत्सव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनाते रहना चाहिये ।

आगे - मिष्ट वाणी प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वदेति वाणी ।
प्रिया भवेत्कोकिलवज्जनानाम् ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे इस मनुष्यको कोकिलके समान मिष्ट वाणी प्राप्त होती है ।

उत्तर - सरस्वतीनां सततं सुसेवां ।
जिनेन्द्रभक्तिं कृतवान् सुगीत्या ।।
सम्यक् प्रयत्नं प्रियभाषणार्थं ।
तेषां भवेत्कोकिलतुल्यवाणी ।। १६९ ।।

अर्थ - जो पुरुष सरस्वती देवीकी सदाकाल सेवा किया करता है, जो मीठे मीठे गीत गाकर भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भक्ति किया करता है और जो प्रियभाषण करनेके लिए भरसक प्रयत्न किया करता है उन पुरुषोंकी वाणी परलोकमें जाकर कोकिलके समान मिष्ट और प्रिय होती है ।

भावार्थ - जो पुरुष पहले जन्ममें अनेक प्रकारके स्तोत्र पढ़कर, अनेक प्रकारके गीत गाकर, अनेक प्रकारकी गद्यपद्यमय कविता बनाकर वा अन्य किसी भी प्रकारसे भगवान् जीनेन्द्रदेवकी भक्ति करता है, अथवा जो भगवान् जिनेन्द्रदेवकी वाणीका पठन पाठन करता है, लिखकर वा लिखाकर जिनालयमें समर्पण करता है, वा चारों प्रकारके संघको समर्पण करता है, वा गुरुको भेंट करता है, शास्त्रोंको श्रेष्ठ बंधनमें बांधकर रखता है, भव्य जीवोंके लिए उन शास्त्रोंके पठन पाठनकी व्यवस्था कर देता है, उनके रखनेके स्थान व साधन बनवा देता है और इस प्रकार जो सरस्वती माताकी सेवा किया करता है तथा सदाकाल प्रिय मिष्ट भाषण करनेके लिए प्रयत्न किया करता है ऐसे पुरुषको परलोकमें जाकर अत्यंत मिष्ट स्वर प्राप्त होता है जिससे उसकी वाणी कोकिलके समान सबके लिये प्रिय और मिष्ट मालूम होती है । यह समझकर भव्यजीवोंको सदाकाल भगवानकी भक्ति करते रहना चाहिये और सदाकाल जिनवाणी माताकी सेवा करते रहना चाहिये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - संतोष और शांतिके लाभका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कुस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! स्यात् ।
सन्तोषशान्तेश्च विशेषलाभः ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे संतोष और शांतिका विशेष लाभ होता है ।

उत्तर - निर्ग्रंथसाधोश्च जिनागमस्य ।
चित्ताक्षजेतुश्च विशेषसेवा ॥
कृता स्तुतिर्येन च तस्य संगः ।
सन्तोषशान्तेश्च विशेषलाभः ॥ १७० ॥

अर्थ - जो पुरुष वीतराग निर्ग्रंथ साधुओंकी विशेष सेवा करता है, जिनवाणी की विशेष सेवा करता है, इन्द्रिय और मनको जीतनेवालोंकी विशेष सेवा करता है, अथवा जो देव शास्त्र गुरुकी स्तुति करता रहता है ऐसे पुरुषको संतोष और शांतिका विशेष लाभ हुआ करता है ।

भावार्थ - जो पुरुष संतोष और शांतिका स्वरूप समझते हैं, तथा जो आत्माके शुद्ध स्वरूपमें ही यथार्थ संतोष और शांति समझते हैं, ऐसे ही पुरुष यथार्थ संतोष और यथार्थ शांतिको धारण करनेवाले वीतराग निर्ग्रंथ गुरूओंकी सेवा किया करते हैं उनकी स्तुति किया करते हैं उनका वैयावृत्य किया करते हैं, और उनकी आज्ञाका पालन किया करते हैं । इसी प्रकार वे मनुष्य भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भक्ति, स्तुति, पूजा आराधना किया करते हैं, जिनवाणीकी सेवा किया करते हैं., जिनवाणीके पठन-पाठनका स्वादन किया करते हैं, और सब प्रकारसे जिनवाणी माताकी सेवा और भक्ति किया करते हैं, ऐसे ही महापुरुष उस परमसंतोष और परमशांतिका विशेषलाभ प्राप्त किया करते हैं । देव, शास्त्र, गुरुके समागम और उनकी सेवासे उनके आत्मामें परमशांति और परमसंतोष प्राप्त हो जाता है । यही उनकी शांति और संतोषका विशेष लाभ है ।

आगे - पापकार्योंसे होनेवाली धनकी वृद्धिका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च सदापि जन्तो- ।
वृद्धिर्भवेत्पापकृते धनादेः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि कैसे पुण्यकार्यसे पापमें लगनेवाले धनकी वृद्धि होती है ।

उत्तर - परोपकारः खलु केवलं यै- ।
र्मिथ्याव्रत वा कुतपः कृतं चेत् ।।
स्यादेव तेषामपि तत्प्रभावाद् ।
वृद्धिः सदा पापकृते धनादेः ।। १७१ ।।
भुक्तं यथान्नं ह्युदरे च यावत् ।
तिष्ठेन्न तावत्तुदति क्षुधादिः ।।
पूर्वार्जितं पापमपीह यावत् ।
जन्तोर्न सत्कार्यकृतेपि शांतिः ।। १७२ ।।

अर्थ - जो पहले जन्में केवल परोपकार किया करते हैं, मिथ्याव्रतोंका पालन करते हैं, मिथ्या तपश्चरण करते हैं ऐसे पुरुषोंके उसके मिथ्यातपश्चरण आदिके प्रभावसे अनेक पाप उत्पन्न करनेके लिये धनादिककी वृद्धि होती है । जिस प्रकार जब तक भूखकी बाधा नहीं सताती तब तक भोजन किया हुआ अन्न पेटमें बना ही रहता है, उसी प्रकार जब तक जीवोंके सत्कार्य शांति नहीं होती तब तक पूर्वोपार्जित पापकर्म बने ही रहते हैं ।

भावार्थ - उपकार दो प्रकारका होता है पहला उपकार अपने आत्माका कल्याण करना और दूसरा उपकार अन्यजीवोंके आत्माका कल्याण करना है । जो जीव पहले अपने आत्माका कल्याण कर लेते हैं वे ही जीव अन्य आत्माओंका कल्याण कर सकते हैं, जो जीव स्वयं अभक्ष्य भक्षण करता है वह दूसरोंके लिए अभक्ष त्याग करनेका उपदेश नहीं दे सकता । यदि किसी प्रयोजन वश देता भी है तो उस उपदेशका कोई असर नहीं होता । गृहस्थोंके हजारों उपदेशोंका जो असर होता है उससे कहीं अधिक असर मुनिराजके एक वाक्यका हो जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि सबसे पहले अपने आत्माका कल्याण कर लेना चाहिये । अपने आत्माका कल्याण हो जानेपर अन्य जीवोंका कल्याण स्वयं होने लगता है । अतएव जो पुरुष अपने आत्माका कल्याण न करते हुए केवल दूसरोंको उपदेश दिया करते हैं उनका वह उपदेश देना वा उपकार करना मिथ्या है । इसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार मिथ्या तपश्चरण करनेसे वा मिथ्या व्रतोंके पालन करनेसे आत्माका कल्याण नहीं हो सकता। दिनभर उपवास करना और फिर रातमें भोजन करना पुण्यका कारण नहीं हो सकता। अतएव ऐसे तपश्चरण वा व्रतोंके पापानुबंधी पुण्यका बंध होता है। जिस पुण्य के उदयसे पापका बंध होता हो उसको पापानुबंधी पुण्य कहते हैं। ऊपर लिखे मिथ्या तपश्चरण वा मिथ्याव्रतोंसे वा मिथ्या, तपस्वियोंको दान देनेसे परलोकमें जाकर धनकी प्राप्ति हो जाती है, परंतु ऐसा धन पापकार्योंमें ही लगता है, किसी व्यसनमें लगता है वा किसी हिंसाके साधनमें लगता है। इस प्रकार उससे महापाप उत्पन्न होकर नरकादिकके दु:ख प्राप्त होते हैं। यहांपर इतना और समझ लेना चाहिए कि मिथ्याव्रत आदिकोंके द्वारा जो पापानुबंधी पुण्यका बंध होता है उनका उदय जब तक बना रहता है तब तक उस धनके द्वारा होनेवाले व्यसनादिकोंसे उत्पन्न हुए पाप कर्म उदयमें नहीं आते। जब उस पापानुबंधी पुण्यका उदय समाप्त हो जाता है तब उन पापोंका उदय होता है। पापी जीवोंके सुखी होनेका यही कारण है।

आगे - देव भी दास हो जाते हैं, इसका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च नृणां भवेयु:
सर्वेपि देवा: सुजनाश्च दासा: ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर वह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे देव भी दास हो जाते हैं, तथा सज्जन भी दास हो जाते हैं।

उत्तर - सुधार्मिका वा सुखिनश्च जीवा: ।
भवन्तु भक्ता: सुगुरोर्जिनस्य ॥
पुरेति भावश्च बभुव येथां ।
सर्वेपि देवाश्च भवन्ति दासा: ॥ १७३ ॥

अर्थ - इस संसारमें समस्त जीव सुखी हों, समस्त जीव धार्मिक हों, समस्त जीव भागवान् जिनेन्द्रदेवके भक्त हों और समस्त जीव वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके भक्त हों इस प्रकारके उत्तम भाव जिनके होते हैं वे जीव अगले जन्ममें जाकर उत्तममनुष्य होते हैं और देव लोग भी उनकी सेवा किया करते हैं।

भावार्थ - इस जीवके जैसे परिणाम होते हैं वैसे ही शुभ वा अशुभ कर्मोंका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बंध हुआ करता है। जो जीव मोक्षमार्गमें लगा रहता है, तथा दूसरोंको मोक्षमार्गमें लगानेके लिए सदाकाल प्रयत्न किया करता है अथवा सब जीव अपने अपने पापकर्मोंका त्याग करदें और सब जीव अहिंसामय पवित्र जैनधर्मका पालन करें, समस्त जीव सुखी हों इस प्रकार जो अपने परिणामोंको सदाकाल धर्मध्यानमें लगाता रहता है वह जीव उस धर्मध्यानके प्रभावसे स्वर्गमें उत्तमदेव होता है। वहांपर चक्रवर्ती आदि उत्तमपदको धारण करनेवाला मनुष्य होता है और उस समयमें अनेक देव उसकी सेवा करते हैं यही समझकर भव्य जीवोंके सदाकाल अपने परिणाम शुभ वा धर्मध्यानरूप ही बनाये रखना चाहिए और सदाकाल मोक्षमार्गमें लगे रहना चाहिए।

आगे - खर्च करनेपर भी धनकी वृद्धि होनेका कारण उदाहरण सहित दिखलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे।
धनस्य वृद्धिर्भवति व्ययेऽपि।

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्यकार्यके करनेसे खर्च करनेपर भी धनकी वृद्धि होती रहती है।

उत्तर - सुपात्रदाने हि धनव्ययेन।
वृद्धिर्धनादेश्च भवेन्न हानिः॥
निष्कासनात्कूपनलस्य बुद्धे-।
र्ययाम्यविद्यार्थिजनाय दानात्॥ १७४॥

अर्थ - वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंको आहारदान देनेसे वा औषधदान देनेसे, वसतिका बनवा देनेसे वा शास्त्रदान देनेसे सदाकाल धनकी वृद्धि होती रहती है। सुपात्रोंको दान देनेसे घनकी हानि कभी नहीं होती। जैसे कि कुएसे जल निकालनेपर भी जलकी कमी नहीं होती अथवा विद्यार्थियोंको विद्या पढ़ानेसे वा देनेसे बुद्धिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं होती किंतु विद्यादान देनेसे बुद्धिकी वृद्धि होती है।

भावार्थ - जिस प्रकार प्रतिदिन कुएसे पानी निकाला जाता है परंतु कुएमें पानी उतना ही बना रहता है जितना निकलता है उतना ही आ जाता है। तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस प्रकार विद्या दान देनेसे विद्याकी कमी नहीं होती किंतु विद्या और बुद्धि दोनोंकी वृद्धि होती रहती है उसी प्रकार सुपात्रोंको दान देनेसे धनमें कभी कमी नहीं होती किंतु सुपात्रदान देनेसे जो पुण्यकी वृद्धि होती है उससे धनकी वृद्धि ही होती रहती है यही समझकर सुपात्रोंके लिए सदाकाल चारों प्रकारका दान देते रहना चाहिए ।

आगे - सर्वत्र कीर्ति फैलनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! में ।
सर्वत्र कीर्तिर्भवतीह नृणाम् ।।

अर्थ - हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्य कार्यके करनेसे मनुष्योंकी कीर्ति सर्वत्र फैलती है ।

उत्तर - मानापमानो भवदक्ष येन ।
त्यक्तः कृतः सर्वहिताय यत्नः ।।
तस्यैव कीर्तिः शशिनो विशुद्धा ।
समस्तविश्वे प्रसरेत्प्रभेव ।। १७५ ।।

अर्थ - जो पुरुष संसारको बढ़ानेवाले अपने मान अपमान का सर्वथा त्याग क़र समस्तत जीवोंके हितके लिये प्रयत्न करता रहता है उसकी चंद्रमाकी प्रभाके समान निर्मल कीर्ति समस्त संसारमें फैल जाती है ।

भावार्थ - जिसप्रकार चंद्रमाकी निर्मल चांदनी समस्त संसारमें फैल जाती है और लोगोंको आनंद देती है उसीप्रकार जो पुरुष जन्ममरणरूप संसारको बढ़ानेवाले मान वा अपमान का सर्वथा त्याग कर देता है, और समस्त जीवोंके हितके लिये सदाकाल प्रयत्न करता रहता है । इसके सिवाय जो देवशास्त्र गुरुकी भक्ति करता है, उनकी पूजा स्तुति करता है वा उनके अनुपम गुणोंका स्मरण किया करता है उस पुरुषकी निर्मल कीर्ति समस्त संसारमें फैल जाती है और सबको सुख देनेवाली होती है ।

आगे - मनोज्ञशरीर प्राप्त करनेका कारण बतलाते है ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वपुर्मनोज्ञं ।
वद प्रभो! मे लभते मनुष्यः ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे इस मनुष्यको मनोहरशरीरकी प्राप्ति होती है।

उत्तर - यः शुद्धचिद्रूपसुखस्य चर्चां।
करोति चानन्दपदे प्रवृत्तिम् ॥
स्वानन्दतृप्तस्य मुनेश्च सेवां।
स दिव्यदेहं लभते मनुष्यः ॥ १७६ ॥

अर्थ - जो पुरुष चिदानन्दमय शुद्ध आत्माके अनंत सुख की चर्चा किया करता है, जो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें वा उसके अनंत सुखमें प्रवृत्त किया करता है और जो अपने शुद्ध आत्मामें तृप्त रहनेवाले परम मुनियोंकी सेवा किया करता है वह मनुष्य परलोकमें दिव्यशरीरको धारण करता है।

भावार्थ - जो मनुष्य उत्तम मुनियोंकी सेवा किया करता है, वा धर्मध्यान धारण किया करता है, शुद्ध ध्यानमें भी लीन रहता है। अथवा जो घोर तपश्चरण करता है, दश धर्मोंका पालन करता है, गुप्ति समितियोंका पालन करता है वा और भी पापोंको नाश करनेवाले कार्य किया करता है वह मनुष्य परलोकमें जाकर दिव्यशरीरको धारण करनेवाला देव होता है और वहांसे आकर कामदेव वा कामदेवके समान मनोहर शरीर को धारण करनेवाला उत्तममनुष्य होता है।

आगे - श्रेष्ठ मनुष्योंमे भी माननीय होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च जनाः प्रभो! ये।
सन्मान्यतां श्रेष्ठजनेऽपि यान्ति ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस कार्यके करनेसे यह जीव श्रेष्ठपुरुषोंमें भी माननीय माना जाता है।

उत्तर - पुराभवे सर्वनृणां हिताय।
कृतः प्रयत्नो विनयोपचारः ॥
सतां यथायोग्य नतिक्रिया यै-।
स्ते योग्यतां श्रेष्ठजनेपि यान्ति ॥ १७७ ॥

अर्थ - जो जीव पहले जन्ममें समस्त जीवोंके हितके लिए प्रयत्न किया करते हैं अथवा जो पुरुष सज्जन पुरुषोंका विनय किया करते हैं, उनकी सेवा सुश्रूषा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया करते हैं, वा यथायोग्य रीतिसे उनको नमस्कार किया करते हैं ऐसे पुरुष परलोकमें जाकर श्रेष्ठ मनुष्योंमें भी सर्वोत्तम योग्यताको धारण करते हैं।

भावार्थ - योग्य काम करनेसे योग्यता प्राप्त होती है। जो जीव समस्त जीवोंके हितके लिए प्रयत्न करते रहते हैं, दु:खी जीवोंका दु:ख दूर करते हैं, रोगियोंकी सहायता करते हैं, भूखोंको अन्न जल देते हैं, वा सज्जनोंकी सेवा सुश्रूषा किया करते हैं, उनकी वैयावृत्य किया करते हैं, वा ऐसे ही ऐसे और भी उत्तम उत्तम धार्मिक कार्य किया करते हैं ऐसे मनुष्य परलोकमें जाकर श्रेष्ठ पुरुषोंमें भी अत्यंत योग्य वा सबके माननीय उत्तम मनुष्य होते हैं।

आगे - पापानुबंधी पुण्यका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि कार्याच्च जनश्च लोके।
पापानुबंध्यं च करोति पुण्यम् ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस कार्यके करनेसे यह मनुष्य पापानुबंधी पुण्य उत्पन्न करता है।

उत्तर - मन्दोदयात्कर्मण एव जीवः।
मिथ्यात्वयुक्तं च करोति पुण्यम् ॥
सुखस्य लेशं भुवि दर्शयित्वा।
प्रप्नोति जीवं भुवि पापमार्गे ॥ १७८ ॥

अर्थ - पापकर्मोंके मंद उदय होनेसे यह जीव मिथ्यात्वके साथ पुण्यकार्य करता है वह पुण्यकार्य परलोकमें जाकर थोड़ासा सुख दिखला देता है परंतु फिर जीवको पापमार्गमें ही घसीट ले जाता है।

भावार्थ - जो जीव मिथ्यात्वके साथ थोड़ासा पुण्यकार्य करते हैं उनके पुण्यबंध तो थोड़ा होता है, परंतु मिथ्यात्वके निमित्तसे पापकर्मोंका बंध अधिक होता है। ऐसे पुण्यको पापानुबंधी पुण्य कहते हैं। ऐसे पुण्यके उदयसे थोड़ासा सुख मिलता है परंतु उस सुखसे वा उस पुण्यके उदयसे मिले हुए धनादिकके द्वारा वह पापकर्म अधिक करने लगता है और फिर उस पापके फल नरकादिकके दु:ख भोगता है। इसलिये इस जीवको सबसे पहले मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिये। समस्त दु:खोंका मूल कारण यही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - पुण्यानुबंधी पुण्यका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कथं कदायं भुवि भव्यजीवः ।
पुण्यानुबंध्यं च करोति पुण्यम् ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह भव्यजीव कब और किस प्रकार पुण्यानुबंधी पुण्य प्राप्त करता है ।

उत्तर - भव्यो जनो दर्शनमोहनाशाद् ।
यत्किंचिदेवं हि शुभं करोति ॥
पुण्यानुबंध्यं कथितं तदेव ।
तद्योगतो याति शिवं स योगी ॥ १७९ ॥

अर्थ - जो भव्यजीव दर्शनमोहनीय कर्मके नाश होनेसे जो कुछ भी पुण्यकार्य करता है उसको पुण्यानुबंधी पुण्य कहते हैं, इस पुण्यानुबंधी पुण्यके निमित्तसे यह योगी अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ - इस संसारमें दर्शनामोहनीय कर्म ही समस्त पापोंका कारण है । जब यह दर्शनमोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है और निर्मल सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है । तब यह जीव अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानने और देखने लगता है तथा साथमें आत्मासे भिन्न शरीरादिक पर पदार्थोंका स्वरूप भी समझने लगता है । उन दोनोंका स्वरूप समझकर वह आत्माके शुद्ध स्वरूपको ग्रहण करने लगता है और आत्माके शुद्ध स्वरूपसे भिन्न राग द्वेष आदि समस्त विभाव परिणामोंका त्याग कर देता है, तथा धन-धान्य वा शरीरादिकसे भी ममत्वका त्याग देता है । ऐसी अवस्थामें उससे पापकार्य तो कभी बनता ही नहीं है, वह जो कुछ करता है वह पुण्यकार्य वा शुभकार्य ही होता है । ऐसे पुण्यकार्यसे जो पुण्यकर्मका बंध होता है उसे पुण्यानुबंधी पुण्य कहते हैं । ऐसे पुण्यकर्मके निमित्तसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, कामदेव, बलदेव आदि उत्तम पदको धारण करनेवाली उत्तम मनुष्यपर्याय पाकर जैनेश्वरी दीक्षा लेता है और घोर तपश्चरण कर समस्तकर्मोंका नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । यही समझकर समस्त भव्यजीवोंको सबसे पहले मोहनीयकर्मका नाश कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेना चाहिये । सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेसे अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - परस्पर शांतिका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे ।
मिथो जनानां भवतीह शांतिः ।।

अर्थ - हे भगवन! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे लोगोंमें परस्पर शांति बनी रहती है ।

उत्तर - गुरूदेशामृतपानतृप्ता ।
दक्षा सदा ये स्वपरोपकारे ।।
तेवां जनानां शिववाच्छाकामा- ।
मिहान्यलोकेऽपि मिथः प्रशांतिः ।। १८० ।।

अर्थ - जो पुरुष वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके उपदेशरूपी अमृतके पीनेसे सदाकाल तृप्त रहते हैं और जो अपने आत्माका कल्याण करनेमें तथा अन्यजीवोंके कल्याण करनेमें सदाकाल चतुर रहते हैं ऐसे मोक्षकी इच्छा करनेवाले जीवोंको इस लोकमें सबके साथ शांति रहती है और परलोकमें भी सदाकाल शांति रहती है ।

भावार्थ - जो आत्माके शांत स्वभावको समझते हैं, वे ही भव्यजीव सदाकाल शांत रहते हैं । ऐसे जीव पंचपरमेष्ठीकी भक्ति किया करते हैं, सदाकाल उनकी पूजा किया करते हैं, आचार्य, उपाध्याय, साधुओंको आज्ञाका पालन किया करते हैं, उनके उपदेशसे अपने आत्माको तृप्त किया करते हैं, व्रत उपवास वा ध्यान आदिके द्वारा अपने आत्माका कल्याण किया करते हैं तथा अन्य भव्यजीवोंको भी उसी आत्मकल्याणके मार्गसे लगाते रहते हैं । ऐसे जीव इस लोक में भी शांति और निराकुलताके साथ व्यतीत करते हैं और परलोकमें जाकर भी परमशांत अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं ।

आगे - सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे ।
सर्वार्थसिद्धिं लभते मनुष्यः ।।

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्यके करनेसे सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - धर्मानुरागात्स्वपदाभिलाषात् ।
स्वस्वादिनः पंचगुरोः कृपाब्धेः ॥
सेवाविशेषाच्छुभशुक्लयोगाते ।
सर्वार्थसिद्धिं लभते मनुष्यः ॥ १८१ ॥

अर्थ - जो मनुष्य सदाकाल धर्मसे अनुराग रखता है, अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपके प्राप्त होनेकी अभिलाषा रखता है, अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करते रहते हैं कृपाके सागर ऐसे पंचपरपेष्ठियोंकी विशेष सेवा किया करते हैं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानको धारण किया करते हैं ऐसे जीव सर्वार्थसिद्धिमें जाकर उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थ - स्वर्गमें सर्वार्थसिद्धि सबसे ऊपर और सबसे उत्तम विमान है, वहांके देवोंका शरीर एक हाथका होता है वे अहमिन्द्र कहलाते हैं, सब समान ऋद्धिको धारण करनेवाले होते हैं । उनकी आयु तेतीस सागरकी होती है । वे अपना विमान छोड़कर कहीं नहीं जाते । वहीं पर बैठे बैठे केवल जीव तत्त्वकी चर्चा किया करते हैं और आयु पूर्णकर उत्तम मनुष्य होते हैं और तपश्चरण कर नियमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं । ऐसी इस सर्वार्थसिद्धिके देव घोर तपश्चरण करनेसे होते हैं, उत्कृष्ट धर्मध्यान वा शुक्ल ध्यानसे उत्पन्न होते हैं, वा पंच परमेष्ठीकी विशेष सेवा करनेसे होते हैं, आत्माके शुद्धस्वरूपमें लीन होनेसे होते हैं और उत्कृष्ट धर्म धारण करनेसे होते हैं ।

आगे - तीर्थंकर होनेका कारण बताते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे ।
प्रबध्यते तीर्थंकरस्य पुण्यम् ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे तीर्थंकर होने योग्य पुण्यकर्मका बंध होता है ।

उत्तर - संसारसिंधौ पतितान् जनान् हि ।
वोद्धृत् यत्नो भुवि यैः कृतश्च ॥
शुद्धे सदा स्थापयितुं स्वधर्मे ।
तैर्बध्यते तीर्थंकरस्य पुण्यम् ॥ १८२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - जो सम्यग्दृष्टी पुरुष संसाररूपी महासागरमें पड़े हुए जीवोंको उठाकर अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें स्थापन करनेके लिए प्रयत्न करते रहते हैं ऐसे पुरुष तीर्थंकर होने योग्य पुण्य प्रकृतिका बंध करते हैं ।

भावार्थ - जो पुरुष शुद्ध सम्यग्दृष्टी होते हैं तथा सोलह कारण भावनाओंका चिंतवन करते रहते हैं और जो समस्त जीवों के दु:खोंको दूर करनेकी तथा सबको मोक्ष प्राप्त करा देनेकी भावना रखते हैं ऐसे जीवोंके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है । अपने सम्यग्दर्शनको निर्मल रखना, पंच परमेष्ठियोंकी विनय करना शील और व्रतोंको अतिचार रहित पालन करना, निरंतर ज्ञानका अभ्यास करना, संसारसे भयभीत रहना, शक्तिके अनुसार तप करना शक्तिके अनुसार दान देना, साधुओंकी सेवा करना, वैयावृत्य करना, अरहंतदेवकी भक्ति करना, आचार्य परमेष्ठीकी भक्ति करना, उपाध्यायोंकी भक्ति करना, शास्त्रकी भक्ति करना, छह आवश्यकोंको कभी न छोड़ना, धर्मकी प्रभावना करना और धर्मात्माओंमें अनुराग रखना ये सोलह भावनाएं हैं । इनका चिंतन करनेसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है तथा उसके उदयसे समवसरणकी विभूति प्राप्त होता है, आठ प्रतिहार्य और चौंतीस अतिशय प्राप्त होते हैं और सब इंद्र आकर उनकी सेवा करते हैं । यह सब विभूति केवलज्ञान उत्पन्न होने पर होती है और फिर वे अपनी पहले भवकी भावनाके अनुसार समस्त जीवोंकी मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं और अनेक जीवोंको मोक्षमार्गमें लगाकर उनका कल्याण करते हैं ।

आगे - आचार्य इस अध्यायका उपसंहार करते हैं ।

स्वशुद्धचिद्रूपपदाश्रितेन ।
श्रीकुंथुनाम्ना वरसूरिणेति ।।
शुभोपयोगस्य मयाक्षसौख्य-
दातु: स्वरूप: कथितोऽक्षशान्त्यै ।। १८३ ।।

अर्थ - अपने आत्माके शुद्ध चैतन्य स्वरूपमें लीन रहनेवाले मुझ श्रेष्ठ आचार्य श्री कुंथुसागरने इन्द्रिय और मनको शांत वा वश करनेके लिये इंद्रियोंको सुख देनेवाले शुभोपयोगका स्वरूप कहा है ।

भावार्थ - इस अध्यायमें शुभोपभोगका स्वरूप कहा है । शुभोपयोगके फलसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रियोंको सुख प्राप्त होता है वा ऐहिक सामग्री प्राप्त होती है। उस इन्द्रियसुख वा ऐहिकसामग्रीसे विरक्त होनेके लिये वा इन्द्रिय और मनको वशमें करनेके लिये इन्द्रियोंका विजय करनेके लिये इस अध्यायका निरूपण किया है।

इति मुनि श्री १०८ कुंथुसागर विरचिते भावत्रयफलप्रदर्शिनामके ग्रंथे शुभोपयोगफल वर्णनो नाम द्वितीयोऽध्याय:

इस प्रकार मुनि श्री १०८ कुंथुसागर विरचित भावत्रयफलप्रदर्शी नामके ग्रंथ की 'धर्मरत्न' पं. लालाराम शास्त्री कृति हिंदी भाषा टीकामें शुभोपयोग के फलको वर्णन करनेवाला यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धोपयोगका वर्णन

आगे - शुद्धस्वरूपका निरूपण करते हैं ।

निर्द्वन्दं निर्मदं सिद्ध शान्तं नत्वा शिवप्रदम् ।
शुद्धोपयोगरूपं हि वक्ष्ये शुद्धात्मसिद्धये ।। १८४ ।।
यद्विना जन्तुनो जन्म ब्रवीति दु:खदं वृथा ।
चिदानन्दालयस्वैयं स्वामी श्रीकुंथुसागरः ।। १८५ ।।

अर्थ - जो सिद्ध भगवान् समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित हैं, मद-रहित हैं, अत्यंत शांत हैं और मोक्षको देनेवाले हैं ऐसे सिद्धपरमेष्ठीको नमस्कार करके मैं चिदानंदमय अपने शुद्ध आत्माका स्वामी आचार्य श्रीकुंथुसागर आत्माकी शुद्धता प्राप्त करनेके लिये शुद्धोपयोगका स्वरूप निरूपण करता हूं । क्योंकि उसके बिना जीवोंका जन्म दु:ख देनेवाला और व्यर्थ समझा जाता है ।

भावार्थ - आत्माका शुद्धोपयोग साक्षात् मोक्षका कारण है । यही कारण है कि शुद्धोपयोगके बिना इस जीवका जन्म लेना और विशेष कर मनुष्यपर्यायका धारण करना व्यर्थ और दु:खदायी कहलाता है । ऐसे इस शुद्धोपयोगका स्वरूप इस अध्यायमें निरूपण किया जाता है ।

आगे - अनुभूतिके स्वामी होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि पूण्याच्च वद प्रभो ! ना ।
स्वात्मानुभूतेश्च पतिः प्रियः स्यात् ।।

अर्थ - हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव अपने शुद्ध आत्माकी अनुभूतिका स्वामी वा प्रिय होजाता है ।

उत्तर - स्वानन्दतुष्टस्य मुनेः प्रशंसा ।
कृता क्षमादा निजतत्त्वचर्चा ।।
शिवप्रदा येन निजात्मशुद्धिः ।
स्वात्मानुभूतेः स पतिः प्रियः स्यात् ।। १८६ ।।

अर्थ - जो जीव अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें संतुष्ट रहनेवाले मुनियोंकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रशंसा किया करता है, जो उत्तमक्षमाको प्राप्त करानेवाली अपने आत्माके शुद्धस्वरूपकी चर्चा किया करता है जो मोक्ष देनेवाली अपने आत्माकी शुद्धि किया करता है ऐसा पुरुष अपने शुद्ध आत्माकी अनुभूतिका प्रियपति होता है।

भावार्थ - जो मनुष्य शुद्धात्मानुभूतिका स्वरूप समझता है और उसकी महिमाको जनाता है, वही मनुष्य शुद्धात्मामें लीन रहनेवाले मुंनियोंकी प्रशंसा किया करता है, उनकी स्तुति किया करता है, उनकी वैयावृत्य किया करता है और उनकी सेवा भक्ति किया करता है। इसी प्रकार वही मनुष्य अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपकी चर्चा किया करता है, उनके गुणोंको जाननेका प्रयत्न किया करता है. अपने आत्माको शुद्ध करनेका वा कर्मोंको नाश करनेका प्रयत्न किया करता है और इस प्रकार मोक्ष प्राप्त होनेका प्रयत्न किया करता है ऐसा ही पुरुष अपने आत्माकी शुद्धानुभूतिका स्वामी होता है।

आगे - मन वचन कायकी सरलताका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - ब्रवीति यस्मान्मनसा यथा यः।
करोति वा चिन्तयतीह कस्मात्॥

अर्थ - यह मनुष्य जैसा मनसे चिंतवन करता है वैसा ही कहता है और वैसा ही करता है इसका क्या कारण है।

उत्तर - द्रष्टुः प्रबोध्दुः स्वपरात्मनो वा।
द्वेषस्य रागस्य विनाशकर्तुः॥
संगः कृतो येन निजात्मनो हि।
ब्रूयाद् यथा कौ सुकृतिं स कुर्यात्॥ १८७॥

अर्थ - जो पुरुष अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको देखता है वा जानता है और जिससे रागद्वेष दोनोंको नष्ट कर दिया है ऐसे महापुरुषोंकी जो संगति करता है अथवा जो अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहता है, ऐसा पुरुष जो मनमें चिंतवन करता है वही कहता है और जो कहता है वही करता है।

भावार्थ - जिसका मन, वचन, काय सरल होता है, वा जिसके हृदयमें किसी प्रकारकी मायाचारी नहीं होती, किसी प्रकार का लोभ नहीं होता, किसी प्रकारका क्रोध नहीं होता और किसी प्रकारका मान नहीं होता, वही पुरुष जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिंतवन करता है वही कहता है तथा वही करता है। परंतु मन, वचन, कायका सरल होना अत्यंत कठिन है, जो मनुष्य शुद्ध आत्माका स्वरूप समझता है और इसीलिए उसमें लीन रहता है, अथवा जो शुद्ध आत्मामें लीन रहनेवालोंकी संगति करता है, उनकी सेवा भक्ति करता हैं ऐसे पुरुषका ही मन, वचन, काय सरल रहता है।

आगे - मन:पर्यय ज्ञानका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न - कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! स्या-
ज्जीवो मन:पर्ययबोधधारी ॥

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्यकार्यके करनेसे इस जीवको मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।

उत्तर - ध्यानं च धर्म्यं सुतप: प्रकुर्वन् ।
यो वा चिदानन्दरसेन तृप्त: ॥
रत्नत्रयी वा समशान्तिमूर्ति: ।
स स्यान्मन: पर्ययबोधधारी ॥ १८८ ॥

अर्थ - जो मुनि धर्मध्यानका चिंतवन करते हैं, श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं अथवा शुद्ध चिंदानन्दके विज्ञानमय रसमें लीन रहते हैं, जो रत्नत्रयको धारण करते हैं और समता तथा शांतिकी परम मूर्ति हैं ऐसे परम मुनियोंके मन:पर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है।

भावार्थ - जो ज्ञान दूसरेके मनमें विचार किए हुए पदार्थोंको प्रत्यक्ष जान ले उसको मन:पर्ययज्ञान कहते हैं। यह मन:पर्यय ज्ञान निर्मलसम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और निर्मल सम्यकचारित्रको धारण करनेवाले परम मुनियोंके ही होता है। विपुलमति मन:पर्ययको धारण करनेवाले उसी भवसे मोक्षको जाते है तथा ऋजुमति मन:पर्ययको धारण करनेवाले उस भवसे भी जाते हैं और कभी कभी एक दो भव धारण करके भी मोक्ष जाते हैं। जो मुनि घोर तपश्चरण करते हैं और ध्यानमें लीन रहते हैं आत्माके शुद्धस्वभावमें लीन रहते हैं अथवा परमशांति और परम समताको धारण करते हैं ऐसे मुनियोंके मन:पर्ययज्ञान होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - केवलज्ञान होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि हेतोश्च वद प्रभो ! मे ।
जीवो भवेत्केवलबोधधारी ॥

अर्थ - हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जीव किस किस कार्यके करनेसे केवलज्ञान प्राप्त करता है ।

उत्तर - दृग्बोधचारित्रमये स्वरूपे ।
तिष्ठेन्निजानन्दपदे पवित्रे ॥
ज्ञातापि दृष्टाखिलवस्तुनो यः ।
स स्यात्कृती केवलबोधधारी ॥ १८९ ॥

अर्थ - जो स्मयग्दृष्टी भव्य मुनि परमपवित्र रत्नत्रयस्वरूप आत्मामें सदा लीन रहते हैं वा अपने आत्माके शुद्धस्वभावमें लीन रहते हैं तथा जो समस्त पदार्थोंके ज्ञाता दृष्टा हैं ऐसे परमोत्कृष्ट मुनि अवश्य ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिए शुक्लध्यान कारण है । बिना शुक्लध्यानके केवलज्ञान कभी नही होता । इसका भी कारण यह है कि मोहनीय-कर्मके नष्ट होनेपर तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतरायकर्मके नष्ट होनेपर केवलज्ञान होता है तथा ये सब कर्म शुक्लध्यानसे ही नष्ट होते हैं । बिना शुक्लध्यानके घातियाकर्म कभी नष्ट नहीं होते हैं । ऐसा यह शुक्लध्यान श्रेणी चढ़नेके अनंतर होता है । श्रेणी चढ़नेमें वे मुनि ध्यानस्थ ही होते हैं और शुद्ध आत्माका ध्यान करते हैं, शुद्ध आत्मामें लीन रहते हैं, अपने आत्माको अन्य समस्त पदार्थोंका ज्ञाता दृष्टा मानते हुए सबसे भिन्न मानते हैं । ध्यानमें वे केवल आत्मामय रहते हैं अथवा रत्नत्रयमय शुद्धात्म स्वरूप रहते हैं । ऐसे मुनि अपने शुक्लध्यानरूपी महाअग्निके द्वारा कर्मोंको नाश करते जाते हैं और गुणस्थानोंको पार करते जाते हैं । इस प्रकार वे बारहवें गुणस्थानके अंतमें घातियाकर्मोंको नाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं । आयु पूर्ण होनेपर वे अघातियाकर्मोंको नाश कर डालते हैं और मोक्ष प्राप्त करलेते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - आत्माके शुद्धस्वरूपमें अनुराग होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्माद्धि हेतोश्च वद प्रभो ! मे ।
प्रीतिः पवित्रे स्वपदे भवेद्धि ।।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस कारणसे आत्माके पवित्र शुद्धस्वरूपमें अनुराग उत्पन्न होता है ।

उत्तर - दृग्वृत्तमोहक्षयसंभवा या ।
स्वानन्दतुष्टे सुगुरौ प्रतीतिः ।।
श्रद्धा स्वधर्मे भवतीह पश्चात् ।
स्वानन्दसाम्राज्यपदे प्रवेशः ।। १९० ।।

अर्थ - दर्शनमोहनीय वा चारित्रमोहनीय, कर्मका क्षय क्षयोपशम होनेपर सबसे पहले अपने शुद्ध आत्मामें संतुष्ट रहनेवाले वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंमें विश्वास होता है अथवा भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे हुए अहिंसामय जैनधर्ममें श्रद्धा स्वरूपमें अनुराग कर उसमें प्रवेश करने लगता है ।

भावार्थ - दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेसे वा क्षयोपशम होनेसे अथवा क्षय होनेसें देव शास्त्र गुरुमें श्रद्धा उत्पन्न होती है । भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे हुए सप्त तत्त्वोंमें वा छहों द्रव्योंमें श्रद्धा उत्पन्न होती है मोक्षमार्गमें श्रद्धा उत्पन्न होती है और त्यागधर्ममें श्रद्धा उत्पन्न होती है । तदनंतर वह आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझने लगता है तथा उसके शुद्ध स्वरूपको उपादेय वा ग्रहण करने योग्य समझता हुआ उससे भिन्न शरीर, परिग्रह, कुटंब, धन आदि समस्त पदार्थोंको अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न और इसीलिए त्याग करने योग्य हेय समझ लेता है । तदनंतर चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशमादिक होनेपर हेय पदार्थोका त्याग कर देता है और उपादेय स्वरूप अपने शुद्ध आत्माको ग्रहण करने लगता है वा उसमें प्रवेश करने लगता है । बस यहांसे ही उसका सम्यक्चरित्र प्रारंभ होता है और वह धीरे धीरे पूर्ण चारित्रको धारण करता हुआ केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - स्वभावसे ही शुद्ध आत्मामें लीन होनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न - कस्य प्रसादाद्धि वद प्रभो ! मे ।
स्वात्मा स्वभावात्स्वपदे प्रतिष्ठेत् ।।

अर्थ - हे भगवान् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किसके प्रसादसे स्वभावसे ही अपने आत्मामें लीन रहता है ।

उत्तर - निजान्यवेदी च दयार्द्रचितो ।
यः पूर्वतो वा सुसमाधिनिष्ठः ।।
चारित्रमोहादिविशेषनाशात् ।
स्वात्मा स्वभावात्स्वपदे प्रतिष्ठेत् ।। १९१ ।।

अर्थ - जो आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको जानता है, अन्य जीवोंके स्वरूपको वा पुद्गलादिक अन्य समस्त पदार्थोंके स्वरूपको जानता है, जिसका हृदय सदाकाल दयाके परिपूर्ण रहता है और जो पहले ही जन्मसे समाधि वा ध्यानमें लीन रहता है ऐसा आत्मा चारित्र मोहनीय आदि कर्मोंके विशेष नाश होनेसे स्वभावसे ही अपने आत्माके शुद्धस्वरूपमें लीन हो जाता है ।

भावार्थ - इस आत्माको अपने ही आत्माके शुद्धस्वरूपमें लीन होनेके लिये सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता है । बिना सम्यग्दर्शनके न तो सम्यग्ज्ञान होता है, न आत्माका यथार्थस्वरूप जाना जाता है और न अन्य पदार्थोंका यथार्थस्वरूप जाना जाता है । बिना सम्यग्दर्शनके जीवोंकी दयाका पालन भी नहीं होता और न समाधिमरण वा शुभध्यान होता है । जब सम्यग्दर्शनपूर्वक ये ऊपर लिखे हुए सब साधन मिल जाते हैं उस समय चारित्रमोहनीयकर्मका विशेष क्षय हो जाता है तब यह आत्मा स्वभावसे ही अपने आत्मामें लीन हो जाता है । यह मोहनीयकर्म ही आत्माको अपने स्वभावमें स्थिर नहीं होने देता, जब दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनों प्रकारका मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है तब यह आत्मा अपने आप अपने आत्मामें स्थिर होकर आत्माके यथार्थ स्वभावको प्राप्त कर लेता है और फिर शीघ्र ही कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - शुद्धाशुद्ध निश्चयसे सप्त तत्त्वोंका निरूपण करते हुए अपने शुद्ध आत्माको समस्त तत्त्वोंसे भिन्न दिखलाते हैं ।

चिन्मात्रमूर्तिः परमार्थदृष्ट्र्या ।
रागादिकर्ता व्यवह्रारदृष्टया ।।
ज्ञात्वोति पूर्वोक्तचिदात्मचिह्नं ।
चिन्मात्रमूर्तिर्भवतान्ममात्मा ।। १९२ ।।

अर्थ - यदि शुद्धनिश्चयसे देखा जाय तो यह आत्मा अत्यंत शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, यदि व्यवहार दृष्टिसे देखा जाय तो राग-द्वेष आदि विभाव परिणामोंका कर्ता है । इस प्रकार शुद्ध निश्चयनयसे तथा अशुद्ध निश्चयनयसे चैतन्यस्वरूप आत्माके चिह्न बतलाये हैं इनको जानकर मेरा यह आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप बना रहे ।

भावार्थ - यह आत्मा अनादिकालसे कर्मोंके आधीन होकर अनेक प्रकारके शरीर धारण करता है । कर्मके परवश होकर ही नरकमें जाता है, स्वर्गमें जाता है, तिर्यंच होता है वा मनुष्य होता है । कर्मोंके आधीन होकर ही वह चारों गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है । वहांपर यह अपने शरीरके द्वारा कुछ न कुछ क्रियायें करता ही रहता है । कभी घट बनाता है, कभी वस्त्र बनाता है, कभी भोजन बनाता है, कभी यात्रा करता है, कभी किसीको मारता है, कभी बोझा ढोता है, वा अन्य अनेक कार्य किया करता है, यद्यपि ये सब क्रियायें शरीरके द्वारा होती हैं तथापि इनका करनेवाला जीव ही माना जाता है और व्यवहारदृष्टिसे माना जाता है । इसलिए व्यवहारदृष्टिसे यह जीव घट पट आदिका कर्ता कहा जाता है । यदि अशुद्ध निश्चयनयसे देखा जाय तो ये सब क्रियायें शरीरसे होती है, आत्मा तो केवल राग, द्वेष, इच्छा, वा क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि विकारोंका करनेवाला है, आत्मामें इन विकारोंके होनेसे ही ये घट पटादिक पदार्थ बनाते जाते हैं । इसलिए अशुद्धनिश्चयनयसे यह रागादिक विकारोंका कर्ता है । तथा यदि शुद्धनिश्चयसे देखा जाय तो यह आत्मा शुद्धस्वरूप है और इसीलिए वह शुद्धभावोंका कर्ता है । शुद्धनिश्चयनयसे यह जीव अशुद्ध भावोंका कर्ता नहीं है । जिस प्रकार इस जीवको शुद्ध अशुद्ध वा व्यवहारदृष्टिसे कर्ता बतलाया है उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार इन्हीं तीनों नयोंसे भोक्ता समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार यह जीव व्यवहारदृष्टिसे श्वासोच्छ्वादिक दश प्राणोंसे जीवित रहता है, निश्चयसे शुद्धचैतन्य-स्वरूप प्राणोंसे जीवित रहता है। व्यवहारदृष्टिसे चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन वा अवधिदर्शनको धारण करता है तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवाधिज्ञान, मन:-पर्ययज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कुअवधिको धारण करता है और निश्चयनयसे केवल दर्शन और केवलज्ञानको धारण करता है। व्यवहारदृष्टिसे संसारी है, निश्चयदृष्टिसे सिद्धोंके समान है। इस प्रकार भिन्न भिन्न नयोंसे जीव अनेक प्रकारका सिद्ध होता है। इन सबको समझकर अपने आत्माको शुद्ध बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि आत्माके शुद्ध होनेपर ही संसारकी समस्त व्याधियां और चारों गतियोंका परिभ्रमण मिटता है। जब आत्मा शुद्ध होजाता है तब इस आत्माके समस्त विकार नष्ट होजाते हैं और यह आत्मा शुद्ध चिदानंदमय वा परब्रह्मस्वरूप अवस्थाको प्राप्त होजाता है और फिर वह कभी भी इस संसारमें नहीं आता अर्थात् फिर कभी भी शरीर धारण नहीं करता। फिर तो अनंतानंत कालतक अनंत सुखमय बना रहता है। मेरा भी यह आत्मा ऐसे ही चिदानंदमय अवस्थाको प्राप्त हो ऐसी मैं सदाकाल भावना रखता हूं।

आगे - अजीवपदार्थोंको बतलाते हुए उन सबसे अपने शुद्ध आत्माकी भिन्नता दिखलाते हैं।

धर्मोऽप्यधर्मोऽस्ति नभश्च कालो।
ह्यजीवरूपो भुवि पुद्‍लोऽपि॥
नाजीववरूपोऽपि कदा भवामि।
चिन्मात्रमूर्ति: खलु किन्तु शुद्ध:॥१९३॥

अर्थ - धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गलये सब अजीव पदार्थ हैं, यह मेरा आत्मा कभी भी अजीवरूप न हो किंतु सदाकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप बना रहे, ऐसी मैं भावना करता हूं।

भावार्थ - आकाश अनंत है इसके मध्यभागमें लोकाकाश है जो धनवात धनोदधिवात और तनुवातके आधार है। इस लोकाकाशमें सर्वत्र व्याप्त होकर धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य भरे हुए हैं, जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं उतने कालाणु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। अनंतानंत जीव हैं और इनसे भी अनंतानंत पुद्गल हैं। इनमेंसे जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ क्रियावान हैं अर्थात् इनमें चलनेकी शक्ति है। जीवमें तो चलनेकी शक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है तथा पुद्गलमें भी वायु बिजली आदिमें दिखाई देती है। जीवोंमें जैसे वृक्षादिक नहीं चलते उसी प्रकार पुद्गलोंमें भारी पुद्गल नहीं चलते। वे ही पदार्थ हलके होनेपर चलने लगते हैं जैसे लकड़ी नहीं चलती परंतु जल जानेपर उसके बहुतसे परमाणु उड़कर चले जाते हैं, जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हो उनको पुद्गल कहते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, शब्द आदि सब पुद्गल हैं इनमें सूक्ष्म वा स्थूलरीतिसे रूपादिक चारों गुण पाये जाते हैं। जैसे वायुमें रूप दिखाई नहीं देता परंतु जब दो प्रकारकी वायु मिलाकर पानी बना लेते हैं तब उसमें रूप दिखाई देने लगता है। यदि वायु रूप नहीं होता तो पानीमें कहांसे आता इससे साबित होता है कि वायुमें भी रूप है। इसी प्रकार सबमें समझना चाहिए। इन जीव पुद्गलोंको जो गमन करनेमें सहायता देता है उसको धर्मद्रव्य कहते हैं। जो ठहरनेमें सहायता देता है उसको अधर्मद्रव्य कहते हैं। जो इन समस्त पदार्थोंको ठहरनेके लिए स्थान देता है उसको आकाश कहते हैं। तथा जो इन समस्त पदार्थोंकी अवस्थाको बदलता रहता है उस को काल द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पांचो तत्त्व अजीवत्त्व कहलाते हैं। आत्मद्रव्य इन सबसे सर्वथा भिन्न है आत्मा चैतन्य स्वरूप है ज्ञान दर्शन मय है और ये पांचो तत्त्व चैतन्यस्वरूपसे सर्वथा भिन्न वा रहित हैं तथा ज्ञानदर्शनसे सर्वथा भिन्न वा रहित हैं। आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है तथा ये पांचों तत्त्व ज्ञेय और दृश्य हैं। इसलिए मेरा आत्मा अजीव तत्त्वरूप कभी नहीं हो सकता। मेरा आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, समस्त पदार्थोंका ज्ञाता द्रष्टा है, रत्नत्रयस्वरूप है, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मस्वरूप है, पूर्ण चारित्र स्वरूप है, और कर्मोंसे रहित अत्यंत शुद्ध स्वरूप है। ऐसा मेरा आत्मा सदाकाल ऐसा ही बना रहे और अनंतकालतकके लिए अनंत सुखमय हो जाय ऐसी मैं भावना करता हूं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - आस्रव तत्त्वका निरूपण करते हुए अपने आत्माको उससे सर्वथा भिन्न बतलाते हैं ।

अशुद्धजीवस्य च पुद्गलस्य ।
समागमादास्रवतत्त्वजन्म ॥
नाशुद्धजीवोऽस्मि न पुद्गलोऽस्मि ।
भिन्नस्ततश्चास्रवतत्त्वतोऽहम् ॥ १९४ ॥

अर्थ - अशुद्ध जीव और अशुद्ध पुद्गलके मिलनेसे आस्रव तत्त्व उत्पन्न होता है। मेरा यह आत्मा न तो अशुद्धजीवस्वरूप है और न अशुद्धपुद्गलस्वरूप है । इसीलिये मेरा यह आत्मा आस्रव तत्त्वसे सर्वथा भिन्न है ।

भावार्थ - कर्मोंके आनेको आस्रव कहते हैं अथवा जिन कारणोंसे कर्म आते हैं ऐसे मनवचनकायकी क्रियारूप योगोंको भी आस्रव कहते हैं । अथवा मिथ्यादर्शन, अविरत, प्रमाद, योग आदि बंधके कारणोंको भी आस्रव कहते हैं । यह आस्रव अशुद्ध जीव और अशुद्ध पुद्गलोंसे उत्पन्न होता है । इसका भी कारण यह है कि जब इस अशुद्ध जीवके परिणाम राग द्वेषरूप होते हैं तब उन रागद्वेषके निमित्तसे कार्मण वर्गणाएं कर्मरूप परिणत होकर आत्माके साथ मिल जाती हैं । उन कार्मण वर्गणाओंका आत्माके साथ मिल जाना तो बंध है और कर्मरूप परिणत होना आस्रव है । रागद्वेष रूप परिणाम योगोंकी क्रियाओंसे ही होते हैं । इसलिए योग भी आस्रव कहलाते हैं । अथवा राग द्वेष रूप परिणाम भी भावास्रव कहलाते हैं । परंतु ये सब आस्रव हैं पौद्गलिकरूप क्योंकि राग द्वेष भी कर्मोंके उदय से होते हैं इसलिए वे भी पौद्गलिक हैं । मन वचन कायकी क्रिया पुद्गलरूप मन, वचन, कायसे ही होती है । इसलिए वह भी पौद्गलिक ही है तथा कार्मण वर्गणाओंका कर्मरूप परिणत होना पौद्गलिक है ही । इस प्रकार आस्रव तत्त्व पौद्गलिक है और अशुद्ध जीवमें होता है क्योंकि अशुद्ध जीवमें ही रागद्वेष उत्पन्न हो सकते हैं । शुद्ध जीवमें रागद्वेष कभी उत्पन्न नहीं हो सकते । इसलिए आस्रव तत्त्व अशुद्ध जीव और अशुद्ध पुद्गलसे ही उत्पन्न होता है । परंतु मेरा यह शुद्धस्वरूप आत्मा न तो मन, वचन, कायकी क्रियारूप परिणत होता है, न रागद्वेषरूप परिणत होता है और न कर्मोंको ग्रहण करता है । इसलिए मेरा यह शुद्ध आत्मा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आस्रवतत्त्वसे सर्वथा भिन्न है । आस्रवतत्त्व संसारका कारण है और मेरा शुद्ध आत्मा मोक्षस्वरूप है । इस प्रकार भी मेरा शुद्ध आत्मा आस्रवतत्त्वसे सर्वथा भिन्न है । इस प्रकारभी भावना रखना शुद्धोपयोग कहलाता है ।

आगे - बंधतत्त्वका स्वरूप बतलाते हुए उससे अपने शुद्ध आत्मा को सर्वथा भिन्न बतलाते हैं ।

अशुद्धजीवस्य च पुद्गलस्य ।
बंधो मिथः स्यान्नयमानसिद्धः ।।
नाऽशुद्धजीवोऽस्मि न पुद्गलोऽस्मि ।
बंधस्ततो मे च कथं समं स्यात् ।। १९५ ।।

अर्थ - अशुद्धजीव और अशुद्धपुद्गलोंका परस्पर मिलजाना प्रमाण और नयोंसे सिद्ध होनेवाला बंधतत्त्व कहलाता है । परंतु मैं न तो अशुद्धजीव हूं और न अशुद्धपुद्गल हूं । अतएव मेरे साथ यह बंधतत्त्व कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता ।

भावार्थ - बंधतत्त्व तो सर्वथा पौद्गलिक ही है । क्योंकि बिना कार्मणवर्गणाओंके बंध होता ही नहीं है । जब कार्मणवर्गणाएं कर्मरूप परिणत होकर आत्माके अशुद्धप्रदेशोंके साथ मिल जाती हैं तब उसको बंध कहते हैं । तथा यह बंध जिन परिणामोंसे होता है उन परिणामोंको भावबंध कहते हैं । यह भाव रागद्वेषरूप पड़ता है । राग द्वेष रूप परिणाम कर्मोंके उदयसे होते हैं तथा कर्मविशिष्ट आत्मामें ही होते हैं । इसलिए वे भी पौद्गलिक ही कहलाते हैं । इस प्रकार भावबंध वा द्रव्यबंध दोनों ही पौद्गलिक सिद्ध हो जाते हैं । परंतु मेरा यह शुद्ध आत्मा तो न भावबंधरूप है और न द्रव्यबंधरूप है । वह दोनोंसे सर्वथा भिन्न है । मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानदर्शनमय है, रत्नत्रय स्वरूप है, और सबका ज्ञाता द्रष्टा है, परंतु बंधतत्त्व न ज्ञाता दृष्टा है, न रत्नत्रय स्वरूप है और न ज्ञानदर्शनमय है । अतएव मेरा और बंधतत्त्वका कभी कोई संबंध नहीं हो सकता इस प्रकारके शुद्ध भाव रखना शुद्धोपयोग कहलाता है । ऐसा शुद्धोपयोग धारण करनेसे कर्मोंके बंधका सर्वथा नाश हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - संवरतत्त्वका निरूपण करते हुए अपने शुद्ध आत्माको उससे सर्वथा भिन्न बतलाते हैं ।

मिथ्यात्वभावादिनिरोधतः स्यात् ।
सुखप्रदं संवरतत्त्वजन्म ।।
चिन्मात्रमूर्तिः परमार्थतोऽस्मि ।
ततो न मे संवरतत्त्वजना ।। १९६ ।।

अर्थ - मिथ्यात्व अविरत आदि भावोंका निरोध करनेसे सुख देनेवाला संवरतत्त्व उत्पन्न होता है । परंतु परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो मैं शुद्ध चैतन्य-स्वरूप हूं । इसलिये मेरे आत्मामें संवर तत्त्व कैसे उत्पन्न हो सकता है ।

भावार्थ - आस्रवका निरोध करना संवर है । वह दो प्रकारका है, एक भावसंवर और दूसरा द्रव्यसंवर । आत्माके जिन परिणामोंसे आस्रव रुकता है वा आते हुए कर्म रुकते हैं उन परिणामोंको भावसंवर कहते हैं तथा उस आस्रवका जो रुक जाना है उसको द्रव्य संवर कहते हैं । यह दोनों प्रकारका संवर कर्मविशिष्ट अशुद्ध आत्माके ही होता है । क्योंकि आस्रवका रुकना ही संवर है तथा कर्मोंका आस्रव किसी न किसी कर्मके उदय होनेपर ही होता है । बिना किसी कर्मके उदयके आस्रव कभी नहीं हो सकता । ऐसे पौद्गलिकरूप आस्रवके रुकनेसे जो संवर होता है उसको भी पौद्गलिक रूप ही मानना पड़ता है । ऐसे संवर तत्त्व शुद्ध आत्मामें नहीं हो सकता । क्योंकि शुद्ध आत्मामें रागद्वेषरूप आस्रवको उत्पन्न करनेवाले अशुद्धभाव ही उत्पन्न नहीं हो सकते, फिर भला रुकेगा क्या ? शुद्ध आत्मामें जब अशुद्ध भाव ही नहीं है तब उनका रुकना वा रुकजानारूप संवरतत्त्व ही कैसे हो सकता है । इससे सिद्ध होता है कि शुद्ध आत्मामें संवरतत्त्व कभी नहीं हो सकता । यदि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो मेरा आत्मा भी अत्यंत शुद्ध है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानदर्शनमय है, ज्ञाता दृष्टा है और सिद्धोंके समान है तथा संवरतत्त्व इससे विपरीत है । वह न तो चैतन्यस्वरूप है, न ज्ञाता दृष्टा है, न ज्ञानदर्शनमय है, न रत्नत्रयस्वरूप है और न शुद्ध आत्मस्वरूप है । इसलिए वह संवरतत्त्व मेरे शुद्ध आत्मासे सर्वथा भिन्न है । इस प्रकारके अपने परिणाम रखना शुद्धोपयोग कहलाता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - निर्जरातत्त्वका स्वरूप बतलाते हुए उससे अपने शुद्ध आत्माको सर्वथा भिन्न बतलाते हैं ।

सद्दृष्टिजीवाच्च कुपुद्गलस्य ।
वियागतो निर्जरतत्त्वजन्म ॥
चिद्रूपमूर्तिः परमार्थतोऽस्मि ।
ततो न मे निर्जरतत्त्वजन्म ॥ १९७ ॥

अर्थ - सम्यग्दृष्टिजीवके कर्मरूप पुद्गलवर्गणाओंका नष्ट हो जाना वा उस आत्मासे उन कर्मोंका संबंध हट जाना निर्जरा तत्त्व कहलाता है । परंतु मेरा शुद्ध आत्मा परमार्थदृष्टिसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप है इसलिए मेरे आत्मासे निर्जरातत्त्व कभी उत्पन्न नहीं होसकता ।

भावार्थ - कर्मोंका एकदेश क्षय होना निर्जरा है । वह दो प्रकारका है एक भावनिर्जरा और दूसरी द्रव्यनिर्जरा । आत्माके जिन परिणामोंसे निर्जरा होती है उन परिणामोंको भावनिर्जरा कहते हैं तथा जो कर्मोंका क्षय होता है उसको द्रव्यनिर्जरा कहते हैं । अथवा सविपाक अविपाकके भेदसे निर्जराके दो भेद हैं। जो कर्म अपना फल देकर क्षय होते हैं उसको सविपाकनिर्जरा कहते हैं तथा जो कर्म तपश्चरण आदिके निमित्तसे बिना फल दिये ही नष्ट होजाते हैं उसको अविपाकनिर्जरा कहते हैं । यह सब निर्जरा पौद्गलिक है । क्योंकि द्रव्यनिर्जरामें तो कर्मोंका ही नाश होता है, तथा कर्मोंके पौद्गलिक होनेसे वह द्रव्यनिर्जरा भी पौद्गलिक ही सिद्ध होती है । भावनिर्जरा भी अशुद्ध जीवके ही होती है । जो जीव कर्मविशिष्ट है उसीके भावनिर्जरा हो सकती है । तथा कर्मविशिष्ट जीवके जो परिणाम होते हैं वे कर्मोंके निमित्तसे ही होते हैं इसलिये वे भी पौद्गलिक ही कहलाते हैं । इस प्रकार सब प्रकारकी निर्जरा पौद्गलीक सिद्ध होती है । परंतु मेरा यह आत्मा शुद्ध चिदानंदस्वरूप है इसलिये तत्त्वसे सर्वथा भिन्न है । मेरा आत्मा ज्ञानदर्शनमय है, निर्जरा इससे विपरीत पौद्गलिक वा जड़स्वरूप है । यह आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है, निर्जरा इससे विपरीत पौद्गलिक वा जड़स्वरूप है । मेरा आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है निर्जरा तत्त्व ज्ञाता दृष्टासे विपरीत पौद्गलिक है । इस प्रकार चैतन्य स्वरूप मेरे शुद्ध आत्मासे निर्जरातत्त्व सर्वथा भिन्न है । इस प्रकारके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणाम रखना शुद्धोपयोग कहलाता है ।

आगे - मोक्षतत्त्वका निरूपण करते हुए उससे अपने शुद्ध आत्माको सर्वथा भिन्न दिखलाते हैं ।

निर्ग्रंथसाधोर्भुवि पुद्गलस्य ।
मोक्षः किलात्यंतवियोगतः स्यात् ।।
चिद्रूपमूर्तेर्न च मे वियोगः ।
संयोगवार्ता क्रियते कथं हि ।। १९८ ।।

अर्थ - वीतराग निर्ग्रंथ साधुओंके जो कर्मरूप पुद्गलोंका अत्यंत वियोग हो जाता है उसको मोक्ष कहते हैं परंतु मेरा आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है । इसलिए उससे किसी भी कर्मके वियोग होनेकी संभावना भी नहीं हो सकती, क्योंकि शुद्ध आत्मा में कर्मोंका संयोग है ही नहीं । जहांपर कर्मोंका संयोग ही नहीं है वहांपर कर्मोंके संयोगकी बात नहीं करनी चाहिए ।

भावार्थ - इस आत्मासे समस्तकर्मोका नाश हो जाना मोक्ष है वह भी दो प्रकार है । एक भावमोक्ष और दूसरा द्रव्य मोक्ष । आत्माके जिन परिणामोंसे समस्त कर्म नष्ट होते हैं उन परिणामोंको भावमोक्ष कहते हैं तथा उन समस्त कर्मोंका जो नष्ट हो जाना है उसको द्रव्य मोक्ष कहते हैं । यह दोनों प्रकारकी मोक्ष कर्मविशिष्ट आत्माके ही होती है । जो आत्मा अत्यंत शुद्ध है कर्मोंसे सर्वथा रहित है उससे किसीका भी वियोग नहीं हो सकता । उसके जब कर्म ही नहीं है तब वियोग वा नाश किसका होगा । मेरा आत्मा सर्वथा शुद्ध और कर्मोंसे सर्वथारहित है इसलिए मोक्षतत्त्व भी मुझसे सर्वथा भिन्न है । इस प्रकारके शुद्धपरिणामोंका होना शुद्धोपयोग कहलाता है ।

आगे - सप्ततत्त्वोंके कथनका उपसंहार करते हैं ।

तत्त्वस्वरूपं कथितं मयेति ।
त्यागाय हेयस्य चितो ग्रहाय ।।
समस्ततत्त्वानि विविर्ज्य योगात् ।
गृह्णातु योगी च निजात्मतत्त्वम् ।। १९९ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - इस प्रकार हेय पदार्थोंके त्यागके लिए और शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने आत्माको ग्रहण करनेके लिए मैंने यह सातों तत्त्वोंका स्वरूप निरूपण किया है। अतएव योगियोंको अपने मन, वचन, कायसे समस्त तत्त्वोंका त्याग कर केवल अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको ग्रहण कर लेना चाहिए।

भावार्थ - ऊपर अनुक्रमसे सातों तत्त्वोंका स्वरूप दिखलाया है और उनमें यह भले प्रकार दिया है कि अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माके सिवाय अन्य समस्त तत्त्व त्याग करने योग्य हैं क्योंकि वे समस्त तत्त्व अपने शुद्ध आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। अतएव शुद्धोपयोग धारण करनेवाले वा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेवाले मुनिराजोंको मन, वचन, काय तीनों योगोंसे समस्त तत्त्वोंका त्याग कर देना चाहिए और अपने शुद्धस्वरूप आत्माको ग्रहण कर उसीमें सदालीन बने रहना चाहिए। आत्माके अनंतसुखका यही एक साधन है। इस प्रकार सातों तत्त्वोंका निरूपण किया।

अब आगे - याचना करनेपर भी धनादिककी प्राप्ति क्यों नहीं होती, यही दिखलाते हैं।

प्रश्न - कुर्वन्त एवापि धनादियांचां।
कथं धनादिं न च ते लभन्ते॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि ये जीव धनादिककी याचना करते हैं और फिर भी उनको धनादिककी प्राप्ति नहीं होती इसका क्या कारण है।

उत्तर - ये केपि जीवाश्च यथैव बीजं।
वपन्ति भूमौ समये हि तेऽपि॥
तादृक् फलं निश्चयतो लभन्ते।
न केवलं याचनतः कदापि॥ २००॥
ज्ञात्वेति भक्त्या सुकृतिं सुरुष्व।
कौ केवलं याचक एव न स्याः॥
ततो भवेदेव तवेष्टसिद्धि-।
र्नश्येत्तथाशा सुखशान्तिहर्जी॥ २०१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - इस संसारमें जो कोई जीव इस पृथ्वीपर जैसा बीज बोते हैं वैसा ही फल पाते हैं । केवल याचना करनेसे कोई फल नहीं मिलता । यही समझकर इस संसारमें भक्तिपूर्वक पुण्यकर्म करते रहना चाहिए । केवल याचना करनेसे काम नहीं चलता । पुण्यकार्य करनेसे ही आत्माकी इष्टसिद्धि होती है और सुख शांति को नाश करनेवाली आशा नष्ट हो जाती है ।

भावार्थ - किसान जैसा बीज बोते हैं वैसा ही फल पाते हैं । मांगनेसे कहीं कुछ नहीं मिलता । इसी प्रकार ये जीव जैसा करते हैं वैसा ही फल पाते हैं । जो प्रतिनित्य देवपूजा पात्रदान आदि पुण्यकार्य करते रहते हैं उनको यथेष्ट धनादिककी प्राप्ति होती रहती है और जो पहले जन्म पापकर्म करते रहते हैं उनको दरिद्रता रोग आदिके दु:ख भोगने पड़ते हैं । यही समझकर भव्य जीवोंको सदाकाल देवपूजा पात्रदान आदि पुण्यकार्य करते रहना चाहिये जिससे इस लोक संबंधी विभूति भी प्राप्त होती रहे और परलोकमें भी स्वर्गादिकके सुख प्राप्त होकर मोक्ष प्राप्त होजाय । देवपूजा पात्रदान आदि पुण्यकार्य करनेसे आत्माका यथार्थ स्वरूप मालूम होजाता है वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा करनेसे आत्माका यथार्थ ज्ञान होजाता है और संसारको बढ़ानेवाली आशा सब नष्ट होजाती है । आशाके नष्ट होनेसे शुभोपयोगकी वृद्धि होती है और अनुक्रमसे शुद्धोपयोगकी प्राप्ति होजाती है ।

आगे - शुद्ध चैतन्य स्वरूप सुखके बिना समस्त क्रियाएं निरर्थक हैं ऐसा दिखलाते हैं ।

व्रतेन किंवा विनयेन किंवा ।
मानेन किंवा मनसापि किंवा ।।
ध्यानेन किंवा खलु किं च धृत्वा ।
तापेन किंवा तपसापि किंवा ।। २०२ ।।
योगेन किंवा स्मरणेन किंवा ।
बलेन किंवा बलिनापि किंवा ।।
यागेन किंवा यजनेन किंवा ।
क्रोधेन किंवा कृतिनापि किंवा ।। २०३ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्रेण किंवा मननेन किंवा ।
यन्त्रेण किंवा यतिनापि किंवा ॥
मन्त्रेण किंवा मुनिनापि किंवा ।
कालेन किंवा कलहेन किंवा ॥ २०४ ॥
रत्नेन किंवा रजसापि किंवा ।
मर्त्येन किंवा मरणेन किंवा ॥
कायेन किंवा वचनेन किंवा ।
ज्ञानेन किंवा नमनेन किंवा ॥ २०५ ॥
कीर्त्यापि किंवा कलुषेण किंवा ।
दानेन किंवा दययापि किंवा ॥
धर्मेण किंवा दमिनापि किंवा ।
मौनेन किंवा दमिनापि किंवा ॥ २०६ ॥
स्वर्गेण किंवा स्वनितेन किंवा ।
नार्यापि किंवा नगरेण किंवा ॥
भोगेन किंवा भुजगेन किंवा ।
करेण किंवा करणेन किंवा ॥ २०७ ॥
हारेण किंवा हरिणापि किंवा ।
जाड्येन किंवापि जडेन किंवा ॥
रूपेण किंवापि रुजापि किंवा ।
दानेन किंवा धनिनापि किंवा ॥ २०८ ॥
गंधेन किंवापि घृतेन किंवा ।
सारेण किंवा स्नपनेन किंवा ॥
त्यागेन किंवा ग्रहणेन किंवा ।
हर्षेण किंवा रुदनेन किंवा ॥ २०९ ॥
उच्चेन किंवा नीचजनेन किंवा ।
कायेन किंवा कलशेन किंवा ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खलेन किंवा कपटने किंवा ।
शीतेन किंदापि शठेन किंवा ।। २१० ।।
दु:खेन किंवा धूर्तशतेन किंवा ।
पूज्येन किं पुण्यशतेन किंवा ।।
मोहेन किंवा मणिनापि किंवा ।
वनेन किंवा व्यसनेन किंवा ।। २११ ।।
वासेन किंवा वसनेन किंवा ।
कार्येण किंवा करणेन किंवा ।।
राज्ञापि किंवा सुरसेन किंवा ।
ह्यलंच किंवा बहुभाषणेन ।। २१२ ।।
स्वशुद्धचिद्रूपपदं न लब्धं ।
लब्ध्वापि तस्मिन्न कृता स्थितिश्चेत् ।।
पूर्वोक्तकृत्येन निरर्थकेन ।
लाभस्तवात्मन् भुव कोऽपि न स्यात् ।। २१३ ।।
ज्ञात्वेति नित्यं स्वरसं पिबन् हि ।
स्वशुद्धचिद्रूपपदे प्रतिष्ठ ।।
कस्यापि कार्यस्य यतोवशक्ता ।
ह्यनन्तकालेऽपि गते न ते स्यात् ।। २१४ ।।

अर्थ - हे आत्मन्! तुझको जबतक अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमपदकी प्राप्ति नहीं होती अथवा उस पदको प्राप्त करके भी जबतक उस परमपदमें स्थिरता नहीं होती तबतक न तो व्रत करनेसे कोई लाभ है, न अभिमान करनेसे कोई लाभ है, न उत्तम हृदयको धारण करनेसे कोई लाभ है, न ध्यान करनेसे कुछ लाभ है, न धैर्य धारण करनेसे कुछ लाभ है, न संताप करनेसे लाभ है, न तपश्चरण करनेसे कुछ लाभ है, न योग धारण करनेसे कुछ लाभ है, न मनन करनेसे कुछ लाभ है, न बलसे कुछ लाभ है, न बलवान् होनेसे कुछ लाभ है, न यज्ञ वा पूजा प्रतिष्ठा करनेसे कुछ लाभ है, न क्रोध करनेसे कुछ लाभ है, न पुण्यवान् होनेसे कुछ लाभ है, न शास्त्रोंके पढ़नेसे कुछ लाभ है, न मनन करनेसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ लाभ है, न किसी यंत्रसे लाभ होता है, न किसी मुनिसे लाभ होता है, न समयसे लाभ होता है, न किसीके साथ कलह करनेसे लाभ होता है, न रत्नोंसे कुछ लाभ होता है, न धूलि मिट्टिसे कुछ लाभ होता है, न मनुष्योंसे कोई लाभ होता है, न मर जानेसे कोई लाभ होता है, न शरीरसे कुछ लाभ होता है, न वचनसे कुछ लाभ होता है, न ज्ञानसे कुछ लाभ होता है, न नम्रीभूत होनेसे कुछ लाभ होता है, न कीर्तिसे कुछ लाभ होता है, न कलुषतासे कुछ लाभ होता है, न दानसे कुछ लाभ होता है, न दयासे कुछ लाभ होता है, न धर्मसे कुछ लाभ होता है, न इंद्रियोंको दमन करनेसे कुछ लाभ होता है, न मौन धारण करनेसे कुछ लाभ होता है, न शांत रहनेसे कुछ लाभ है, न स्वर्गकी प्राप्तिसे कुछ लाभ है, न ऊंचे स्वरसे कुछ करनसे कोई लाभ है, न स्त्रीके रहनेसे कुछ लाभ है, न नगरमें रहने से कुछ लाभ है, न भोगविलास करनेसे कुछ लाभ है, न सर्पादिकके रखनेसे कुछ लाभ है, न हाथ पैरोंसे कुछ लाभ है न अन्य साधनोंसे कुछ लाभ है, न हार पहननेसे कुछ लाभ है, न ईन्द्रादिकको वशमें रखनेसे कुछ लाभ है, न मूर्खोंकी संगतिसे कुछ लाभ है, न मूर्खता करनेसे कुछ लाभ है, न सुंदररूप धारण करनेसे कुछ लाभ है, न किसी रोगके हो जानेसे कुछ लाभ है, न धनसे कुछ लाभ है, न किसी धनीसे लाभ है, न सुगंधियोंसे कुछ लाभ है, न धीरजसे कुछ लाभ है, न किसी सारभूत पदार्थ से लाभ है, न अभिषेक आदिके करनेसे कुछ लाभ है, न त्याग करनेसे कोई लाभ है, न ग्रहण करनेसे कुछ लाभ है, न हर्षित होनेसे कुछ लाभ है, न रोनेसे कुछ लाभ है, न बड़े वा ऊंचे बननसे कुछ लाभ है, न नीच बननेसे कुछ लाभ है, न काच रखनेसे कुछ लाभ है, न कलश रखनेसे कुछ लाभ है, न दुष्टोंकी संगतिसे कुछ लाभ है, न कपट करनेसे कुछ लाभ है, न शीतल पदार्थोंसे कुछ लाभ है, न दुर्जनोंसे कुछ लाभ है, न दु:खोंसे कुछ लाभ है, न सैकड़ों धूर्तोंके इकट्ठे करनेसे कुछ लाभ है, न पूज्य पुरुषोंसे कुछ लाभ है, न मोह करनसे कुछ लाभ है, न मणियोंके रखनेसे कुछ लाभ है, न वनमें रहनेसे कुछ लाभ है, न किसी व्यसनके सेवन करनेसे कुछ लाभ है, न किसी स्थानपर निवास करनसे कुछ लाभ है, न सुन्दर वस्त्रोंके पहननेसे कुछ लाभ है, न किसी कार्यके करनेसे कुछ लाभ है, न किसी इन्द्रियसे कुछ लाभ है, न किसी राजाको अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वश कर लेनेसे कुछ लाभ है, और न मिष्टरसोंके पान करनेसे कुछ लाभ है। बहुत कहनेसे क्या थोड़ेसेमें इतना समझा लेना चाहिये कि जब तक शुद्ध चैतन्य स्वरूप अपने आत्माकी प्राप्ति नहीं होती वा जब तक उसमें स्थिरता नहीं होती तब तक ऊपर लिखे हुए कृत्योंसे कोई लाभ नहीं होता। तब तक ऊपर लिखे कृत्य सब निरर्थक माने जाते हैं। यही समझकर अपने आत्मजन्य आनंदका पान करते हुए अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मामें लीन हो जाना चाहिये। अन्य सबका त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि संसारके किसी भी कार्यमें लीन होनेसे अनंतकाल व्यतीत होनेपर भी शुद्ध आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ - आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति होना ही शुद्धोपयोग है। तथा यही शुद्धोपयोग मोक्षका कारण है। इस जीवको जब तक यह शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं होता तब तक यह आत्मा कल्याणके यथार्थ मार्गपर नहीं लग सकता। यद्यपि व्रत, उपवास, तपश्चरण, ध्यान, समिति, गुप्ति, परीषहसहन, चारित्र आदि व्यवहार साधन सब शुद्धोपयोगके साधन हैं तथापि भव्य जीवोंके ये सब मोक्षके साधन हैं और अभव्यजीवके ये सब मिथ्यारूपसे धारण किए जाते हैं इसलिए वे मिथ्याव्रत, उपवास आदि संसारके ही कारण होते हैं। यही समझकर भव्य जीवोंको सबसे पहले मोहनीयकर्मको नाश कर सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए। सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान हो ही जाता है। तदनंतर सम्यक्चारित्र धारण कर पापकर्मोंका नाश करते रहना चाहिये और फिर शुद्धोपयोगको धारण कर वा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें स्थिर होकर समस्तकर्मोंका नाश कर डालना चाहिये। समस्त कर्मोंका नाश होना ही मोक्ष है, और इसी मोक्षमें अनंतकाल तक रहनेवाला अनंतसुख प्राप्त होता है। फिर अनंतानंत कल्पकाल व्यतीत होनेपर भी उसमें कुछ परिवर्तन नहीं होता।

आगे - शुद्धोपयोगका विशेष वर्णन करते हैं।

प्रश्न - शुद्धोपयोगस्यारंभः। कस्मिन् स्थाने च लीनता ॥

अर्थ - हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि शुद्धोपयोगका प्रारंभ कहांसे होता है और उसकी स्थिरता वा लीनता किस गुणस्थानसे होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - स्थानाच्चतुर्थात्खलु शांतिरूप- ।
शुद्धोपयोगस्य शिवप्रदस्य ।।
प्रारंभ एवात्मरतस्य नृणां ।
स्याच्छुद्धचिद्रूपपदेऽनुरागः ।। २१५ ।।
ततः किर्लोर्ध्वं स्थिरतां स्वधर्मे ।
व्रती व्रते स्वात्मरसेऽतिमिष्टे ।।
प्राप्नोति योग्येव रुचिं विशेषां ।
प्रमादनाशाद्धि सुखं स्वभावात् ।। २१६ ।।

अर्थ - यह शुद्धोपयोग अत्यंत शांतिस्वरूप है, मोक्ष देनेवाला है । और अपने आत्माके शुद्धस्वरूपमें ही रहनेवाला है । ऐसे इस शुद्धोपयोगका प्रारंभ स्वात्मानुभूतिकी अपेक्षा चौथे गुण स्थानसे होता है । तथा चौथे ही गुणस्थानसे शुद्ध चिदानंद स्वरूपमें अनुराग उत्पन्न होता है । तदनंतर ऊपरके गुणस्थानोंमें व्रती पुरुषोंमें स्थिरता उत्पन्न हो जाती है तथा उससे भी आगेके गुणस्थानोंमें योगी पुरुषोंको अत्यंत मिष्ट ऐसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें विशेष रुचि हो जाती है और फिर प्रमादके नाश होनेपर स्वभावसे ही आत्मसुख प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ - इस संसारमें यह प्राणी मोहनीयकर्मके उदयसे अपने आत्माका स्वरूप भूल जाता है । तथा परपदार्थोंमें मोह उत्पन्न करता हुआ उनसे राग द्वेष करने लगता है । राग द्वेष करनेसे अशुभोपयोग होता है । परंतु जब वह मोहनीयकर्म उपशमको प्राप्त हो जाता है अथवा उसका क्षय वा क्षयोपशम हो जाता है तब उस जीवके एक प्रकारका आत्मजन्य अमूर्त प्रकाश उत्पन्न होता है, जिससे यह आत्मा अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको पहचानने लगता है । इस प्रकाशको सम्यग्दर्शन कहते हैं । इस सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेसे यह जीव परपदार्थोंको हेय समझने लगता है और आत्माके यथार्थस्वरूपको उपादेय समझने लगता है । इस प्रकार जब उसके हेयोपादेयबुद्धि उत्पन्न हो जाती है तब अनुक्रमसे उसका राग द्वेष छूट जाता है, तथा रागद्वेष छूटनेसे अशुभोपयोग छूट जाता है, और शुद्धोपयोगमें प्रवृत्ति होने लगती है । उसी समयमें शुद्धोपयोगमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुराग होने लगता है और जितने अंशमें मोहनीयकर्मका नाश होगया है उतने अंशमें आत्माकी शुद्ध अवस्था प्रगट हो जाती है। इसीको उपचारनयसे शुद्धोपयोगका प्रारंभ करते हैं। तदनंतर जब अप्रत्याख्यानावरणकर्म नष्ट हो जाता है तब यह जीव व्रत धारण कर लेता है तथा प्रत्याख्यानावरणकर्मके नष्ट होनेपर महाव्रत धारण कर लेता है। उस समय महाव्रत धारण करनेके कारण कर्मोंकी अधिक निर्जरा होती रहती है और वह योगी अपने आत्माको शुद्ध रूपमें वा शुद्धोपयोगमें विशेष रुचि उत्पन्न करने लगता है। तदनंतर जब प्रमाद नष्ट हो जाता है तब वह आत्मा शुद्धोपयोगके अत्यंत निकट पहुंच जाता है और श्रेणी चढ़नेपर शुद्धोपयोगको प्राप्त हो जाता है। आगे जैसे जैसे ऊपरके गुणस्थानोंमें पहुंचता जाता है वैसे ही आत्माकी शुद्ध अवस्था बढ़ती जाती है और घातिया कर्मोंके नाश होनेपर तेरहवें गुणस्थानमें अत्यंत शुद्धता प्राप्त हो जाती है। वा शुद्धोपयोगकी पूर्णता हो जाती है। उसी समय अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य और अनंतसुख प्राप्त हो जाता है, और ये चारों ही अनंत चतुष्टय फिर अनंतकाल तक बने रहते हैं। फिर उनमें कोई किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता है।

आगे - *शुद्धोपयोगकी सिद्धिके लिए छहों द्रव्योंका निरूपण करते हैं।*

त्यजेन्न धर्मो गमनोपकारं।
स्थितौ सहाय्यं न कदाप्यधर्मः॥
नभोऽपि नित्यं ह्यवकाशदानं।
त्यजेन्न कालः परिवर्तनत्वम्॥ २१७॥
स्पर्शादिधर्मं न च पुद्गलोऽपि।
संसारिजीवश्च विभावभावम्॥
लब्ध्वोपदेशं सुगुरोर्निजात्म-।
सुशुद्धचिद्रूपदं लभेत॥ २१८॥
पूर्वोक्त षड्द्रव्यचयस्य लक्ष्म।
ज्ञात्वा फलं स्वात्मतरोः सुमिष्टम्॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वात्मात्मना वात्मनि वात्मने वा- ।
त्मानः किलात्मानमपि प्रयत्नात् ।। २१९ ।।
जानाति यः पश्यति तिष्ठतीति ।
शुद्धोपयोगी स मुनिः प्रपूज्यः ।।
निजात्मतृप्तेन दिगम्बरेण ।
श्रीकुंथुनाम्ना वरसूरिणोक्तम् ।। २२० ।।

अर्थ - धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायता देनेरूप अपने कर्मको कभी नहीं छोड़ता । अधर्मद्रव्य उन्हीं जीव पुद्गलोंको ठहरनेमें सहायता देनेरूप अपने धर्मको कभी नहीं छोड़ता । अकाशद्रव्य समस्त पदार्थोंको स्थान देनेरूप अपने धर्मको कभी नहीं छोड़ता । कालद्रव्य समस्त पदार्थोंको परिवर्तन करनेरूप अपने धर्मको नहीं छोड़ता । पुद्गलद्रव्य स्पर्शरसगंधवर्णरूप अपने स्वभावको नहीं छोड़ता और संसारी जीव अपने विभाव परिणामोंको नहीं छोड़ते । परंतु वे ही संसारी जीव अपने वीतराग निर्ग्रंथ गुरुका उपदेश सुनकर विभावपरिणामोंका त्याग कर देते हैं और अपने आत्माके चिदानंदस्वरूप अत्यंत शुद्ध स्वभावको प्राप्त कर लेते हैं । इस प्रकार जो जीव छहों द्रव्योंका स्वरूप समझ लेते हैं और फिर अपने ही आत्माके शुद्धस्वरूप वृक्षके मोठे फलोंको जान कर जो चिदानंद स्वरूप शुद्ध आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्माके लिये अपने ही आत्माको प्रयत्न पूर्वक जानते हैं, प्रयत्न पूर्वक अपने ही आत्माको देखते हैं और अपने ही आत्मामें प्रयत्न पूर्वक स्थिरताके साथ लीन रहते हैं ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि सदाकाल पूज्य माने जात हैं । इस प्रकार यह कथन अपने आत्मामें तृप्त रहनेवाले और दिगम्बर अवस्थाको धारण करनेवाले आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामीने निरूपण किया है ।

भावार्थ - इस संसारमें छह द्रव्य हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इनमेंसे पुद्गलद्रव्य रूपी है । जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श ये चार गुण हों उसको रूपी द्रव्य कहते हैं ये चारों गुण साथ साथ रहते हैं जहां एक रहता है वहां सूक्ष्म वा स्थूलरीतिसे चारों ही गुण रहते हैं । जैसे वायुमें केवल स्पर्शगुण जान पड़ता है परंतु उस वायुमें चारों ही गुण रहते हैं । जिस समय साइंसके द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पानीको दो प्रकारकी वायुमें परिणत करते हैं तो वह पानीमें रहनेवाला रूप सूक्ष्मरीतिसे वायुमें परिणत हो जाता है। तदनंतर यदि उन्हीं दोनों प्रकार की वायुको पानीमें परिणत कर लेते हैं तब वही सूक्ष्मरूप स्थूलरूप होकर प्रगट हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि वायुमें रूप है। यदि वायुमें रूप नहीं होता तो उससे बने हुए पानीमें कहांसे आता। परंतु वायुसे बने हुए पानीमें रूप दिखाई पड़ता है इसलिए वायुमें भी रूप अवश्य मानना पड़ता है। तथा जहां जहां रूप होता है वहां वहां रस और गंध भी अवश्य होते हैं। जैसे आममें रूप है इसलिए उसमें स्पर्श, रस, गंध भी है। इस प्रकार वायुमें चारों गुण अवश्य मानने पड़ते हैं। इसी प्रकार पृथ्वीमें चारों गुण हैं जलमें चारों गुण हैं अग्निमें चारों गुण हैं। क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चारों ही पौद्गलिक हैं। इसी प्रकार शब्द भी पौद्गलिक है। क्यों कि वह कानसे सुनाई पडता है। कानसे सुनाई देनेके कारण उसमें स्पर्शगुण मानना ही पड़ता है। इसके सिवाय तोप आदिके शब्दोंसे बड़े बड़े मकान हिल जाते हैं वा गिर जाते हैं, स्त्रियोंके गर्भ गिर जाते हैं इससे सिद्ध होता है कि शब्दमें स्पर्शगुण अवश्य है। तथा जहां स्पर्श रहता है वहां रूप भी अवश्य रहता है और रूपके साथ रस गंध भी अवश्य रहता है। इस प्रकार शब्दमें स्पर्शगुण प्रगट रीतिसे रहता है और रूप, रस, गंध, गुण सूक्ष्मरीतिसे रहते हैं। इन चारों गुणोंके रहनेसे शब्द पौद्गलिक है यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो जाती है। यह पुद्गल अपने इस गुणोंको कभी नहीं छोड़ता है। इसके सिवाय इस पुद्गलद्रव्यमें क्रिया भी होती है अर्थात् पुद्गलमें गमन करनेकी भी शक्ति है। जैसे वायु बिना किसीकी सहायतासे चलता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थ भी हलके होनेपर चलने लगते हैं। तथा जीवमें चलनेकी शक्ति है ही। इस प्रकार जीव और पुद्गल दोनोंमें चलनेकी शक्ति रहते हुए भी इनके चलनेमें धर्मद्रव्य सहायक होता है। जैसे मछलीमें चलनेकी शक्ति रहते हुए भी उसके चलनेमें पानी सहायक होता है। यदि पानी न हो तो मछली नहीं चल सकती। इसी प्रकार यदि धर्मद्रव्य न हो तो जीव पुद्गल भी नहीं चल सकते। जीव पुद्गलोंके चलनेसे ही धर्मद्रव्यकी सत्ता सिद्ध होती है। इसी प्रकार जीव पुद्गलोंके ठहरनेमें अधर्मद्रव्य सहायक होता है जैसे पथिकको ठहरनेमें छाया सहायक हो जाती है। जीव पुद्गलोंके ठहरनेसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधर्मद्रव्यकी सत्ता सिद्ध होती है। धर्म अधर्म दोनों ही द्रव्य व्यापक होकर समस्त लोकाकाशमें भरे हुए हैं। आकाशद्रव्य सबको स्थान देता ही है। और काल द्रव्य द्रव्योंके परिवर्तन होनेमें कारण है। कालके प्रत्येक समयमें प्रत्येक पदार्थका परिवर्तन हुआ करता है। इस प्रकार परिवर्तन होते होते कोई भी नवीन पदार्थ कालांतरमें जीर्णरूप हो जाता है। इससे कालकी सत्ता सिद्ध होती है। जीवपदार्थ चैतन्य स्वरूप है यह पहले बता ही चुके हैं। जीवोंमें जो संसारी जीव हैं वे सब राग द्वेष रूप विभावपरिणामोंको प्राप्त होते रहते हैं। तथा उन्हीं विभावपरिणामोंके कारण चारों गतियोंमें परिभ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छह द्रव्य कहलाते हैं। इन छहों द्रव्योंमेंसे जब यह गुरुके उपदेशको सुनकर अपने विभावपरिणामोंका त्याग कर देता है और अपने आत्माके शुद्धस्वरूपको जानकर इसीको ग्रहण करने लगता है उस समय यह जीव ऊपर लिखे छहों द्रव्योंको हेय समझकर उन सबका त्याग कर देता है। तथा अपने आत्माका कल्याण करनेके लिये अपने आत्माके शुद्धस्वरूपको प्रगटकर उसी अपने आत्माके शुद्धस्वरूपमें लीन वा स्थिर हो जाता है। इसी शुद्ध आत्मामें स्थिर होनेके शुद्धोपयोग कहते हैं। यह शुद्धोपयोग समस्त कर्मोंको नाश करने वाला है और साक्षात् मोक्ष का कारण है। ऐसा आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामीने निरूपण किया है। इसका स्वरूप समझकर समस्त भव्यजीवोंको अपने कल्याणमार्गमें लग जाना चाहिए। यही उनके निरूपण करनेका अभिप्राय है।

आगे - जीवोंका अवगाहन बतलाते हैं।

प्रश्न - जीवानामचगाहश्च क्रियन्मे साम्प्रतं वद।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जीवोंका अवगाह कितना है।

उत्तर - अवगाहनेन जीवाः सन्ति देहप्रमाणकाः।
प्रदेशा एकजीवस्य संख्यातीता जगत्समाः ॥ २२१ ॥
वीतरागजिनेन्द्रस्यानन्तं ज्ञानं नभःसमम्।
ज्ञानापेक्षया व्याप्ताः सर्वेजीवा नभःसमाः ॥ २२२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्येवं प्राणिनां लक्ष्म न स्यात्तर्हि निरंजनम् ।
सुखदु:खादिसंबन्ध: सर्वै: सार्द्धं भवेद्ध्रुवम् ॥ २२३ ॥
किन्त्वेवं दृश्यते नातो ग्राह्य: पूर्वविधिर्मुदा ।
भव्य मोहं यतस्त्यक्त्वा लभेरन्मुक्तिकामिनीम् ॥ २२४ ॥

अर्थ - अवगाहनकी अपेक्षा ये समस्त जीव अपने अपने शरीरके प्रमाण समान हैं तथा प्रदेशोंकी अपेक्षा प्रत्येक जीवके लोकाकाशके प्रदेशोंके समान असंख्यात प्रदेश हैं । भगवान् वीत-राग सर्वज्ञदेवका ज्ञान अनंत है और अनंत आकाशके समान वा उससे भी अनंत गुणा है । इसलिए ज्ञानकी अपेक्षा समस्त जीव आकाशके समान सर्वत्र व्याप्त हैं ।

कदाचित् यहांपर प्रश्न करे कि यदि ज्ञानकी अपेक्षा जीवको व्यापक माना जायगा तो फिर जीवका निरंजन चिह्न सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि जीवको व्यापक माननेसे सुख दु:खका संबंध जीवोंके साथ हो जायगा । परंतु ऐसा दिखाई नहीं देता । इसलिए ज्ञानकी अपेक्षा भी जीवको व्यापक नहीं मानना चाहिये । परंतु इस प्रश्नका उत्तर यह है कि पहले कही हुई विधिको ग्रहण करनेसे ऊपर लिखा दोष नहीं आता अर्थात् जब यह जीव अन्य समस्तपदार्थोंका त्याग कर केवल अपने आत्मामें लीन हो जाता है तब उसका संबंध केवल अपने आत्मासे रह जाता है अन्य सबसे छूट जाता है । तथा यह भव्यजीव मोहका त्याग कर मुक्तिरूपी कन्याको प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ - जिस प्रकार दर्पणमें समस्त पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पडता है, सामनेके समस्त पदार्थ उसमें दिखाई पड़ते हैं तथापि वह दर्पण उन पदार्थोंके पास नहीं पहंचता है और न वे पदार्थ ही दर्पणके समीप आ जाते हैं किंतु उस दर्पणकी निर्मलताके कारण उसमें समस्त पदार्थोंका प्रतिबिंब पड़ जाता हैं । इसी प्रकार आत्माका ज्ञान आत्मामें ही रहता है वह आत्माको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता, किंतु उस ज्ञानमें निर्मलता होनेके कारण लोकाकाशके समस्त पदार्थ उसमें प्रतिभासित होते हैं । तथा समस्त अलोकाकाश भी उसमें प्रतिभासित होता है । इसीको ज्ञानकी व्यापकता कहते हैं । ऐसा माननेसे किसी भी जीवके सुख दु:ख किसी भी दूसरे जीवके साथ संबंधित नहीं हो सकते और न जीवका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरंजन लक्षण नष्ट हो सकता है । अतएव यह जीव ज्ञानकी अपेक्षा व्याप्त, प्रदेशोंकी अपेक्षा व्याप्त नहीं है । प्रदेशोंकी अपेक्षासे यद्यपि उसके असंख्यात प्रदेश हैं और लोकाकाशके प्रदेशोंके समान है तथापि वे शरीरके प्रमाण ही रहते हैं । यह जीव जैसा छोटा वा बड़ा शरीर धारण करता है उसीके समान जीवके प्रदेश हो जाते हैं । जीवके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार होनेकी शक्ति है । जिसप्रकार किसी दीपकको यदि घड़ेके भीतर रखदें तो उसका प्रकाश घड़ेके ही समान होता है और उसी दीपकको उस घड़ेसे निकालकर यदि किसी बड़े कमरेमें रखदे तो उसका प्रकाश फैलकर समस्त कमरेमें फैल जाता है । जैसे इस दीपकमें संकोच विस्तार होनेकी शक्ति है उसी प्रकार जीवके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार होनेकी शक्ति है। इसलिए यह जीव जब छोटा शरीर धारण करता है तब उसके प्रदेश संकुचित होकर उसी शरीर के समान होजाते हैं, जब यह जीव बड़ा शरीर धारण करता है तब उसके प्रदेश विस्तृत होकर उस बड़े शरीरके समान हो जाता हैं । इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक जीवके प्रदेश असंख्यात हैं और अवगाहनकी अपेक्षा समस्त जीव अपने शरीरके प्रमाणके समान है । युक्त जीव सब अपने अपने अंतिम शरीरके समान अवगाहना धारण करते हैं । जिस शरीरसे वे मुक्त होते हैं । वा कर्मोंको नाश करते हैं उसी शरीरके समान उन मुक्त जीवोंकी अवगाह रहती है । पहले शरीरकी अवगाहना कर्मोंके उदयसे बदलती थी तथा उन्हीं कर्मोंके उदयसे जीवकी अवगाहना भी बदल जाती थी परंतु मुक्त होनेपर समस्त कर्म नष्ट हो ही जाते हैं । क्योंकि समस्त कर्मोंका नाश होना ही मोक्ष है । इसलिए मुक्त होनेके समयमें जो शरीरमें जो शरीर और जीवकी अवगाहना थी फिर उस जीवकी वही अवगाहना ज्यों की त्यों बनी रहती है । कर्मोंके नष्ट होनेसे फिर वह बदल नहीं सकती । क्योंकि फिर उसके बदलनेका कोई भी कारण नहीं रहता है । इसलिए मुक्त जीवोंकी अवगाहना अंतिम शरीरके समान ही होती है ।

आगे - शुद्धोपयोग प्राप्त करनेके लिए कौनसा धर्म स्वीकार करना चाहिए यही बतलाते हैं ।

प्रश्न - शुद्धोपयोगसिद्ध्यर्थं कीदृग्धर्मो वरो वद ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि शुद्धोपयोग प्राप्त करनेके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिये कौनसा धर्म स्वीकार करना चाहिये ।

उत्तर - शुद्धोपयोगी सुगुरुर्ब्रवीति ।
ह्येकोऽस्ति धर्मो वरवीतरागः ।।
त्राता स लोकेऽखिलप्राणिनां वै ।
सम्पद्विधायीति विपद्विनाशी ।। २२५ ।।
पूर्वोक्तरीतेः खलु यो विरुद्धः ।
स एव निंद्योऽस्ति सरागधर्मः ।।
तथापि धर्मोऽस्त्यशुभोपयोगी ।
ह्याश्चर्यमेवं कुगुरुर्ब्रवीति ।। २२६ ।।
ज्ञात्वेति निंद्यं च सरागधर्मं ।
त्यक्त्वैव गृह्णातु विरागधर्मम् ।।
यतस्त्रिलोके स्वरस्य पानं ।
स्याच्छुद्धचिद्रूपसुखस्य चर्चा ।। २२७ ।।

अर्थ - शुद्धोपयोगको धारण करनेवाले गुरु यही उपदेश देते हैं कि इस संसारमें एक वीतरागधर्म ही सबसे उत्तम धर्म है । यही वीतरागधर्म इस संसारमें समस्त जीवोंकी रक्षा करनेवाला है, आत्माको अनंतचतुष्टय आदि समस्त विभूतियोंको देनेवाला है और संसारकी समस्त विपत्तियोंको नाश करनेवाला है । इस वितरागधर्मसे जो विरुद्ध है वह निंदनीय सरागधर्म कहलाता है । यद्यपि यह सरागधर्म निंदनीय और त्याग करने योग्य है तथापि अशुभोपयोगको धारण करनेवाले कुगुरु इस सरागधर्मको ही धर्म कहते हैं । यह भी एक आश्चर्यकी ही बात है । यही समझकर भव्यजीवोंको इस निंदनीय सरागधर्मका त्याग कर देना चाहिए और परमपूज्य वीतरागधर्मको ग्रहण कर लेना चाहिये । क्योंकि वीरतरागधर्मको धारण कर लेनेसे यह जीव तीनों लोकोंमें अपने शुद्धात्मजन्म परमरसका पान करने लगता है और चिदानंदमय शुद्ध आत्माके परम सुखको प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ - धर्मके दो भेद हैं एक सरागधर्म और दूसरा वीतरागधर्म । सरागधर्मको धारण करनेवाले गृहस्थ और मुनि दोनो ही होते हैं और वीतरागधर्मको धारण करनेवाले केवल उत्तम मुनि ही होते हैं । जो आत्मा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समस्त मोहका त्याग कर केवल अपने शुद्ध आत्मामें लीन हो जाता है उसके वीतराग धर्म होता है । यही वीतराग धर्म साक्षात् मोक्षका कारण है । इस संसारमें होनेवाले चारों गतियोंके दु:खों से बचानेवाला है, और अनंतचतुष्टय आदि आत्माकी समस्त विभूतियोंको देनेवाला है ।

सरागधर्मके दो भेद हैं एक एकदेश धर्म और दूसरा पूर्ण धर्म । गृहस्थ वा श्रावक लोग एकदेशधर्मको धारण करते हैं । और मुनि लोग पूर्ण धर्मको धारण करते हैं पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालन करना और अंतमें समाधि मरण धारण करना गृहस्थोंका धर्म है । तथा पंचमहाव्रत, तीन गुप्ति और पांच समिति यह तेरह प्रकारका चारित्र पूर्णसराग धर्म है । अथवा जब तक इस जीवके राग अवस्था रहती है तबतक उस जीवके सरागधर्म रहता है और रागद्वेषके छूट जानेपर वीतरागधर्म उत्पन्न होता है । यह सरागधर्म परंपरासे मोक्षका कारण है और वीतराग धर्म साक्षात् मोक्षका कारण है । इस सरागधर्म और वीतरागधर्मसे जो सर्वथा विरुद्ध है, उसको मिथ्याधर्म कहते हैं । यह मिथ्याधर्म तीव्र रागद्वेषरूप है और इसीलिए संसारका कारण है । यह मिथ्याधर्म अशुभोपयोग धारण करनेवाले जीवोंके ही होता है और अशुभोपयोगको धारण करनेवाले कुगुरु ही इस मिथ्याधर्मका उपदेश देते हैं । यही समझकर भव्यजीवोंको इस मिथ्याधर्मका त्याग कर देना चाहिए और सरागधर्मको धारण कर लेना चाहिए । तदनंतर धीरे धीरे अभ्यास द्वारा रागद्वेषको सर्वथा नष्ट करते रहना चाहिए और जब रागद्वेषका सर्वथा अभाव हो जाय तब सरागधर्मको भी छोड़कर परमोत्तम और अत्यंत शुद्ध ऐसे वीतरागधर्मको धारण कर लेना चाहिए । आत्माके कल्याण करनेका यही सबसे उत्तम मार्ग है ।

आगे - शुद्धोपयोगके लिए विचार करते हैं ।

शुद्धोपयोगसिद्ध्यर्थं विचार: क्रियते पुन: ॥

अर्थ - अब आगे शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके लिए कुछ थोड़ासा विचार करते हैं।

द्रव्यादिकर्मण: स्वात्मरागादिभावकर्मण: ।
देहादिकर्मणोऽत्यंताभिन्नश्चिद्रूपनायक: ॥ २२८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धोपयोगिनः साधोः स्वभावादिति निश्चयः ।
चित्ते मे जायते चैवमागाधो महिमा ह्यहो ।। २२९ ।।

अर्थ - शुद्ध चिदानंदस्वरूप यह मेरा आत्मा ज्ञानावरण आदि आठों द्रव्यकर्मोंसे भिन्न है, रागद्वेष आदि भावकर्मोंसे सर्वथा भिन्न है और शरीर आदि नोकर्मोंसे सर्वथा भिन्न हैं । जो मुनि अत्यंत शुद्धोपयोगको धारण करते हैं उनको स्वभावसे ही यह निश्चय हो जाता है । इसीलिए मेरे हृदयमें इस चिदानंद स्वरूप शुद्ध आत्माकी महिमा अगाध सिद्ध हो जाती है ।

भावार्थ - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय ये आठों कर्म तथा इन आठों कर्मोंके एकसौ अड़तालीस भेद सब द्रव्यकर्म कहलाते हैं । आत्माके जिन परिणामोंसे ये द्रव्यकर्म आते हैं ऐसे राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि सब भावकर्म कहलाते हैं । तथा जिन पुद्गल वर्गणाओंसे औदारिक वैक्रियक, आहारक ये तीनों शरीर बनते हैं और छहों पर्याप्तियां बनती हैं उन पुद्गल वर्गणाओंको नोकर्म कहते हैं । इस प्रकार कर्मोंके द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ये तीन भेद होते हैं । ये तीनों ही प्रकारके कर्म अशुद्ध जीवके ही होते हैं । मेरा आत्मा शुद्ध है, इसलिए वह द्रव्य कर्म, भावकर्म और नोकर्म तीनोंसे रहित है । परंतु ऐसा निश्चय शुद्धोपयोग धारण करनेवाले उत्तम मुनियोंको ही होता है क्योंकि शुद्ध आत्माका अनुभव उन्हीं मुनियोंको होता है । इसीलिए वे मुनि ही इसका निश्चय कर सकते हैं । वास्तवमें देखा जाय तो शुद्ध आत्माकी महिमा अगाध है, कोई भी पुरुष इसका पार नहीं पा सकता अत एव भव्यजीवोंको अपना आत्मा सर्वथा शुद्ध बना लेना चाहिये । जिससे कि समस्त कर्म नष्ट होकर शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाय ।

आगे - बाह्य पदार्थोंके त्याग करनेसे कुछ लाभ होता है वा नहीं यही बतलाते हैं ।

प्रश्न - स्याद्बाह्यवस्तुनस्त्यागात्कोऽपि लाभो न मे वद ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि बाह्य पदार्थोंके त्याग करनेसे कुछ लाभ होता है या नहीं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - **बाह्यादिवस्तुलाभेन कोऽपि लाभो भवेन्नहि ।**
न तदलाभतो हानिर्मानापमानतस्यथा ।। २३० ।।
एवं स्यान्निश्चयो यस्य स स्यात्स्वर्मोक्षदायक: ।
सोपि शुद्धोपयोगीति ज्ञेय: सिद्ध्यै प्रमाणत: ।। २३१ ।।

अर्थ - बाह्य पदार्थोंके लाभ होनेसे मेरे आत्माका कोई लाभ नहीं होता तथा बाह्य पदार्थोंकी प्राप्ति न होनेसे मेरी कोई हानि नहीं होती । इसी प्रकार मेरा मान होनेसे मेरा कुछ लाभ नहीं होता और मेरा अपमान होनेसे मेरे आत्माकी कुछ हानि नहीं होती । इस प्रकार निश्चय करनेवाला महात्मा स्वर्ग मोक्षको प्राप्त होता है और स्वर्गमोक्षको देनेवाला होता है । तथा उसीको शुद्धोपयोगको धारण करनेवाला कहते हैं और वही जीव सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होता है । ऐसा प्रमाणसे सिद्ध होता है ।

भावार्थ - धन, संपत्ति, कुटुंब, राज्य आदि संसारके समस्त सामग्री बाह्य पदार्थ कहलाते हैं, यहांतक कि शरीर भी बाह्य पदार्थ है, और रागद्वेषादिक भाव भी आत्माके शुद्ध स्वभावसे भिन्न बाह्य पदार्थ हैं । इस पदार्थोंके मिल जानेसे आत्माका कोई लाभ नहीं होता तथा न मिलनेसे आत्माकी कोई हानि नहीं होती । यदि वास्तवमें देखा जाय तो इन बाह्य पदार्थोंके मिल जानेसे आत्माके शुद्धस्वरूपकी हानि हो रही है । इन बाह्य पदार्थोंका मोह ही इस आत्माको शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होने देता परंतु जब यह आत्मा अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप समझ लेता है और इन पदार्थोंको अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपसे सर्वथा भिन्न समझ लेता है तब वह इन पदार्थोंका मोह छोड़ देता है । तथा इन पदार्थोंका आत्मासे कोई किसी प्रकारका संबंध नहीं रहता । उस समय इन पदार्थोंके मिलने वा न मिलनेसे आत्माको कोई हानि लाभ नहीं होता । इसी प्रकार मान वा अपमान होनेसे भी शुद्ध आत्माको कोई हानि लाभ नहीं होता । इस प्रकार बाह्य समस्त पदार्थोंसे आत्माकी सर्वथा भिन्न अवस्था प्राप्त हो जाती है उसीको शुद्धोपयोग कहते हैं । ऐसा शुद्धोपयोग ही मोक्ष प्राप्त करनेवाला है और मोक्षका साक्षात् कारण है । यही समझकर भव्यजीवोंको सबसे पहले मोहका त्याग कर देना चाहिये । मोहका त्याग कर देनेसे बाह्य पदार्थोंका संबंध छूट जाता है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्ध अवस्था प्राप्त हो कर शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ।

आगे - ध्याता ध्यान और ध्येयमें भेद अभेद दोनों दिखलाते हैं ।

प्रश्न - ध्यातृध्यानसुध्येयेषु भेदोऽस्ति वा न मे वद ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि ध्याता ध्यान और ध्येयमें कुछ भेद है वा नहीं ।

उत्तर - ध्यानं ध्याता च ध्येयोपि भिन्नोस्ति व्यवहारतः ।
ध्याता ध्यानं स्वयं स्वात्मा ज्ञेयो ध्येयोपि निश्चयात् ॥ २३२ ॥

अर्थ - यदि व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तो ध्याता ध्यान और ध्येय तीनों ही भिन्न भिन्न हैं । परंतु यदि निश्चयनयसे देखा जाय तो मेरा यह शुद्ध आत्मा स्वयं ध्याता है स्वयं ध्यान रूप है और स्वयं ध्येय है ।

भावर्थ - ध्यान करनेवालेको ध्याता कहते हैं, जिस पदार्थका ध्यान किया जाता है उसको ध्येय कहते हैं और जो ध्यान वा चिंतवन किया जाता है उसको ध्यान कहते हैं । जैसे कोई जीव भगवान जिनेन्द्रदेवका ध्यान करता है उस समय वह ध्यान करनेवाला भव्यजीव ध्याता है, भगवान् जिनेन्द्रदेव ध्येय है और वह जो अपने मनसे चिंतवनरूप किया करता है उसको ध्यान कहते हैं । इस प्रकार व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तो ध्याता ध्येय और ध्यान तीनों ही भिन्न भिन्न हैं । परंतु जहांपर अपना यह शुद्ध आत्मा अपने शुद्ध आत्माके ही द्वारा अपने ही शुद्ध आत्माका ध्यान करता है वहांपर ध्याता ध्यान और ध्येय तीनों ही एक शुद्ध आत्मस्वरूप होते हैं । इसलिए तीनों ही अभिन्न सिद्ध होते हैं । क्योंकि जो ध्यान करनेवाला शुद्ध आत्मा है वह उसी अपने शुद्ध आत्माका ध्यान करता है और उसी अपने शुद्ध आत्माके द्वारा उसमें लीन होता है इसलिए शुद्ध निश्चय नयसे तीनों ही एक है । जो शुद्ध आत्मा ध्याता है, वही ध्येय है और वही ध्यान है । निश्चयनयसे ध्याता ध्येय और ध्यानमें कोई भेद नहीं है ।

आगे - ध्याता ध्यान और ध्येयका स्वरूप वा चिह्न बतलाते हैं ।

प्रश्न - ध्यातुर्ध्यानस्य ध्येयस्य किं चिह्नं मे गुरो ! वद ।

अर्थ - हे गुरो ! अब कृपाकर बतलाइये कि ध्याता ध्यान और ध्येयका चिह्न वा इनका स्वरूप क्या है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - यो ध्यायति शुद्धात्मा ध्याता स्वात्मैव स्वात्मनि ।
शुद्धात्मानं स्वकीयं च तद्ध्येयं ध्यायतीति वा ॥ २३३ ॥
ध्यानं स एर शुद्धात्मा यतस्तेनैव चिन्त्यते ।
प्रोक्तं च स्वात्मतुष्टेन कुंथुसागरसूरिणा ॥ २३४ ॥

अर्थ - जो अपना ही शुद्ध आत्मा अपने ही आत्मामें ध्यान करता है वह ध्यान करनेवाला शुद्धात्मा ध्याता कहलाता है । तथा वह शुद्धात्मा अपने ही शुद्धात्माका चिंतवन करता है इसलिए उसका वही शुद्धात्मा ध्येय कहलाता है और वह शुद्धात्मा अपने उसी शुद्धात्माके द्वारा चिंतवन करता है इसलिए उसका वहीं शुद्धात्मा ध्यान कहलाता है । इस प्रकार अपने आत्मामें संतुष्ट रहनेवाले आचार्य श्री कुंथुसागरने निरूपण किया है ।

भावार्थ - ध्यान करनेवालेको ध्याता कहते हैं, जिसका ध्यान किया है उसको ध्येय कहते हैं और ध्यान करने वा चिंतवन करनेको ध्यान कहते हैं । यहांपर अपना शुद्ध आत्मा ही ध्यान करनेवाला है । अपने ही शुद्धात्मा का ध्यान किया जाता है और उसी शुद्ध आत्मामें लीन होकर उसका ध्यान किया जाता है । इसलिए वही अपना शुद्धात्मा ध्याता है, वही अपना शुद्धात्मा ध्येय है और वही शुद्धात्मा ध्यान है । उस ध्यानमें किसी प्रकारका संकल्प विकल्प नहीं है । वह शुद्धात्मा में लीन होकर निश्चल अवस्थाको धारण कर लेता है । इसलिए उसमें ध्यान, ध्येय वा ध्याताका कोई विकल्प नहीं होता है । इसलिए वह ध्यान ध्येय ध्याता तीनों ही अपने शुद्धात्मा स्वरूप पड़ते हैं और इसीलिए वे तीनों एक ही शुद्धात्मा स्वरूप हो जाते हैं ।

आगे - शुद्धोपयोगकी सिद्धिके लिये कैसी भावना रखनी चाहिये यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न - भावना कीदृशी कार्या शुद्धोपयोगसिद्धये ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये शुद्धोपयोग प्राप्त करनेके लिये कैसी भावना रखनी चाहिये ।

उत्तर - नित्ये निजानन्दपदे निषद्या ।
शुद्धेऽस्ति चर्यापि निजप्रदेशे ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिद्रूपशय्याशयनं सदा मे ।
शुद्धोपयोगीति स यस्य भावः ।। २३५ ।।

अर्थ - जो योगी सदाकाल रहनेवाले अपने चिदानंद स्वरूप शुद्धात्मामें ही अपनी निषद्या वा बैठक समझता है, जो अपने आत्माके ही शुद्ध प्रदेशोंमें चर्या गमनागमन समझता है और अपने ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माको शय्यारूप समझकर उसीपर शयन करता रहता है इस प्रकार जो सदा काल अपनी भावनाएं रखता है उसको शुद्धोपयोगको धारण करनेवाला समझना चाहिये ।

भावार्थ - जब यह शुद्ध आत्मा अपने ही स्वरूपमें लीन हो जाता है, यहांतक कि ध्याता ध्यान और ध्येय तकका विकल्प छोड़ देता है उस समय वह आत्मा अपने ही शुद्ध आत्मामें स्थिरताके साथ लीन हो जाता है । उस समयमें वह शुद्धात्मा अपने ही उस शुद्धात्मामें चर्या करनेवाला, वा बैठनेवाला, वा सोनेवाला समझा जाता है । यद्यपि वहांपर चर्या शय्या निषद्या कुछ है नहीं केवल शुद्ध आत्मा शुद्ध आत्मामें वा अपने ही शुद्धस्वरूपमें लीन है तथापि वह शुद्धात्मा अपने शुद्ध आत्माको सब प्रकारसे सुख देनेवाला समझता है । उसीको सुख देनेवाली शय्या समझता है उसीको सुखसे बैठनें योग्य आसन समझता है और उसीको विहार करने योग्य स्थान समझता है । इस प्रकार जो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें सर्वथा लीन रहनेकी भावना रखता है उसीको शुद्धोपयोगी समझना चाहिए ।

आगे - शुद्धोपयोगको धारण करनेवाला जीव कुछ वचन भी कहता है वा नहीं यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न - क्वचिच्छुद्धोपयोगीह ब्रवीति वा न मे वद ।

अर्थ - अब कृपाकर यह बतलाइये कि शुद्धोपयोगको धारण करनेवाला जीव कभी कुछ वचन कहता है वा नहीं ।

उत्तर - प्रायश्चिदानन्दमयी विरागी ।
शुद्धोपयोगी भवतीति मौनी ।।
शुद्धात्मशान्त्यै यदि चेद् ब्रवीति ।
हितं मितं शांतिकरं प्रियं वा ।। २३६ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृग्बोधचारित्रमयो ममात्मा ।
साध्यः प्रसिद्धो व्यवहारतोऽस्ति ।।
चिद्रूपमूर्तिः परमार्थतो वा ।
ह्याद्यन्तमध्यादिविवर्जितोऽस्ति ।। २३७ ।।

अर्थ - शुद्धोपयोगको धारण करनेवाले और परमवीतराग अवस्थाको धारण करनेवाले चिदानन्दस्वरूप शुद्ध आत्माएं प्रायः मौन धारण करते हैं । यदि वे अपने शुद्ध आत्मामें परमशांति स्थापन करनेके लिये कभी कुछ वचन कहते हैं तो हितरूप परिमित अत्यंत प्रिय और परम शांति उत्पन्न करनेवाले वचन कहते हैं । तथा मेरा यह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय है, व्यवहारसे सिद्ध करने योग्य है, संसारमें प्रसिद्ध है । परमार्थदृष्टिसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, और आदि मध्य अंत तीनोंसे रहित है । इस प्रकार अपने शुद्ध आत्माके स्वरूप निरूपण करते हैं ।

भावार्थ - जब यह शुद्ध आत्मा अपने शुद्धस्वरूपमें लीन रहता है तब उसके शुद्धोपयोग होता है । उस समय वह कुछ भी क्रिया नहीं करता । न शरीरसे कुछ क्रिया करता है, न मनसे कुछ चिंतवन करता है और न वचनसे कुछ कहता है। उस समय वह सर्वथा मौन धारण करता है । परंतु उस ध्यानके अनंतर यदि वह किसी भव्यजीवसे कुछ कहता है तो सब जीवोंके हित करने वाले वचन कहता है, जितने वचनोंकी आवश्यकता होती है उतने ही वचन कहता है अधिक वचन नहीं कहता । तथा सबको प्रिय लगनेवाले वचन कहता है अप्रिय कटुक वा निंदनीय वचन कभी नहीं कहता । इसके सिवाय समस्त जीवोंमें शांति उत्पन्न करनेवाले वचन कहता है । क्षोभ उत्पन्न करनेवाले वा कषाय उत्पन्न करनेवाले वचन कभी नहीं कहता । अथवा जब कभी उपदेश देनेका काम पड़ता है तो उनका यही उपदेश होता है कि यह मेरा आत्मा अत्यंत शुद्ध है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, और आदि अंत मध्य तीनोंसे रहित है । यद्यपि परमार्थदृष्टिसे आत्माका यही स्वरूप है तथापि संसारी जीवोंको अपना आत्मा व्यवहार चारित्र धारण कर शुद्ध कर लेना चाहिये । इसीलिए इसको व्यवहारसे सिद्ध करने योग्य बतलाया है । उन परम योगियोंका उपदेश इसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकारका होता है ।

आगे - यथार्थ विजयीका स्वरूप कहते हैं ।

प्रश्न - सत्यार्थविजयी कः स्यात् वद मे सांप्रतं प्रभो !

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें कौनसा विद्वान् मनुष्य यथार्थ विजयी कहलाता है ।

उत्तर - व्याघ्रस्य सिंहस्य वशं विधाता ।
शत्रोर्विजेताक्षसुखादिभोक्ता ।।
गजाश्वजन्तोर्मणिरत्नपृथ्व्याः ।
परीक्षकः शोधक एव सुज्ञः ।। २३८ ।।
दृष्टा अनेके भुवि किंतु नैव
कर्मारिजेतात्मसुखस्य भोक्ता ।
शुद्धात्मरूपस्य परीक्षकश्च
शुद्धोपयोगी विरलः कृतार्थी ।। २३९ ।।

अर्थ - इस संसारमें सिंह व्याघ्र आदि हिंसक पशुओंको वश करनेवाले बहुत हैं, अपने प्रबल शत्रुओंको जीतनेवाले भी बहुत हैं, उत्तमसे उत्तम इंद्रियोंके सुखोंको भोगनेवाले भी बहुत हैं हाथी घोड़े आदि पशुओंकी परीक्षा करनेवाला वा मणिरत्न पृथ्वी आदिका संशोधन करनेवाला विद्वान् पुरुष इस संसारमें अनेक हैं परंतु कर्मोंके जीतनेवाले, आत्मासुखका उपभोग करनेवाले, अपने शुद्ध स्वरूपकी परीक्षा करनेवाले, कृतकृत्य और शुद्धोपयोगको धारण करनेवाले जीव बहुत ही थोड़े हैं । अथवा यों कहना चाहिए कि ऐसे जीव हैं ही नहीं ।

भावार्थ - जो जीव अपने शत्रुओंको जीत लेते हैं उनको विजयी कहते हैं । जो कोई अपने आत्मा व शरीरको दुःख देता है उसको शत्रु कहते हैं । जैसे कोई मनुष्य किसीका धन लूटता है वा उसके किसी कुटुंबीको मार देता है तो वह उसका शत्रु कहलाता है । परंतु वास्तवमें देखा जाय तो वह जीव उसका शत्रु नहीं है किंतु इस संसारमें जितना सुख दुःख होता है वह सब अपने अपने कर्मके उदयके निमित्त से होता है । यदि अशुभ कर्मका उदय न हो तो कोई किसीका धन नहीं ले सकता । अथवा कोई किसीको नहीं मार सकता । अपने अशुभ कर्मके उदय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होनेपर ही कोई भी मनुष्य वा पशु पक्षी अपनेको वा कुटुंबीको मार सकता है। हां ! उसमें कोई न कोई निमित्त कारण अवश्य मिल जाता है । तथा वह कर्मका उदय ही उस निमित्तको मिला लेता है । इससे सिद्ध होता है कि मारनेवाला तो निमित्तमात्र है । वास्तवमें मारनेवाला तो अपना कर्मरूप शत्रु है । इसलिए जो पुरुष अपने उस प्रबल कर्मरूपी शत्रुको जीत लेते हैं वे ही यथार्थ विजयी कहलाते हैं । जिस प्रकार शत्रुको जीतनेवाला अनेक प्रकारकी सुख सामग्री प्राप्त कर सुखका अनुभव किया करता है उसी प्रकार कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाला पुरुष भी अनंतचतुष्टयरूपी महाविभूतिको प्राप्त कर आत्मजन्य अनुपम अनंत सुखका अनुभव किया करता है । और शुद्धोपयोगको धारण करनेवाला वह कृतकृत्य कहलाता है । परंतु इस प्रकार कर्मरूप यथार्थ शत्रुओंको विजय करनेवाले इस संसारमें मिलते नहीं है । यदि मिलते हैं तो बहुत ही विरले वा बहुत ही थोड़े मिलते हैं । यही समझकर भव्यजीवोंको अपने यथार्थ शत्रुओंका स्वरूप समझकर उन्हीं कर्मरूप शत्रुओंको विजय करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये और सबसे पहले मोहनीय कर्मको नाश कर शुद्धोपयोगको धारण करनेका प्रयत्न करना चांहिये । जिससे कि शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाय ।

आगे - आत्माका आधाराधेयभाव बतलाते हैं ।

प्रश्न - आधारः कश्च लोकेऽस्मिन् स्वात्मनो मे गुरो वद ।

अर्थ - हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें इस मेरे आत्माका आधार क्या है ।

उत्तर - अनादिकर्मसंबंधादाधारः स्वात्मनो वपुः ।
अथवा पृथिवी ज्ञेया क्वचिद्बंधुजनादिकः ॥ २४० ॥
याथात्म्यात्स्वात्मनः स्वात्माधारो ज्ञेयो निरंजनः ।
आधेयोपि स एव स्याद् योगी जानाति शुद्धधीः ॥ २४१ ॥

अर्थ - इस संसारी जीवके साथ अनादिकालसे कर्मोंका संबंध लगा हुआ है । उस कर्मोंके संबंधसे देखा जाय तो इस अपने संसारी आत्माका आधार यह शरीर है । अथवा उस शरीर विशिष्ट आत्माका आधार पृथ्वी है । तथा उस शरीरविशिष्ट आत्माके पालन पोषणकी दृष्टिसे देखा जाय तो कहीं कहींपर भाई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बंधु भी इस जीवके आधार बन जाते हैं। परंतु यदि यथार्थदृष्टिसे देखा जाय तो कर्मबंधनसे रहित यह अपना शुद्ध आत्मा ही इस अपने शुद्ध आत्माका आधार है। तथा यही अपना शुद्ध आत्मा आधेय है। इस आधाराधेय-भावको शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले योगी ही जानते हैं।

भावार्थ - वास्तवमें देखा जाय तो यह आत्माकर्मोंसे सर्वथा रहित शुद्ध है। परंतु अनादिकालसे ही कर्मोंके बंधनमें बंधा हुआ है। तथा कर्मोंके बंधनमें बंध जानेके कारण ही वह अनेक प्रकारके शरीरको धारण करता रहता है, और उस शरीरके प्रमाणके समान ही रहता है। इसलिए यदि इस दृष्टिसे देखते हैं तो इस आत्माका आधार शरीर है। क्योंकि इस शरीर में ही आत्मा रहता है। परंतु यह शरीर मूर्त होनेसे निराधार रह नहीं सकता, इसलिए वह आत्मविशिष्ट शरीर इस पृथ्वीपर ही रहता है अथवा लोकाकाशके किसी भी स्थान में रहता है। इसलिए इस जीवका आधार इस पृथ्वीको मानना पड़ता है अथवा इस लोकाकाशको मानना पड़ता है। इसके सिवाय इस पृथ्वीको आधार मानते हुए भी बालक अवस्थामें अथवा किसी रोगकी अवस्थामें वा अन्य किसी निरुपाय अवस्था में वा पालन पोषणकी दृष्टिसे भाई-बंधुओंको वा माता-पिताओंको भी आधार मानना पड़ता है। ये सब आधार कर्म और शरीरसहित जीवके हैं। परंतु वास्तवमें देखा जाय तो शरीर और कर्म दोनों ही पौद्गलिक और जड़ स्वरूप है तथा यह आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप चैतन्यमय है। कर्म मूर्त है, आत्मा अमूर्त है। इसलिए यह आत्मा शरीर वा कर्मोंसे भिन्न है ऐसा यह अमूर्त आत्मा अपने ही प्रदेशोंमें वा अपने ही स्वरूपमें रहता है इसलिए इस अपने शुद्धस्वरूप आत्माका आधार यही अपना शुद्ध आत्मा रहता है इसलिए यही अपना शुद्ध आत्मा आधेय है। परंतु इस शुद्ध आत्माके आधाराधेय भावको केवल शुद्ध उपयोगको धारण करनेवाले योगी पुरुष ही जानते हैं। इस आधाराधेय भावको संसारी जीव नहीं जानते। संसारी जीव तो व्यवहार दृष्टिमें लगे रहते हैं, इसलिए वे तो पृथ्वी आदि आधारको ही जानते हैं। शुद्ध आत्माके आधाराधेयको शुद्ध आत्माको धारण करनेवाले योगी ही जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे - विश्व धर्मका निरूपण करते हैं ।

शुद्धोपयोगसिद्ध्यर्थं विश्वधर्मो विवेच्यते ।

अर्थ - शुद्धोपयोगकी सिद्धि के लिए गुरु स्वयं विश्वधर्मका निरूपण करते हैं।

धनस्य बुध्दे: समयस्य शक्ते:
नियोजनं प्राणिहिते सदैव ।
स्याद्विश्वधर्म: सुखदोऽसुशांन्त्यै
ज्ञात्वेति पूर्वोक्तविधिर्विधेय: ।। २४२ ।।
यतस्त्रिलोके स्वरसस्य पानं
स्याच्छुद्धचिद्रूपसुखस्य चर्चा ।
आचन्द्रतारार्कमितीह कीर्ति-
र्गृहे गृहे मंगलगीतवाद्यम् ।। २४३ ।।

अर्थ - भव्वजीवोंको सदा काल समस्त प्राणियोंके हितके लिए ही अपने धनका उपयोग करना चाहिए, अपनी बुद्धिका उपयोग करना चाहिए, अपने समयका उपयोग करना चाहिए और अपनी शक्तिका उपयोग करना चाहिए । यही समस्त संसारका हित करनेवाला विश्व धर्म है । यही समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाला है और इसी धर्मको धारण करनेसे समस्त संसारको शांति प्राप्त होती है । यही समझकर समस्त जीवोंको इस विश्वधर्मका पालन करते रहना चाहिये। क्योंकि इस विश्वधर्मके पालन करनेसे आत्मजन्य अनुपम सुख की प्राप्ति होती है, चिदानंद स्वरूप शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होनेवाले सुखकी प्राप्ति होती है तथा इस संसारमें जब तक तारे और चन्द्रमा व सूर्य विद्यमान हैं तब तक कीर्ति फैलती रहती है और तब तक ही घर घरमें मंगल गान होते रहते हैं ।

भावार्थ - समस्त जीवोंके कल्याण करनेकी भावना रखना सर्वोत्कृष्ट भावना है । परंतु यह भावना आत्माके कल्याण करनेकी होनी चाहिये; केवल लौकिक उपकार करनेकी भावना रखना उत्कृष्ट भावना नहीं है । संसारमें ऐसे बहुतसे जीव देखे जाते हैं जो सदाकाल दूसरोंका उपकार किया करते हैं परंतु वे न अपने आत्माका कुछ कल्याण करते हैं और न अन्य आत्माओंका कल्याण करते हैं वे केवल दिखाऊ लौकिक उपकार किया करते हैं । तथा वे उस काममें यहां तक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लीन हो जाते हैं कि वे अपना धर्म कर्म भी छोड़ देते हैं। परोपकार करनेवाले अनेक जैनी भी ऐसे देखे गये हैं जो उसी परोपकारमें लगे रहनेके कारण बिना छना जैसा मिला वैसा पानी पीलेते हें, रातमें भोजन कर लेते हैं और देवदर्शन तक नहीं करते। यदि उनसे कहा जाता है तो वे यही करते हैं कि हमें इस कामसे अवकाश ही नहीं मिलता। परंतु यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यह उनका परोपकार आत्माके कल्याणका कारण नहीं है। उस थोड़ेसे लौकिक परोपकारसे न तो अन्य जीवोंके आत्माका कल्याण होता है और न अपने आत्माका कल्याण होता है। इसलिए ऐसे लौकिक परोपकारसे आत्माका कोई कल्याण नहीं होता। इस जीवको सबसे पहले अपने आत्माका कल्याण कर लेना चहिये। जो आत्मा अपना कल्याण कर लेता है, अपने क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मद, मत्सर, काम आदि समस्त विकारोंको दूर कर अपने आत्माको शुद्ध बना लेता है वही आत्मा अन्य जीवोंका कल्याण कर सकता है। विकाररहित आत्मासे स्वयमेव दूसरोंकी आत्माका कल्याण हो जाता है। यहांतक मुनियोंकी परम निर्विकार और अत्यंत शांतमुद्रा देखकर सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर पशु भी शांत हो जाते हैं और वे स्वयं निर्विकार होकर उन मुनिराजके समीप बैठ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्माका कल्याण विकारोंके त्याग करनेसे होता है। अत एव उन विकारोंके त्याग करने वा करानेके लिए ही अपनी सब शक्ति लगा देनी चाहिए, उन्हीं विकारोंके त्याग करने करानेके लिए अपना सब धन लगा देना चाहिए, उन्हीं विकारोंके त्याग करने करानेके लिए अपनी समस्त बुद्धि और अपना समस्त समय लगा देना चाहिए। इसके सिवाय अपने पास जो कुछ है वह सब आत्माके कल्याण करने करानेमें ही लगा देना चाहिए। विकारोंका त्याग कर देनेसे ही आत्मा शुद्ध होता है, आत्मजन्य अनुपम सुखकी प्राप्ति होती है, शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव होता है और शुद्धोपयोगकी प्राप्ति होकर शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। यही सर्वोत्कृष्ट आत्म कल्याण है। तथा उन सिद्धोंका स्वरूप चिंतवन कर अनेक जीव मोक्षमार्गमें लग जाते हैं। यहांतक कि तीर्थंकर परमदेव भी उन्हीं सिद्धांतोंका स्मरण कर दीक्षा लेते हैं। यह सर्वोत्कृष्ट परोपकार कहलाता है। यही समझकर सबसे पहले आत्मकल्याण में लगना चाहिए और फिर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्यजीवोंको मोक्षमार्गमें लगाकर अन्यजीवोंका कल्याण करते रहना चाहिए। यही सबसे उत्कृष्ट अपना और दूसरोंका उपकार है, और इसीको विश्वधर्म कहते हैं।

आगे - शुद्धोपयोगकी सिद्धिके लिए ध्यानका फल दिखलाते हैं।

शुद्धोपयोगसिद्ध्यर्थं फलं ध्यानस्य कथ्यते ॥

अर्थ - आगे शुद्धोपयोगकी सिद्धिके लिए उत्कृष्ट ध्यानका फल दिखलाते हैं।

एकाग्रचिन्ताविरोधनाम ।
ध्यानं च शुक्लं सुखशांतिमूलम् ॥
कुर्वन्प्रवेशं ह्यचळे स्वधर्मे ।
मिष्टातिमिष्टं स्वरसं पिवन् हि ॥ २४४ ॥
शुद्धोपयोगी सहजेन साधुः ।
प्राप्नोति शुद्धां निजराजधानीम् ॥
स्वानंदतुष्टेन सुखप्रदेन ।
श्रीकुंथुनाम्ना वरसूरिणोक्तम् ॥ २४५ ॥

अर्थ - समस्त चिंतवानोंको रोककर केवल अपने शुद्ध आत्मामें लीन होकर उसी अपने शुद्ध आत्माका चिंतवन करना शुल्कध्यान कहलाता है। यह शुक्लध्यान अनंतसुख और अनंत शांतिका मूल कारण है। जो ध्यानी महात्मा अपने निश्चल आत्मधर्ममें लीन हो जाता है वह मीठेसे मीठे शुद्धात्मजन्य अनुपम सुखका पान करता रहता है। तदनंतर वह शुद्धोपयोगको धारण करनेवाला साधु अत्यंत शुद्ध ऐसी अपनी मोक्षरूपी राजधानीमें जा पहुंचता है। इस प्रकार अपने आत्मजन्य सुखमें लीन रहनेवाले और समस्त जीवोंको सुख देने वाले आचार्य वर्य श्रीकुंथुसागरने निरूपण किया है।

भावार्थ - अन्य समस्त चिंतवनोंका त्याग कर किसी एक पदार्थका चिंतवन करना ध्यान है। उस ध्यानके चार भेद हैं आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। जो ध्यान किसी दुःखसे किया जाता है उसको आर्तध्यान कहते हैं। यह आर्तध्यान तिर्यंचगतिका कारण है। जो ध्यान रुद्रपरिणामोंसे वा हिंसा झूठ चोरी रूप क्रूर परिणामोंसे किया जाता है उसको रौद्रध्यान कहते हैं। यह रौद्रध्यान नरकका कारण है। जो ध्यान धर्मके चिंतवनसे किया जाता है उसको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म्यध्यान करते है । यह धर्म्यध्यान मनुष्य वा देवगतिका कारण है । जो ध्यान केवल शुद्ध आत्मासे किया जाता है उसको शुक्लध्यान कहते हैं । यह शुक्लध्यान मोक्षका कारण है । इस शुक्लध्यानके हि द्वारा आत्माके घातिया कर्मोंका नाश होनेसे अनंतचतुष्टयकी प्रप्ति होती है । तथा अनेक अतिशयोंकी प्राप्ति होती है । तदनंतर उसी शुक्लध्यानके द्वारा वह अघातिया कर्मोंका भी नाश कर डालता है और फिर उसी समयमें अपने अपने शुद्ध आत्माकी सदाकाल रहनेवाली मोक्षरूपी राजधानीमें जा विराजमान होता है । फिर वह अनंतानंतकाल तक वहींपर अनंतसुखका अनुभव करता है । मोक्षमें किसी कालमें भी किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता है । यही समझकर भव्यजीवोंको आर्तध्यान और रौद्रध्यान का सर्वथा त्याग कर धर्म्यध्यानका चिंतवन करते रहना चाहिये और फिर धीरे धीरे शुक्लध्यानका अभ्यास करते रहना चाहिए । यह शुक्लध्यान ही अनंतसुखका कारण है ।

आगे - संक्षेपसे अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तीनों प्रकारके भावोंका फल दिखलाते हैं ।

संक्षेपतो वर्ण्यत एव चाथ ।
भावत्रयाणां च फलस्वरूपम् ॥

अर्थ - अब आगे अत्यंत संक्षेपसे अशुभोपयोग शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तीनों प्रकारके भावोंका फल दिखलाते हैं ।

दुःखप्रदा श्वभ्रगतिर्भवेद्वाऽ- ।
शुभोपयोगात्कुगतिस्तिरश्चाम् ॥
दरिद्रता हीननृता पशुत्वं ।
मायाविता बंधुविहीनतादिः ॥ २४६ ॥
शुभोपयोगेन विरोगता स्यात् ।
साम्राज्यलक्ष्मीः सुखदा स्वदासी ॥
धर्मानुकूलः सुकुंटुंबवर्गः ।
सुमान्यता श्रेष्ठजनैश्च पूजा ॥ २४७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धोपयोगेन निजाश्रितेन ।
स्वराज्यलक्ष्मीश्च भवेत्स्वदासी ।।
गतिः स्थितिः सौख्यमये स्वधर्मे ।
चिदात्मके स्वात्मरसे हि तृप्तिः ।। २४८ ।।
एवं नृणां कारणकार्यभेदाद्- ।
भवेद्धि भेदः खलु तत्फलेऽपि ।।
नानाव्यथादः सुखदः सदैव ।
शंका न कार्या विषये किलास्मिन् ।। २४९ ।।

अर्थ - अशुभोपयोगका फल दुःख देनेवाली नरकगतिका प्राप्त होना है, वा नीच तिर्यंच गतिका प्राप्त होना है, अथवा दरिद्रताका होना, नीच मनुष्य होना, पशु होना, मायाचारीपना करना और भाई बंधुओंसे रहित होना आदि सब अशुभोपयोगका फल है । शुभोपयोगके फलसे नीरोग शरीर प्राप्त होता है, सुख देनेवाली साम्राज्य लक्ष्मी अपनी दासी हो जाती है । धर्मके अनुकूल चलनेवाले कुटुंबकी प्राप्ति होती है, और उत्तम मान्य मनुष्योंके द्वारा मान्यता तथा पूज्यता प्राप्त होती है । केवल अपने शुद्धात्माके आश्रित रहनेवाले शुद्धोपयोगके फलसे मोक्षरूप स्वराज्य लक्ष्मी भी अपनी दासी हो जाती है, अनंत सुखमय आत्माके शुद्धस्वरूपमें स्थिति वा चर्या प्राप्त हो जाती है और शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्म-सुखमें अनंततृप्ति प्राप्त हो जाती है । इस प्रकार मनुष्योंके कारण कार्यके भेदसे उनके फलोमें भी भेद हो जाता है किसी कारण कार्यका फल अनेक प्रकारके दुःख देनेवाला होता है और किसी कारण कार्यका फल सुख देनेवाला होता है । इस विषयमें किसी प्रकारकी शंका नहीं करनी चाहिये ।

भावार्थ - इस संसारमें नरक निगोदादिकके जितने दुःख हैं, तिर्यंच और मनुष्ययोनिमें जितने दुःख है, चाहे वे शारीरिक दुःख हों, चाहे मानसिक दुःख हों, चाहे आकस्मिक दुःख हों, और चाहे कौटम्बिक दुःख हों, वे सब दुःख अशुभोपयोगसे ही प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार इस संसारमें जितने सुख हैं, चाहे वे सुख धनसे प्राप्त होनेवाले हों, चाहे इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाले हों, चाहे कुटुंबसे प्राप्त होनेवाले हों और चाहे अन्य किसी प्रकारसे उत्पन्न होनेवाले हों सब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रियजन्य सुख वा सांसारिक सुख शुभोपयोगसे प्राप्त होता है। शुद्धोपयोगका फल मोक्ष है। इस प्रकार कारण के भेदसे कार्य में भेद अवश्य हो जाता है। इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है।

आगे - सब ग्रंथका सारांश बतलाते हैं।

कौ केवलं क्लेशकरोस्ति निंद्योऽ- ।
शुभोपयोगो विषवद्व्यथाद: ॥
शुभोपयोगो स्वसुखप्रदोऽस्ति ।
शुद्धोपयोगो निजसौख्यदाता ॥ २५० ॥
ज्ञात्वेति मुक्त्वा ह्यशुभोपयोगं ।
क्वचित्प्रवृत्तिश्च शुभोपयोगे ॥
कुर्वन्सदा तिष्ठतु सर्वलोक: ।
शुद्धोपयोगे हि ममापि चात्मा ॥ २५१ ॥

अर्थ - इस समस्त ग्रंथका सार यह है कि इस संसारमें अशुभोपयोग अत्यंत क्लेश उत्पन्न करनेवाला है, अत्यंत निंदनीय है और विषके समान दु:ख देनेवाला है। तथा शुभोपयोग इंद्रियजन्य सुखोंको देनेवाला है और शुद्धोपयोग अपने शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होनेवाले अनंतसुखको देनेवाला है। यही समझकर अशुभोपयोगका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और अंतमें जाकर समस्त जीवोंको शुद्धोपयोगमें स्थिर हो जाना चाहिए। इसी प्रकार मेरा यह आत्मा भी इसी शुद्धोपयोगमें सदाकाल् स्थिर रहे ऐसी मैं भाव़ना करता हूं।

भावार्थ - इस ग्रंथमें अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तीनों उपयोगोंका फल दिखलाया है। इन तीनों उपयोगोंमेंसे अशुभोपयोग तो सर्वथा त्याग करने योग्य है। इसलिए उसका तो सर्वथा त्याग ही कर देना चाहिए। शुद्धोपयोग यद्यपि त्याग करने योग्य है तथापि जब तक शुद्धोपयोगकी प्राप्ति नहीं होती तब तक शुभोपयोगमें अपनी प्रवृत्ति रखनी चाहिये। शुभोपयोगमें प्रवृत्ति रखते हुए भी शुद्धोपयोगका अभ्यास करता रहना चाहिये। और शुद्धोपयोगकी प्राप्ति होनेपर शुभोपयोगका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इस संसारमें शुद्धोपयोग ही मोक्ष का सुख देनेवाला है शेषके शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसारके कारण हैं । इस प्रकार आत्माका हित करनेवाला और मोक्षके अनंत सुख देनेवाला एक शुद्धोपयोग ही है । अतएव समस्त जीव इसी शुद्धोपयोगको प्राप्त कर इसीमें सदाकाल स्थिर बने रहें तथा मेरा आत्मा भी इसी शुद्धोपयोगको प्राप्त कर सदाकाल इसीमें स्थिर बना रहे । ग्रंथकर्ता आचार्य कुंथुसागर स्वामी ऐसी ही भावना करते हैं ।

आगे - ग्रंथका उपसंहार करते हैं ।

एवं यथावत्कथितं स्वरूपं ।
भावत्रयाणां सकलात्मशुद्ध्यै ।।
स्वानंदतुष्टेन तमोहरेण ।
श्रीकुंथुनाम्ना वर सूरिणात्र ।। २५२ ।।

अर्थ - इस प्रकार अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करनेवाले और अपने आत्माके शुद्धस्वरूपमें वा आत्मजन्य सुखमें संतुष्ट रहनेवाले आचार्यवर्य मुझ श्री कुंथुसागर स्वामीने समस्त जीवोंकी आत्माओंको शुद्ध करनेके लिये अशुभोपयोग शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तिनों भावोंका यथार्थस्वरूप इस ग्रंथमें निरूपण किया है ।

भावार्थ - अनेक प्रकारसे अशुभोपयोगका फल दिखलाया है, अनेक प्रकारसे शुभोपयोगका फल दिखलाया है, और अनेक प्रकारसे शुद्धोपयोगका स्वरूप दिखलाया है । तथा समस्त जीव शुभोपयोग वा अशुभोपयोग का त्याग कर शुद्धोपयोग धारण कर अपने आत्माको शुद्ध बनावें और शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करले इसी अभिप्रायसे इनका स्वरूप दिखलाया है । इनको जानकर समस्त भव्यजीवोंको शुद्धोपयोग धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये यही इस ग्रंथके निरूपण करनेका अभिप्राय है । इति शम् ।

इति मुनि श्री १०८ कुंथुसागरविरचिते
भावत्रयफलप्रदर्शिनाम्नि ग्रंथे
शुद्धोपयोगवर्णनो नाम
तृतीयोऽध्याय: ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार मुनि श्री १०८ कुंथुसागर विरचित भावत्रयफलप्रदर्शी
नामके ग्रंथकी 'धर्मरत्न' पं. लालाराम शास्त्री
विरचित सरल हिंदी भाषा टीकामें
शुद्धोपयोगको वर्णन करनेवाला
यह तीसरा अध्याय
समाप्त हुआ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ प्रशस्तिः ।

आगे - प्रशस्ति लिखते हैं ।

दीक्षागुरोः शान्तिसुधाकरस्य ।
कृपाप्रसादात्सुखशान्तिदातुः ।।
विद्यागुरोरेव सुधर्मसिंधो ।
राबालवृद्धादिविवोधनार्थम् ।। २५३ ।।
भावत्रयाणां च फलप्रदर्शी ।
ग्रंथो मयायं लिखितो मनोज्ञः ।।
आचार्यवर्येण विचक्षणेन ।
श्रीकुन्थुनाम्नात्मरतेन नित्यम् ।। २५४ ।।

अर्थ - सदाकाल अपने आत्मामें लीन रहनेवाले और अत्यंत बुद्धिमान ऐसे आचार्यवर्य मुझ श्री कुंथुसागर स्वामीने शुभोपयोग अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तीनों भावोंके फलको दिखलानेवाला यह मनोहर ग्रंथ सुख और शान्तिको देनेवाले और चन्द्रमाके समान महाशांत ऐसे आचार्यवर्य मेरे दीक्षा गुरु श्रीशान्तिसागर स्वामीकी परमकृपाके प्रसादसे लिखा गया है तथा मेरे विद्यागुरु आचार्यवर्य श्रीसुधर्मसागरकी परमकृपा के प्रसादसे लिखा गया है । और बालक वृद्ध वा युवा सब ही जीव पढ़कर अपने आत्माका कल्याण करें । इसी अभिप्रायसे यह ग्रंथ लिखा गया है ।

भावार्थ - आचार्यवर्य श्रीशान्तिसागरजी महाराज मेरे दीक्षा गुरु हैं तथा आचार्यवर्य श्रीसुधर्मसागरजी महाराज मेरे विद्यागुरु हैं । इन दोनों परम वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंकी कृपासे ही मैने इस ग्रंथको समाप्त किया है ।

ग्रंथं ह्यमुं वांच्छितदं सदा ये ।
स्मरन्ति गायन्ति पठन्ति मर्त्या ।।
स्वर्मोक्षलक्ष्मीं क्रमतो लभन्ते ।
यथार्थविद्यां सुगुरोश्च भक्ताः ।। २५५ ।।

अर्थ - जो श्रेष्ठ गुरुओंके भक्त इच्छानुसार फल देनेवाले इस ग्रंथको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सदाकाल पढ़ते हैं स्मरण करते हैं वा इसको गाते हैं वे पुरुष तथार्थ विद्याको प्राप्त होते हैं और अनुक्रमसे स्वर्ग मोक्षकी लक्ष्मीको प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ - इस ग्रंथको पठन पाठन करनेका फल आत्माके शुद्धस्वरूपका ज्ञान होना है और अंतिम फल स्वर्गोंके सुख भोग कर मोक्ष लक्ष्मीका प्राप्त होना है । अत एव इस ग्रंथका पठन पाठन अवश्य करते रहना चाहिये ।

आगे - ग्रंथकार अपनी लघुता दिखलाते हैं ।

ग्रंथे क्वचिन्मे स्खलनं भवेच्चेत् ।
बुधा यदीशाः खलु शोधयित्वा ॥
पठन्तु नित्यं परिपाठयन्तु ।
ग्रंथस्य भवोऽस्ति च कर्तुरस्य ॥ २५६ ॥

अर्थ - मेरे अज्ञान वा प्रमादसे यदि ग्रंथमें कोई भूल रह गई हो तो बुद्धिमान मुनियोंको उसका संशोधन कर लेना चाहिये और फिर सदाकाल उसका पठन पाठन करते रहना चाहिये । इस ग्रंथकी रचना करनेवालेका यही अभिप्राय है ।

भावार्थ - हम लोग अल्पज्ञ हैं । अल्पज्ञोंसे भूल होना स्वाभाविक है । इसलिए यदि इसमें किसी छंद मात्रा अक्षर वा किसी अभिप्रायकी भूल हो तो पंडित मुनीश्वरोंको उसका संशोधन कर लेना चाहिये और फिर उसका पठन पाठन करना चाहिए ।

आगे - ग्रंथ रचनाका समय और स्थान बतलाते हैं ।

मोक्षं गते महावीरे विश्वशान्तिविधायके ।
चतुर्विंशति संख्याते सप्तषष्ठ्यधिके शके ॥ २५७ ॥
पौषशुक्लचतुर्दश्यां शुभे च रविवासरे ॥
भारते गुर्जर देशे सुंदरे सादरापुरे ॥ २५८ ॥
भावत्रयफलानां हि प्रदर्शी सर्वदेहिनाम् ॥
ग्रंथोऽयं लिखितो भव्यो भव्यानां बोधहेतवे ॥ २५९ ॥
प्रणेता ग्रंथरत्नानां आचार्यः कुंथुसागरः ॥
मोक्षमार्गप्रदीपाद्यनेकेषां बोधकारिणाम् ॥ २६० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - अपने आत्मामें लीन रहनेवाले आचार्य श्रीकुंथुसागर स्वामीने आत्मज्ञान उत्पन्न करनेवाले भव्योंको ज्ञानप्राप्तिके लिए मोक्षमार्गप्रदीप आदि अनेक ग्रंथरत्नोंके रचना की हैं। तथा उन्हीं श्रीकुंथुसागरस्वामीने समस्त संसारमें शांति उत्पन्न करनेवाले भगवान महावीरस्वामीके मोक्ष जानेके अनंतर चौबीससौ सडसठवें वर्षके पौष शुक्ला चतुर्दशी रविवारके दिन भारतवर्ष के अंतगर्त गुजरात देशके सादरानगरके जिनचैत्यालय में समस्त जीवोंको अशुभोपयोग शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तीनों भावोंके फलको दिखलानेवाला भावत्रयफलप्रदर्शी नामके सुंदर ग्रांथकी रचना समाप्त की है।

भावार्थ - आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरने चतुर्विंशतिस्तोत्र, मोक्षमार्गप्रदीप, सुधर्मोपदेशामृतसार, शांतिसुधासिंधु, प्रतिक्रमणसार, ज्ञानामृतसार, बोधामृतसार, श्रीशांतिसागरचरित्र आदि अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। उन्हीं आचार्य श्रीकुंथुसागरस्वामीने इस भावत्रयफलप्रदर्शी ग्रंथकी रचना की है। यह रचना पौष शुक्ल चतुर्दशी रविवारके दिन वीर निर्वाण संवत् चौबीससौ सडसठवें वर्षमें हुई है तथा सादरा नगरमें समाप्त हुई है।

आगे - अंतिम मंगलाचरण करते हैं।

शान्तिनाथः सदा जीयाज्जगच्छान्तिविधायकः।
सर्वे भव्या परां शांति लभेरन् तत्प्रसादतः ॥ २६१ ॥

अर्थ - समस्त संसारमें परमशांति उत्पन्न करनेवाले सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शांतिनाथ परमदेव सदाकाल जयशील बने रहें। तथा उन्हीं भगवान् शांतिनाथके प्रसादसे समस्त भव्यजीव मोक्षरूप परमशांतिको प्राप्त हों।

समाप्तोऽयं ग्रंथः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री वीतरागाय नमः ।

मुनिराज श्री १०८ कुंथुसागरविरचितः

बोधामृतसारः ।

हिंदीभाषाटीकासहितः ।

स्वराज्यकर्त्रे शिवसौख्यभोक्त्रे ।
मोक्षप्रदात्रे भवबीजहन्त्रें ॥
वीराय भव्याम्बुजभास्कराय ।
त्वत्सौख्यलाभाय नमोस्तु तुभ्यं ॥ १ ॥

जो भगवान वीरनाथ स्वामी अपने आत्माके स्वतंत्र राज्यको करनेवाले हैं मोक्षसुखको भोगनेवाले हैं मोक्षको देनेवाले हैं संसारके कारणोंको हरण करनेवाले हैं और भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिए सूर्यके समान हैं ऐसे भगवान वर्द्धमान स्वामीको उनके सुख प्राप्त करनेके लिए मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वंदित्वा श्रीजिनान् सिद्धान् ।
सूरीन्क साधूंश्च पाठकान् ।।
वक्ष्ये बोधामृतं सारं ।
भव्यानां बोधहेतवे ।। २ ।।

मैं अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार करके भव्यजीवोंको सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेके लिए बोधामृतसार नामका ग्रंथ कहता हूं ।। २ ।।

देवश्च कीदृशस्त्याज्य: । धर्मो धर्मगुरुस्तथा ।।
शास्त्रं च पंडित: कीदृक्। त्याज्य: शास्त्री ची कीदृश: ।।

प्रश्न - कैसा देव त्याग करने योग्य है ? धर्म और धर्मगुरु भी कैसा त्याग करने योग्य है ? कैसा शास्त्र त्याग करने योग्य है ? कैसा पंडित त्याग करने योग्य है? और कैसा शास्त्री त्याग करने योग्य है ?

देवो हि चाष्टादशदोषयुक्त
स्त्याज्यो दयाभीरहितश्च धर्म: ।
रत्नैस्त्रिभि: सौख्यमयैश्च रिक्त-
स्त्याज्योगुरुस्तत्त्वविचारशून्य: ।। ३ ।।
एकान्तपक्षैर्भुवि दूषितं हि ।
त्याज्यं च शास्त्रं जिनमार्गवाह्यम् ।।
त्याज्योस्ति विद्वानपि धर्मशून्य: ।
श्रीमान् हि शास्त्री परमार्थशून्य: ।। ४ ।।

उत्तर - जिसमें भूख प्यास जन्ममरण आदि अठारह दोष विद्यमान हैं ऐसा देव त्याग करने योग्य है, जो धर्म दयासे रहित है वह भी त्याग करने योग्य है और सुखमय रत्नत्रयसे रहित है तथा तत्त्वोंके विचार करनेमें शून्य है ऐसा गुरुभी त्याग करने योग्य है । जो शास्त्र एकांत पक्षसे दूषित है और जिनमार्ग से वाह्य हैं वे भी त्याग करने योग्य हैं । जो विद्वान् धर्मशून्य है वह भी त्याग करने योग्य है और जो शास्त्री परमार्थसे रहित है वह भी त्याग करने योग्य है ।। ३ ।। ४ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्राह्याश्च कीदृशा देव! शास्त्रधर्मादयस्तथा ।।

प्रश्न - देव शास्त्र गुरु धर्म आदि कैसे ग्रहण करने चाहिए?

ग्राह्योस्ति धर्मः सहितो दयाभि- ।
र्देवोपि चाष्टादशदोषमुक्तः ।।
रत्नैस्त्रिभिः सौख्यमयैश्च युक्तो ।।
वंद्यो गुरुः स्वात्मरसेन तृप्तः ।। ५ ।।
मोक्षस्य मार्गोपि जिनोक्त एव ।
ग्राह्यो हि चिन्त्यः सुखशान्तिदाता ।
सापेक्षसिद्धं हि जिनोक्तमेव ।
शास्त्रं प्रमाणं निजबोधदं च ।। ६ ।।

उत्तर - जो धर्म दयासे सुशोभित है वही धर्म ग्रहण करने योग्य हैं, जो देव अठारह दोषोंसे रहित है वही देव पूजा करने योग्य है। जो गुरु सुखमय रत्नत्रयसे सुशोभित है तथा अपने आत्मसुख वा आत्मरससे संतुष्ट है वही गुरु वंदना करने योग्य है। जो मोक्षमार्ग भगवान जिनेंद्र देवका कहा हुआ है और सुख शांति देनेवाला है वही मोक्षमार्ग ग्रहण करने योग्य है और जो शास्त्र अपेक्षाकृत अनेकांत वादसे सुशोभित है भगवान जिनेद्र देवका कहा हुआ है और आत्मज्ञानको प्रदान करनेवाला है वही शास्त्र प्रमाण है तथा पठन करने योग्य है ।। ५ ।। ६ ।।

निपुणास्सन्ति लोकेऽस्मिन् । के नरा भो गुरो वद ।।

प्रश्न - हे गुरो! आप कहिए कि इस संसारमें चतुर कौन हैं?

स एव धीमान्निपुणोपि दानी ।
ज्ञानी च साधुः सुखशांतिभोगी ।।
यो मोहजालं प्रविहाय शीघ्रं ।
स्थातुं स्वधर्मे यतते सदैव ।।७।।

उत्तर - जो मनुष्य मोहरजालको छोड़कर शीघ्र ही अपने आत्मधर्ममें स्थिर होनेके लिए सदा प्रयत्न करते रहते हैं इस संसारमें वे ही बुद्धिमान हैं, वे ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निपुण हैं वे ही दानी हैं वे ही ज्ञानी हैं, वे ही साधु हैं और वे ही सुख और शांतिको भोगनेवाले हैं ॥ ७ ॥

धर्मेण हीना शोभन्ते । नरा वा न कचित्कदा ॥

प्रश्न - जो मनुष्य धर्मरहित हैं वे कभी किसी जगह शोभायमान होते हैं वा नहीं ?

यथा सरो भाति न पद्महीनं ।
तोयेन हीना न नदी न वापी ॥
जीवेन हीनं न वपुर्विभाति ।
गन्धेन हीनं कुसुमं न तैलम् ॥ ८ ॥

उत्तर - जिस प्रकार कमलोंसे रहित सरोवर सुशोभित नहीं होता, बिना पानीके नदी और बावड़ी सुशोभित नहीं होती, बिना जीवके शरीर सुशोभित नहीं होता और बिना सुगंधके पुष्प वा तेल सुशोभित नहीं होता ॥ ८ ॥

दुग्धेन हीना न च भाति धेनुः ।
शीलेन हीनो न नरो न नारी ॥
लता न वृक्षः सुफलेन हीनः ।
स्नेहेन हीना न सखा न बंधुः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार दूधके बिना गायकी शोभा नहीं है, शीलके बिना स्त्री पुरुषकी शोभा नहीं है श्रेष्ठ फलोंके बिना लता और वृक्षोंकी शोभा नहीं है तथा प्रेमके बिना मित्र और बांधवों की शोभा नहीं है ॥ ९ ॥

पक्षेण हीनो न च भाति पक्षी ।
पुत्रेण हीना न च भाति राज्ञी ।
अन्नं च खाद्यं लवणेन हीनं ।
कण्ठेन हीनं न च भाति गीतम् ॥ १० ॥

जिसप्रकार पंखों के बिना पक्षियोंकी शोभा नहीं है, पुत्रके बिना रानीकी शोभा नहीं हैं, नमकके बिना अन्नका खाद्य पदार्थोंकी शोभा नहीं है और कंठके (मधुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कंठके) बिना गीतकी शोभा नहीं है ॥ १० ॥

न भाति लोके मतिहीनमंत्री ।
देवेन हीनं न च चैत्यधाम ॥
योगेन हीनो न च भाती योगी ।
हस्तेन हीनं न च भाति शस्त्रम् ॥ ११ ॥

जिसप्रकार इस संसारमें बिना तीव्र बुद्धिके मंत्री शोभा नहीं देता, बिना देवके देवालय शोभा नहीं देता, बिना योग वा ध्यानके योगी शोभा नहीं देता और बिना हाथके शस्त्र शोभा नहीं देता ॥ ११ ॥

नेत्रेण हीनं वदनं न भाति ।
सत्येन हीना न च भाति वाणी ॥
अन्नं च खाद्यं रहितं घृतेन ।
दन्तेन हीनो न गजो विभाति ॥ १२ ॥

जिसप्रकार बिना नेत्रोंके मुखकी शोभा नहीं होती, बिना सत्यताके वचनोंकी शोभा नहीं होती, बिना घीके खाने योग्य अन्नकी शोभा नहीं होती और बिना दांतोके हाथीकी शोभा नहीं होती ॥ १२ ॥

हीनं च शास्त्रं न हि चाक्षरेण ।
मह्या हि हीना न च भाति छाया ॥
न भाति लोके गुरुहीनशिष्यो ।
हीनःसभाभिर्न च भाति धीमान् ॥ १३ ॥

जिसप्रकार बिना पूर्ण अक्षरोंके शास्त्र शोभायमान नहीं होते, बिना पृथ्वीके छाया शोभा नहीं देती, इसलोक में बिना गुरुके शिष्य सुशोभित नहीं होता और बिना सभाके बुद्धिमान् की शोभा नहीं बढती ॥ १३ ॥

चन्द्रेण हीना न च भाति रात्रिः ।
स्वात्मानुभूत्या रहितश्च साधुः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नीत्या विहीनो न च भाति राजा ।

न भाति शूरोपि विवेकशून्यः ।। १४ ।।

जिस प्रकार चन्द्रमाके बिना रात्रिकी शोभा नहीं होती स्वात्मानुभूति अर्थात् अपने शुद्ध आत्माके अनुभवके बिना साधुकी शोभा नहीं होती, नीतिके बिना राजा शोभायमान नहीं होता, और शूरवीर बिना विवेकके शोभायमान नहीं होता ।। १४ ।।

वृष्ट्यादिहीना न च भाति पृथ्वी ।

पूजादिहीनो न गृही विभाति ।।

परोपकारै रहितो न जीवो ।

दानेन हीनो धनवान भाति ।। १५ ।।

जिस प्रकार बिना जलवृष्टिके पृथ्वीकी शोभा नहीं बढ़ती, बिना पूजा स्वाध्यायके गृहस्थ श्रावक सुशोभित नहीं होता, परोपकारके बिना मनुष्यकी शोभा नहीं होती और बिना दानके धनवानकी शोभा नहीं होती ।। १५ ।।

शान्त्या विहीनो न जपस्तपोपि ।

व्रतोपवासोपि न भाति लोके ।।

सूर्येण हीनं न दिनं विभाति ।

चारित्रहीनो न च भाति साधुः ।। १६ ।।

जिस प्रकार बिना शांतिके इस लोकमें जप तप व्रत और उपवास आदि कुछ शोभा नहीं देते, बिना सूर्यके दिनकी शोभा नहीं होती और बिना सम्यक् चारित्र धारण किये साधुकी शोभा नहीं होती ।। १६ ।।

जातिः कुलं भाति धनेन हीनं ।

न भाति हीनो दयया व्रती च ।।

न भाति जीवः कुलजातिहीनः ।।

सुपुत्रहीनं न गृहं विभाति ।।१७।।

जिस प्रकार बिना धनके जाति और कुलकी शोभा नहीं होती, बिना दयाके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्रतीकी शोभा नहीं होती, बिना श्रेष्ठ कुल और श्रेष्ठ जातिके जीवकी शोभा नहीं होती और बिना सुपुत्रके घरकी शोभा नहीं होती ।।१७।।

श्रेष्ठोपि पुत्रः कुलजातिधर्मा- ।
न्मातुः पितुर्यः प्रतिकूलवर्ती ।।
श्रेष्ठापि भार्या पतिभक्तिहीना ।
न भाति शिष्यो गुरुभक्तिहीनः ।। १८ ।।

जिस प्रकार कुल जाति और धर्मसे श्रेष्ठ होने पर भी माता पिताके प्रतिकूल रहनेवाला पुत्र सुशोभित नहीं होता तथा पतिकी भक्ति न करनेवाली श्रेष्ठ भार्या भी सुशोभित नहीं होती और गुरुकी भक्ति के बिना शिष्यकी शोभा नहीं होती ।। १८ ।।

तथैव लोके जिनधर्महीनो ।
न भाति जीवो न च तस्य बुद्धिः ।।
क्रियाकलापोपि न भाति शौर्यं ।
भक्तिर्न शक्तिर्न नृजन्मरत्नम् ।। १९ ।।

उसी प्रकार इस संसारमें बिना जिनधर्मके न तो इस जीवकी शोभा होती है न उसकी बुद्धिकी शोभा बढ़ती है न उसका क्रियाकांड सुशोभित होता है न उसकी शूर वीरता सुशोभित होती है न उसकी भक्ति सुशोभित होती है, न उसकी शक्ति सुशोभित होती है और बिना जिनधर्मके न उसका मनुष्य जन्मरूपी रत्न सुशोभित होता है ।। १९ ।।

ज्ञात्वेति कुर्वन्त सदैव धर्मं ।
भव्यः प्रमोहं प्रविहाय शीघ्रम् ।।
प्राणेषु कौ सत्सु गतेषु केपि ।
जीवा भवेयुर्न च धर्महीनाः ।। २० ।।

यही समझकर भव्य जीवोंको शीघ्र ही अपना मोह छोड़कर सदाकाल धर्म धारण करते रहना चाहिए । इस संसारमें प्राणोंका नाश होने पर भी जीवको कभी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी धर्मरहित नहीं होना चाहिए ।। २० ।।

कानि धर्मस्य चिन्हानि । लोकेस्मिन् त्रिजद्गुरो ।।

प्रश्न - हे तीनों लोकोंके गुरु ! इस संसारमें धर्मके कौन कौन चिन्ह हैं?

धर्मस्य चिन्हं प्रतिपाद्यते हि ।
क्षमादिवर्ग च तपो जपोपि ।।
व्रतोपवासो यजनं सुदानं ।।
शान्तिः सुशीलं समता दया हि ।। २१ ।।
धर्मो ह्यहिंसा ह्यनृतं ह्यचौर्यं ।
त्यागो ह्यसंगो मिथुनस्य लोके ।।
निजात्मधर्मे स्वपदे स्थिरत्वं ।
ध्यानं प्रभोर्वा स्वरसस्य पानम् ।। २२ ।।

उत्तर - हे शिष्य ! अब मैं धर्मके चिन्होंको कहता हूं, तू सुन । उत्तम क्षमा आदि दशधर्मोंका समूह ही धर्म है, तपश्चरण करना धर्म है, जप करना धर्म है, व्रत उपवास करना धर्म है, देवपूजा करना, दान देना परिणामोंको शांत रखना, शील पालन करना, समता धारण करना, दया पालन करना, अहिंसा पालन करना, सत्यभाषण करना, अचौर्य व्रत धारण करना, परिग्रहोंका त्याग करना और मैथुन वा अब्रह्मचर्यका त्याग करना धर्म है । इसी प्रकार अपने आत्म धर्ममें लीन होना अपने स्वात्मस्वरूपमें स्थिर रहना भगवान् जिनेंद्र देवका ध्यान करना और अपने आत्मरस का सदा पान करते रहना धर्म है । भावार्थ ये सब धर्मके चिन्ह हैं ।। २१ ।। २२ ।।

धर्मात्किं प्राप्यते लोके । परलोकेऽपि किं गुरो ।।

प्रश्न - हे गुरो ! धर्मके प्रभावसे इस लोकमें क्या मिलता है और परलोकमें क्या मिलता है?

धर्मेण बंधुः सुगुरुः पितापि ।
मित्रं सुपुत्रो भगिनी च भार्या ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्यैरलभ्या भुवि सारभूता ।
साम्राज्यलक्ष्मीर्भवति स्वदासी ।। २३ ।।
धर्मप्रसादात्सकलाश्च जीवा: ।
स्वराज्यलक्ष्मीं क्रमतश्च लब्ध्वा ।।
संसारकूपाब्धि तरन्ति शीघ्रं ।
धर्मस्य लोके महिमा ह्यचिन्त्य: ।। २४ ।।

उत्तर - इस संसारमें धर्मके प्रसादसे श्रेष्ठ बंधु प्राप्त होते हैं श्रेष्ठ गुरु प्राप्त होते हैं। पिता, पुत्र, मित्र, भगिनी स्त्री आदि सब कुटुंब वर्ग प्राप्त होता है! जो अन्य जीवों को न मिल सकें ऐसे इस संसारके सारभूत समस्त पदार्थ प्राप्त होते हैं और धर्मके ही प्रसादसे यह साम्राज्य लक्ष्मी अपनी दासी हो जाती है । इस धर्मके ही प्रसादसे समस्त जीव अनुक्रमसे स्वराज्य लक्ष्मी का अनुभव करते हुए इस संसार सागरसे बहुत शीघ्र पार हो जाते हैं । अतएव कहना चाहिए कि इस संसार में धर्म की महिमा अचिंतनीय है ।। २३ ।। २४ ।।

दु:खहर्ता च को लोके । के वा सन्ति न भो गुरो ।।

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें दु:ख हरण करनेवाला कौन है और कौन नहीं है?

पिता न माता भगिनी न भार्या ।
पुत्रो न मित्रं न च कोपि बंधु: ।।
स्वामी न भृत्यो न च कापि देवी ।
देवो न दैत्यो न च कोपि वैद्य: ।। २५ ।।
राजा न राज्यं न च कामधेनु- ।
श्चिन्तामणिर्वा न च कल्पवृक्ष: ।
मंत्री न मंत्रो हि विहाय धर्मं ।
दु:खस्य हर्ता सुखशांतिदाता ।। २६ ।।

उत्तर - इस संसारमे पिता, माता, भगिनी, स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, स्वामी,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेवक, देव, देवी, दैत्य, वैद्य, राजा, राज्य, कामधेनु, चिंतामणि, कल्पवृक्ष मंत्र और मंत्री आदि कोई भी दु:खोंको दूर नहीं कर सकता एक धर्म ही दु:खोंको दूर करने वाला है। धर्मक्रे सिवाय दु:खोंको दूर करनेवाला और सुख शान्ति देनेवाला अन्य कोई नहीं है ॥ २५ ॥ २६ ॥

को वा मनोज्ञो गुणवान् । सर्वशोभां विभर्ति य: ॥

प्रश्न - ऐसा कौन है जो मनोज्ञ हो, गुणवान हो और सब तरहकी शोभाको धारण करता हो?

स ना मनोज्ञ: स विभु: स वीर: ।
श्रीमान् स दानी बलवान् स धीर: ॥
ज्ञानी स योग्यो विमल: स राजा ।
भक्त्या सदा यश्च करोति धर्मम् ॥ २७ ॥

उत्तर - जो पुरुष भक्ति पूर्वक सदा धर्मको धारण करता है वही पुरुष इस संसारमें मनोज्ञ कहलाता है, वही स्वामी कहलाता है, वही वीर और श्रीमान् कहलाता है वही दानी और बलवान् कहलाता है, वही धीर वीर कहलाता है, वही ज्ञानी कहलाता है वही योग्य कहलाता है वही निर्मल कहलाता है और वही राजा वा सबका स्वामी कहलाता है ॥ २७ ॥

ज्ञानहीना नरा लोके । शोभन्ते वा न वा कचित् ॥

प्रश्न - हे गुरो ! क्या ज्ञानहीन मनुष्य कहीं शोभा देते हैं वा नहीं?

वस्त्रादिमाल्यै: परमै: सुलिंगै: ।
सुसंस्कृतानां च नृणां मनीनाम् ॥
सुज्ञानहीनं न च भाति रूपं ।
वचोपि तेषां न वपुर्न जन्म ॥ २८ ॥

उत्तर - जो मनुष्य वस्त्राभूषण वा माला आदिसे सुशोभित हैं अथवा जो मुनिश्रेष्ठ जिनलिंगसे सुशोभित हैं ऐसे मुनि वा मनुष्योंका स्वरूप सम्यग्ज्ञानके बिना कभी शोभा नहीं देता। इतना ही नहीं कितु सम्यग्ज्ञानके बिना न तो उनके वचन शोभा देते हैं न उनका शरीर शोभा देता है और न उनका जन्म सुशोभित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है ॥ २८ ॥

- **सम्यग्दर्शनमाह्यत्म्यं । कृपा कृत्वा गुरो वद ॥**

प्रश्न - हे गुरो ! कृपा करके सम्यग्दर्शनको माहात्म्य तो कहिए ।

सद्दृष्टिमाता ह्यदि यस्य नित्यं ।
स्यात्तस्य सिंहोपि मृगो हि शीघ्रम् ॥
गजोप्यजो भीमफणी च माला ।
वन्हिश्च तोचं रिपवः सखायः ॥ २९ ॥
जलं स्थलं ह्येव विपत्सुसंप- ।
च्चौराः सुदासाश्च विषं सुधैव ॥
जरारुजादिः खलकंटकादि- ।
दुंष्टग्रहादिः सुखसाधकाः स्युः ॥ ३० ॥

उत्तर - जिस मनुष्यके ह्रदयमें सम्यग्दर्शन रूपी माता सदा विराजमान है उसके लिए सिंह भी शीघ्र हिरण हो जाता है, हाथी बकरा हो जाता है, भयानक सर्प माला बन जाता है, अग्नि जलरूप हो जाती है, शत्रु मित्र हो जाते है, जल स्थल हो जाता है, समस्त विपत्तियां संपत्ति के रूपमें बदल जाती है, चोर दास हो जाते हैं, विष अमृत हो जाता है और बुढ़ापा रोग, दुष्ट, कंटक, दुष्ट ग्रह आदि दुःखके कारण सब सुखके साधन बन जाते हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

अचिन्त्यसौख्यस्य वरं निधानं,
पोतं वरं तारयितुं भवाव्धेः ।
साम्राज्यबीजं स्वसुखस्य सारं,
भेत्तुं समर्थ च चतुर्गतिं च ॥ ३१ ॥
मिथ्यात्वतापं शमितुं जलं हि,
दातुं समर्थ सुखशान्तिराज्यम् ।
सम्यक्त्वरत्नं सकलाश्च जीवा !
गृह्णन्तु शीघ्रं निजराज्यहेतोः ॥ ३२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्न अचिन्त्य सुखोंका श्रेष्ठ खजाना है, संसाररूपी समुद्रको पार कर देनेके लिये उत्तम जहाज है, तीनों लोकोकें राज्यका बीज है, आत्मसुखका सार है, चारों गतियों को नाश करनेके लिये समर्थ है, मिथ्यात्वरूपी संतापको शांत करनेके लिये जल है, और सुख शांति के राज्यको देनेमें समर्थ है। ऐसा यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्न समस्त जीवोंको अपने शुद्ध आत्मा का राज्य प्राप्त करनेके लिये शीघ्र ही स्वीकार करना चाहिये, ग्रहण करना चाहिये ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

पिता न माता भगिनी न भार्या,
बंधुर्न पुत्रो न च मित्रवर्गः ।
न कोऽपि लोकेऽस्ति कुटुंबवर्गः,
श्रेष्ठोऽपि नाको न च भोगभूमिः ॥ ३३ ॥
न कामधेनुर्न च कल्पवृक्ष-
श्चिन्तामणिर्वा न च तंत्रमंत्रः ।
सम्यक्त्वरत्नं प्रविहाय कोऽपि,
मोक्षप्रदाता भवजन्महर्ता ॥ ३४ ॥

इस संसारमें एक सम्यग्दर्शनरूपी रत्न ही मोक्ष देनेवाला है और यही संसारके जन्म-मरणोंको हरण करनेवाला है। इस सम्यग्दर्शनरूपी रत्नके सिवाय माता, पिता, भगिनी, स्त्री, भाई, पुत्र, मित्रवर्ग, कुटुंबवर्ग, स्वर्ग, भोगभूमि, कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिंतामणी और तंत्रमंत्र आदि कोई भी न श्रेष्ठ हैं न मोक्ष देनेवाले हैं और न संसारके जन्मरमरणके हरण करनेवाले हैं। एक सम्यग्दर्शनरूपी रत्न ही श्रेष्ठ है, मोक्ष देनेवाला है और जन्ममरण को हरण करनेवाला है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

सम्यग्दर्शनचिन्हानि साम्प्रतं वद भो गुरो ।

प्रश्न - हे गुरो ! अब सम्यग्दर्शनके कौन कौन चिन्ह हैं? उन्हें बतलाइये।

सम्यक्त्वचिन्हं प्रतिपाद्यते हि,
श्रद्धा च भक्तिर्गुरुदेवशास्त्रे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसारभोगाद्धि विरक्तबुद्धिः,
सर्वेषु जीवेषु दयार्द्रभावः ॥ ३५ ॥
चिन्हेन बुदध्वा खलु सर्ववस्तु,
परे विरक्तिश्च निजे रतिश्च ।
स्वात्मानुभूतेः स्वरसस्य पानं,
सदा प्रयत्नो निजराज्यहेतोः ॥ ३६ ॥
आत्मात्मना चात्मनि चात्मने वा-,
त्मनो हि चात्मानमपि प्रयत्नात् ।
विलोकनं चिन्तनबोधनं च,
पंचेद्रियादेः प्रविहाय मार्गम् ॥ ३७ ॥

उत्तर - हे वत्स! सुन, अब मैं सम्यग्दर्शनके चिन्ह कहता हूं। देव, शास्त्र, गुरुमें श्रद्धा और भक्ति रखना, संसार और भोगोंसे विरक्त रहना, समस्त जीवोंकी दया पालन करना, समस्त पदार्थोंको अपने अपने लक्षणोंसे अच्छी तरह समझकर परपदार्थोंका त्याग कर देना वा परपदार्थोंसे विरक्त रहना और अपने आत्मतत्त्वमें लीन रहना, अपनी आत्मानुभूतिका और अपने आत्मानंदका सदा पान करते रहना, तथा अपने आत्माका स्वराज्य प्राप्त करनेके लिए अर्थात् स्वतंत्र सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहना ये सम्यग्दर्शनके चिन्ह हैं। अथवा पांचों इन्द्रियोंके द्वारा और मनके द्वारा जो ज्ञान, दर्शन होता है उस ज्ञान दर्शनके मार्गको हटाकर केवल अपने आत्मा के दर्शन ज्ञानके लिये अपने ही आत्मामें अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्माको जानना, देखना वा अपने आत्माका ज्ञान दर्शन संपादन करना, प्रयत्न पूर्वक उसीका चिंतन करना निश्चय सम्यग्दर्शन चिन्ह है। इसप्रकार ये सम्यग्दर्शनके चिन्ह हैं ॥ ३५ - ३७ ॥

मिथ्यादृशश्च सद्दृष्टाः कथं कालं नयन्ति भोः

प्रश्न - हे स्वामिन् ! सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी अपने समयको किस प्रकार बिताते है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सद्दृष्टीजीवा गमयन्ति कालं,
वैराग्यबुद्ध्या निजचिन्तनेन ।
मिथ्यात्वमूढाः कलहैरुपेतैः,
भोगोपभोगौर्विविधप्रकारैः ।। ३८ ।।

उत्तर - सम्यगदृष्टी जीव अपने हृदयमें वैराग्य धारण कर तथा अपने आत्माका चिंतन कर अपना समय व्यतीत करते हैं तथा अज्ञानी-मिथ्यादृष्टी जीव कलह करके अथवा प्राप्त हुए अनेक प्रकारके भोगोपभोगोंको सेवन करके अपना समय व्यतीत करते हैं ।। ३८ ।।

हिंसकेन जनेनाहो पापं किं समुपार्ज्यते ।

प्रश्न - हे गुरो ! हिंसा करनेवाला मनुष्य क्या क्या पाप उत्पन्न करता है?

जीवस्य सर्वेषु धनेषु मुख्यं,
अस्ति प्रियं प्राणधनं सदैव ।
अतो यतन्ते पशवो जनाश्च,
जानीह्यसूनां परिपालनार्थम् ।। ३९ ।।
प्राणेषु तस्यापहृतेषु सत्सु,
सर्व धनं वापहृतं भवेद्धि ।
वा सर्वपापं स्वयमेव तेन,
घोरातिघोरं च कृतं भवेद्धि ।। ४० ।।
मोक्षार्थभव्यैरवगम्य चैवं,
प्रमादयोगादिह जीवलोके ।
कस्यापि जीवस्य न हिंसनीया,
प्राणाः स्वजीवेषु गतेषु सत्सु ।। ४१ ।।

उत्तर - इस संसारी जीवोंके जितने प्रकारके धन है उनमें प्राणधन ही मुख्य और प्रिय है । इसीलिये समस्त पशु और मनुष्य अपने अपने प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये ही प्रयत्न करते रहते हैं ऐसा समझो । अतएव कहना चाहिये कि यदि किसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवका प्राणहरण किया जाता है तो समझना चाहिये कि उसका समस्त धनहरण करलिया जाता है अथवा समझना चाहिये कि जो दूसरोंका प्राणहरण करता है वह स्वयं सब तरहके घोरातिघोर महापाप उत्पन्न करता है । यही समझकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य-जीवोंको इस संसारमें अपने प्रमादजन्ययोगों से किसी भी जीवके प्राणोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये । चाहे अपने प्राणोंका नाश हो जाय तो भी किसी भी जीवको किसी भी जीवके प्राणों की हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥ ३९ - ४१ ॥

अहिंसा कीदृशी देव! फलं तस्याः किमद्भुतम् ।

प्रश्न - हे देव ! यह अहिंसा कैसी है और इसका क्या विचित्र फल है?

अज्ञानहर्त्री वरभारतीव,
मातेव या पालनपोषणेपि ।
वा सौख्यदा कामगवीव लोके,
ज्ञात्वेत्यहिंसैव च मोक्षदात्री ॥ ४२ ॥
प्रमादयोगान्न कदापि हिंसां,
कुर्वन्ति केषामपि ये सुभव्याः ।
वाक्कायचित्तैः सुदयार्द्रबुद्ध्या,
पूतां ह्यहिंसां परिपालयन्ति ॥ ४३ ॥
दीर्घं वरायुः परमां सुबुद्धिं,
श्रेष्ठं प्रभुत्वं परमं हि रूपम् ।
श्रेष्ठां विभूतिं वरदिव्यदेहं,
धर्मानुकूलं च कुटम्बवर्गम् ॥ ४४ ॥
षट्खण्डराज्यं सुमनोहरं तें,
क्रमेण लब्ध्वानुपमं हि वस्तु ।
अन्यैरलभ्यं विचलं स्वराज्य-
मत्यन्तमिष्टं स्वसुखं लभन्ते ॥ ४५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - यह अहिंसा श्रेष्ठ सरस्वतीके समान अज्ञानको दूर करनेवाली है, माताके समान इस पृथ्वीपर पालन पोषण करनेवाली है, कामधेनु के समान सुख देनेवाली है और अंतमें मोक्ष देनेवाली है । यही समझकर जो भव्यजीव मन, वचन, कायसे समस्त जीवोंपर दया धारण कर प्रमादके निमित्तसे कभी किसी जीवकी हिंसा नहीं करते हैं और अत्यंत पवित्र अहिंसा धर्मका पालन करते हैं उनको दीर्घ आयु प्राप्त होती है, सर्वोत्कृष्ट सुबुद्धि प्राप्त होती है, सर्वश्रेष्ठ बड़प्पन प्राप्त होता है, सर्वोत्कृष्ट सुंदर रूप प्राप्त होता है, श्रेष्ठ विभूति प्राप्त होती है, श्रेष्ठ दिव्य शरीर प्राप्त होता है, धर्मानुकूल कुटुंबवर्ग प्राप्त होता है, छहों खंडका मनोहर राज्य प्राप्त होता है, अनुक्रमसे समस्त अनुपम पदार्थ प्राप्त होते है । जो अन्य किसीको प्राप्त न हो सके और अनंत कालतक सदा निश्चल बना रहे ऐसा आत्माका मोक्षरूप स्वराज्य प्राप्त होता है और अत्यंत इष्ट ऐसा शुद्ध आत्मजन्य अनंत सुख प्राप्त होता है । यह सब अहिंसा धर्मका ही फल समझना चाहिये ।। ४२ - ४५ ।।

पिता पुत्रादयः सर्वे स्वकीयाः सन्ति वा न वा?

प्रश्न - पिता पुत्रादिक कुटुंबी लोग अपने हैं वा नहीं ?

पितापि माता भगिनी सुभार्या,
पुत्रोऽपि मित्र सकलोऽपि बंधुः ।
दासी च दासः सकलापि संपत्,
अश्वो गजः सर्वनाऽपि चान्यः ।। ४६ ।।

वस्त्रं सुमाल्यं च विभूषणं यत्,
किंचित्प्रियं वस्तु तदेव सर्वम् ।।
स्यात्स्वात्मनोऽन्यं सकलं च राज्यं,
न याति केनापि समं ह्यमुत्र ।। ४७ ।।

उत्तर - पिता, माता, भगिनी, स्त्री, पुत्र, मित्र, समस्त बंधुवर्ग, दासी, दास, सब तरहकी संपत्ति, हाथी, घोड़े, कुटुंबपरिवारके लोग, अन्य पड़ोसी लोग, वस्त्र, आभूषण, मालाएं, वा संसारमें अन्य भी जो कुछ प्रिय और इष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदार्थ हैं वे सब इस आत्मासे भिन्न है, यह तीनों लोकोंका राज्य भी आत्मासे भिन्न है, क्यों कि इन पदार्थोंमेसे कोई भी पदार्थ परलोकमें साथ नहीं जाता है। सब यहांके यहां ही पड़े रहते हैं। अतएव ये सब पदार्थ आत्माके नहीं है ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

स्वकीया बांधवा: के भो परलोकानुगामिन: ।

प्रश्न - फिर इस संसारमें ऐसे अपने बंधु कौन है जो परलोकमें भी साथ जाते है?

संसारहर्त्री धृतिरेव माता,
ज्ञाने पिता शांतिसुखादिदाता ।
स्वात्मानुभूतिर्विमला स्वभार्या,
धर्मोऽस्ति बंधु: सततानुगामी ॥ ४८ ॥
क्षमा स्वदासी च शम: स्वदास:,
पुत्रो विवेकश्च दया स्वसा हि ।
सखा सधर्मी मृदुता सखीति,
स्वबंधवोऽमी परलोकसाथी: ॥ ४९ ॥
स्वात्मानुभूतिर्विमलास्ति सम्पत्,
निजात्मवासोऽस्ति गृहं पवित्रम् ।
स्वीये पदे वै शयनं सदैव,
भक्ष्यं सुतोष: स्वरसश्च पानम् ॥ ५० ॥

उत्तर - वास्तवमें देखा जाय तो संसारको नाश करनेवाली धृति वा धैर्य ही जीवोंकी माता है, शांति सुख आदिको देनेवाला ज्ञान पिता है, निर्मल स्वात्मानुभूति ही इस जीवकी स्त्री है, इस लोक परलोक दोनों लोकोंमें सदा साथ रहनेवाला धर्म ही बंधु है, उत्तम क्षमा ही दासी है, शम ही दास है, विवेक पुत्र है, दया बहिन है, साधर्मीजन मित्र हैं, और कोमलता ही सखी है। ये सब कुटुंब-वर्गके लोग हैं, और परलोकमें भी ये सब साथ जाते हैं। अपने आत्मा की निर्मल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुभूति ही संपदा है, अपने आत्मामें निवास करना ही पवित्र घर है, अपने आत्मपदमें लीन होना ही पवित्र शय्या है, संतोष ही सर्वोत्तम खाद्य पदार्थ है और अपने आत्माका आनंदामृत रस ही पीने योग्य पदार्थ है। ये सब परलोकमें साथ जानेवाले पदार्थ हैं ॥ ४८ - ५०॥

कीदृशैः क्रियते लोकैर्ध्यानाध्ययनमुत्तमम् ।

प्रश्न - हे देव ! कैसे मनुष्य उत्तम ध्यान और अध्ययन को कर सकते हैं?

आशापिशाचः प्रबलोऽपि मोहो,
दग्धश्च यैः क्रोधचतुष्टयं च ।
तैः सर्वशास्त्रं पठितं श्रुतं वा,
ध्यानं कृतं श्रेष्ठतपो जपोऽपि ॥ ५१ ॥
व्रतोपवासोऽपि परोपकारो,
धर्मोपदेशोपि कृतश्च धर्मः ।
तत्त्वप्रचारः स्वहितः कृतश्चा-,
चारो वरश्याचरितः सदैव ॥ ५२ ॥
पूजा प्रतिष्ठा च दया क्षमापि,
कृतैव यात्रा गुरुदेवसेवा ।
दत्तं सुदानं च कृतं सुपुण्यं,
ज्ञातव्यमेवं न च शंकनीयम् ॥ ५३ ॥

उत्तर - जिन पुरुषोंने आशारूपी पिशाचको नष्ट कर दिया है, अत्यंत तीव्र मोह को जला दिया है और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंको नष्ट करदिया है, समझलेना चाहिये कि उन्हीं लोगोंने समस्त शास्त्रोंको पढ़ लिया है, समस्त शास्त्रोंको सुन लिया है, उन्होंने उत्तम ध्यान धारण कर लिया है, उन्हींने, जप तप कर लिया है, व्रत उपवास कर लिया है, परोपकार कर लिया है, धर्मोपदेश दे लिया है, धर्म धारण कर लिया है, उन्हींने तत्त्वोंका प्रचार कर लिया है, आत्माका हित कर लिया है, श्रेष्ठ चारित्रको धारण कर लिया है, पूजा प्रतिष्ठा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करली है, दया पालन करली है, क्षमा धारण करली है, तीर्थयात्रा करली है, देवसेवा तथा गुरुसेवा करली है, उत्तम दान दे लिया है और उत्तम पुण्य संपादन कर लिया है ऐसा समझ लेना चाहिये इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है। न कभी इसमें शंका करनी चाहिये ।। ५१ - ५३ ।।

को वा जीवति लोकेऽस्मिन, को वा जीवन्मृतो गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें कौन तो जीता और कौन तो ऐसा है जीता हुआ भी मरेके समान है?

क्षमादिधर्मे स्वपरोपकारे,
दक्षा: सदा स्वत्माविचारणे ये।
कर्तुं यतन्ते स्वरसस्य पाने,
नित्यं स्वराज्यं स्वगृहं च गंतुम् ।। ५४ ।।
सदैव जीवन्ति त एव जीवा:,
स्वत्मानुभूत्यां स्वपदे हि लिना:,
पूर्वोत्कभावै: रहिताश्च जीवा:,
सन्त्येव लोकेऽत्र शवस्य तुल्या: ।। ५५ ।।

उत्तर - जो महापुरुष उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंको धारण करनेमें चतुर हैं, जो अपने आत्माका कल्याण और अन्य जीवोंका कल्याण करनेमें चतुर हैं, जो अपने आत्माके स्वरूपका विचार करनेमें सदा लीन रहते हैं, जो अपने आत्माके आनंदामृत रसका पान करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं, जो मोक्षरूप अपने स्वराज्यमें जानेके लिये तथा अत्यंत शुद्ध अवस्थारूप अपने घर जानेके लिये जो सदा प्रयत्न करते रहते हैं , इसी प्रकार जो अपने आत्माकी स्वानुभूतिमें सदा लीन रहते हैं और सिद्ध सदृश अपने आत्माकी शुद्ध अवस्थामें सदा लीन रहते हैं वे ही जीव इस लोकमें सदा काल जीवित बने रहते हैं। तथा जो जीव कभी धर्म धारण नहीं करते, आत्मचिंतन नहीं करते और शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं करते वे जीव जीवित रहते हुए भी मरे हुए मुरदेके समान समझे जाते हैं।। ५४ ।। ५५ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोहदुष्टाः पिशाचाश्च कं जनं न तुदन्त्यहो ।

प्रश्न - हे प्रभो ! मोह दुष्ट पिशाच आदि किस मनुष्यको दु:ख पहुंचाते हैं?

सन्तोषसम्पद् ह्यदि यस्य चास्ति,
किं तस्य तीव्रापि करोति चापत् ।
यथार्थबुद्धिर्हृदि यस्य चास्ति,
किं तस्य मोहोपि करोति तीव्रः ।। ५६ ।।
यस्यास्ति चित्ते जिनधर्ममंत्रः,
किं तस्य कुर्याद्धि पिशाचवर्गः ।
क्षमादिधर्मो हृदि यस्य चास्ति,
किं तस्य कुर्यात्प्रवलोऽपि दुष्टः ।। ५७ ।।

उत्तर - जिसके हृदयमें संतोषरूपी संपदा विद्यमान है, उस मनुष्यको तीव्र आपत्ति भी कुछ नहीं कर सकती । जिसके हृदयमें आत्मज्ञानरूप यथार्थबुद्धि विद्यमान है उस को तीव्र मोह भी कुछ हानि नहीं पहुंचा सकता । जिसके हृदयमें जिनधर्मरूपी मंत्र विद्यमान है उसको कितने ही पिशाचोंका समूह दु:ख नहीं दे सकता और जिसके हृदय में उत्तमक्षमा आदि दशधर्म विद्यमान हैं उसको सामर्थ्यवान् दुष्ट लोग भी कुछ दु:ख नहीं दे सकते ।। ५६ ।। ५७ ।।

मोहक्रोधादयो लोके कीदृशाःसन्ति भो गुरो ।

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें मोह, क्रोध आदि कैसे गिने जाते है?

बंधो न मोहादपरोस्ति कोपि,
शत्रुर्न कोपादिह तस्य कर्ता ।
पापं न लोभादपरं पृथिव्याम्.
मानात्परो नास्ति सुदु:खदाता ।। ५८ ।।
यस्यास्ति माया भवदु:खदात्री,
तस्यास्ति दुष्टः सततं विचारः ।
यस्यास्ति चित्ते भवदु:खभितिः,
तस्यास्ति नित्यं निजतत्त्वचिंता ।। ५९ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - इस संसारमें मोहके सिवाय और कोई बंध नहीं है। मोहसे ही सब बंध होते हैं। इसी प्रकार क्रोधके सिवाय अन्य कोई अहित करनेवाला शत्रु नहीं है, लोभके सिवाय अन्य कोई पाप नहीं है और मानके सिवाय अन्य कोई गहरे दु:ख देनेवाला नहीं है। इसी प्रकार जिसके हृदयमें संसारभरको दु:खदेनेवाली अथवा अनंत संसाररूप प्ररिभ्रमणमें दु:ख देनेवाली मायाचारी विद्यमान है उसके विचार सदा दुष्ट और पापमय ही होते हैं। तथा जिसके हृदयमें संसारके दु:खोंसे भय विद्यमान हैं उसके हृदयमें सदाकाल आत्मतत्त्वका चिंतन बना रहता है ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

स्वर्गमोक्षसुखं जीवैः कैन मूल्येन लभ्यते !

प्रश्न - हे गुरो ! इस जीवोंको स्वर्ग मोक्षका सुख किस मूल्यसे मिल सकता है?

निजात्मबुद्धिर्निजराज्यमूल्यं,
परात्मबुद्धिर्भवदु:खबीजम् ।
निजात्मसेवैव सुखस्य दात्री,
स्वर्मोक्षदात्री गुरुदेवसेवा ॥ ६० ॥

उत्तर - अपने आत्माका ज्ञान उत्पन्न होजाना आत्माके स्वराज्यका मूल्य समझना चाहिये अर्थात् आत्माज्ञानसे ही आत्मासिद्धि होती है। इसके विपरीत परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि करना संसारके दु:खोंका कारण है। इसीप्रकार अपने आत्माकी सेवा सुख देनेवाली है और भगवान अरहंत देवकी सेवा तथा निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा स्वर्ग मोक्ष देनेवाली हैं ॥ ६० ॥

स्ववोधरहितो जीवः कमनथ करोति भो ।

प्रश्न - हे गुरो ! जो जीव आत्मज्ञानसे रहित है वह क्या क्या अनर्थ उत्पन्न करता है?

भूंक्ते हि दु:खं च सुखस्य हेतो-
र्लाभस्य हेतोर्हि करोति हानिम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कीर्तेश्च हेतोस्सुकरोत्यकीर्तिं,
कार्यस्य हेतोश्च करोत्यकार्यम् ॥ ६१ ॥
शुभस्य हेतोरशुभं करोति,
विधेश्च हेतोरविधिं तनोति ।
बोधस्य हेतोश्च करोत्यबोधं,
शान्तेश्च हेतोर्वितनोत्यशान्तिम् ॥ ६२ ॥
स्वर्गस्य हेतोर्नरकं प्रयाति,
स्वबोधशून्यो जिनधर्मबाह्यः ।
एवंविधं कौ विपरीतकार्यं,
ह्यज्ञानतो मूढजनः करोति ॥ ६३ ॥

उत्तर - जो ज़ीव आत्माज्ञानसे रहित है, जिनधर्मसे बाह्य है, वह सुखके कारणोंको इकट्ठा करना चाहता है परंतु उन कारणोंसे सुखके बदले दुःख ही भोगता है । लाभके लिए प्रयत्न करता है परंतु उससे भी हानि उठाता है । अपनी कीर्तिको फैलाना चाहता है परंतु उन्हीं कार्योंसे उसकी अपकीर्ति होती है । वह किसी कार्यके लिये प्रयत्न करता है परंतु उससे भी उसका अकार्य ही होता है । वह अपना कल्याण करना चाहता है परंतु वह अपना अकल्याण ही कर लेता है । जिस किसी विधिको करना चाहता है परंतु वह उससे विपरीत विधिको कर डालता है । वह ज्ञानके लिये प्रयत्न करता है परंतु उसका अज्ञान वा मिथ्याज्ञान बढ़ जाता है । वह शांतिको चाहता है परंतु उसकी अशांति और बढ़ जाती है। स्वर्ग जानेके साधन इकट्ठा करना चाहता है परंतु उन्हीं कारणोंसे वह नरक पहुंच जाता है । इस प्रकार आत्मज्ञानसे रहित और जिनधर्मरहित मूढ़ जीव अपने अज्ञानसे विपरीत कार्यही करता रहता है ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

दानभोगेषु नायाति तद्धनं कुत्र गच्छति ?

प्रश्न - हे गुरो ! जो धन दान देने और भोगोपभोगोंमें काम नहीं आता वह धन कहां चला जाता है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धनं च यो नात्ति ददाति नैव,
धर्माय देवाय न बंधवेऽपि ।
मात्रेऽपि पित्रे गुरवेऽपि नैव,
मन्ये ततोऽहं धनरक्षकं तम् ।। ६४ ।।
तद्वा धनं तस्य हरन्ति चौरा,
नयन्ति भूपा अनला दहन्ति ।
यत्रास्ति वा नश्यति तत्र शीघ्रं,
ज्ञात्वेति देयं चतुरेण वाद्यम् ।। ६५ ।।

उत्तर - जो मनुष्य अपने धनको न खाता पीता है, न किसी धर्ममें देता है, न किसी देवकार्य में करता है, और न माता, पिता, गुरु, भाई आदि किसीको देता है उस मनुष्यको हम तो उस धनका रक्षक ही समझते हैं । अंतमें उस धनको चोर हरणकर लेजाते हैं, राजा हरणकर लेता है, अग्नि जला देती है अथवा जहां गड़ा रहता है वही नष्ट होजाता है । यही समझकर चतुर पुरुषोंको अपना धन दानमें दे डालना चाहिये अथवा खाने पीनेमें खर्च कर देना चाहिये ।। ६४ ।। ६५ ।।

प्रयासः स्वात्मतृप्तस्य सार्थकोऽन्यो भवेन्न वा ?

प्रश्न - हे देव ! जो मनुष्य अपने आत्मतत्त्वमें तृप्त हो रहा है उसके अन्य प्रयास सार्थक होते हैं वा नहीं ?

यः केऽपि जीवः स्वरसेन तृप्तो,
निजात्मनिष्टो जिनधर्मतुष्टो ।
सत्यार्थजुष्टः परमार्थपुष्टो,
वृथैव तस्यास्त्यपरः प्रयासः ।। ६६ ।।

उत्तर - हे वत्स! सुन, जो जीव अपने आत्मरससे अत्यंत तृप्त हो रहा है, जो अपने आत्मामें लीन हो रहा है, जिनधर्मसे संतुष्ट हो रहा है, सत्यार्थ भाषण करता है और जो परमार्थसे पुष्ट है ऐसे जीवके अन्य सब प्रयास व्यर्थ समझने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिये ॥ ६६ ॥

कीदृग्वेषो व्रतं विद्वान् भाति लोके न तत्त्वत: ?

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें कैसा वेष, कैसे व्रत और कैसा विद्वान् वास्तवमें शोभा नहीं देता ?

वैराग्यबोधै रहितो हि वेषो,
लोके व्रतं वा दयया विहीनम् ।
न भाति शास्त्री स्वविचारशून्य:,
सन्तोषशीलेन बिना न विद्वान् ॥ ६७ ॥

उत्तर - जो साधुका भेष वैराग्य और सम्यग्ज्ञानसे रहित है, वह कभी शोभा नहीं देता । जो व्रत दया रहित है, वे भी कभी शोभा नहीं देते । जो शास्त्री आत्मविचारसे रहित है वह भी कभी शोभा नहीं देता तथा जो विद्वान् संतोष और शील धारण नहीं करता वह भी कभी शोभा नहीं देता ॥ ६७ ॥

स्वात्मतुष्टैर्विरक्तैश्च का सम्पते प्राप्यते गुरो ?

प्रश्न - हे गुरो ! जो जीव विषयभोगोंसे विरक्त हैं और अपने आत्मामे संतुष्ट हैं उनको कौन कौनसी संपत्तियां प्राप्त होती ?

य: कोपि जीवो विषयाद्विरक्त:,
सदैव दक्ष: स्वपरोपकार्ये ।
लीनोऽस्ति चानन्दरसे सुमिष्टे,
स्वात्मप्रदेशेऽविचले विशुद्धे ॥ ६८ ॥
तस्यास्ति साम्राज्यनिधि: समीप:,
पत्नीव च स्यान्निजराज्यलक्ष्मी: ।
भवन्ति शीघ्रं रिपव: सखायो,
लोके परेषां हि कथैव कास्ति ॥ ६९ ॥

उत्तर - जो जीव विषयोंसे विरक्त हैं, अपने आत्माका कल्याण करने और अन्य जीवोंका कल्याण करनेमें निपुण हैं और जो अत्यंत मिष्ट ऐसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आनन्दामृतरसमें लीन हैं अथवा अत्यंत विशुद्ध और निश्चल अपने आत्मप्रदेशोंमें लीन हैं उनके लिये साम्राज्यनिधि समीप ही समझनी चाहिये, तथा शुद्ध आत्मस्वरूप राज्यलक्ष्मी उसकी पत्नीके समान साथ रहती है और उसके समस्त शत्रु भी शीघ्र ही मित्र हो जाते हैं। फिर भला इस संसारमें औरोंकी तो बात ही क्या है ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

परलोके किमायाति सार्द्धं जीवेन किं न वा ॥

प्रश्न - हे गुरो ! इस जीवके साथ परलोकमें क्या जाता है और क्या नहीं जाता?

कुटुम्बिनः प्रेतवनस्य चान्तं,
देहोऽपि भस्मीभवति स्वभावात् ।
सम्पूर्णराज्यं च गजाश्वहर्म्य-
मुपार्जितं तिष्ठति यत्र तत्र ॥ ७० ॥
न याति सार्द्धं किमपि त्वयैव,
किंचित्कदाचिद्यदि याति किंवा ।
त्वया समं याति च पुण्यपापं,
ज्ञात्वेति शीघ्रं कुरु पुण्यकार्यम् ॥ ७१ ॥

उत्तर - हे जीव ! देख ये तेरे कुटुम्बी लोग श्मशान भूमितक तेरे साथ जाते हैं, यह तेरा शरीर स्वभावसे ही भस्म हो जाता है और यह समस्त राज्य, हाथी, घोड़े, राजभवन आदि जो कुछ तूने लिये हैं वा बनवाये हैं वे सब जहांके तहां पड़े रह जाते हैं, इनमें कोई भी पदार्थ कभी किसी समयमें भी तेरे साथ जानेवाला नहीं है। यदि तेरे साथ कोई ज़ानेवाला है तो वह पुण्य और पाप है। यही समझकर तुझे शीघ्रताके साथ पुण्यकार्य ही करते रहना चाहिये ॥ ७० ॥ ७१ ॥

गुणी गृह्णाति किं लोके दोषी किं वा जगद्गुरो !

प्रश्न - हे जगद्गुरो ! इस संसारमें गुणी पुरुष क्या ग्रहण करता है और दोषी पुरुष क्या ग्रहण करता है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षीरस्य पानं न करोति वत्सः,
यावद्धि भृंगो न सुगंधपानम् ।
करोति साधुः स्वरसस्य पानं,
यावन्न धर्मी गुरुदेवपूजाम् ।। ७२ ।।
यावन्न गृह्णाति गुणी गुणान् हि,
तावन्न शान्ति न सुखं तथैव ।
दोषी च दोषं हि तथा जलौका,
रक्तं न यावद्धि मलं वराहः ।। ७३ ।।

उत्तर - जबतक बच्चा दूध नहीं पीलेता तबतक उसे सुख शांति नहीं मिलती । भौंरा जबतक फूलोंका सुगंध पान नहीं कर लेता तबतक उसको सुख शांति नहीं मिलती । साधु पुरुष जबतक अपने आत्मजन्य आनन्दामृतरसका पान नहीं करलेते तबतक उनको सुख शांति नहीं मिलती । धर्मात्मा पुरुष जबतक देवपूजा, गुरुपूजा नहीं करलेतां तबतक उसको सुख शांति नहीं मिलती । उसी प्रकार गुणी पुरुष जबतक गुणोंको ग्रहण नहीं कर लेता तबतक उसे सुख शांति कभी नहीं मिलती । इसी प्रकार जोंक जबतक रक्त पान नहीं करलेती तबतक उसे सुख शांति नहीं मिलती । सूअर जबतक मल भक्षण नहीं कर लेता तबतक उसे सुख शांति नहीं मिलती उसी प्रकार दोषी पुरुष जबतक दोषोंको ग्रहण नहीं कर लेता तबतक उसे सुख शांति कभी नहीं मिलती ।। ७२ ।। ७३ ।।

हिंसाऽहिंसा गुरो ! कास्ति संक्षेपेण वदाद्य भोः !

प्रश्न - हे गुरो ! हिंसा क्या है और अहिंसा क्या है संक्षेपसे आज दोनोंका स्वरूप बतलाइये ?

संसारहंत्री निजबुद्धिरेवा-
हिंसास्ति, हिंसा परबुद्धिरेव ।
श्री कुंथुनाम्ना मुनिनेव वर्ज्या,
मोक्षाय निंद्या परबुद्धिरेव ।। ७४ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - संसारको हरण करनेवाली जो आत्मबुद्धि है, आत्माके स्वरूपको ग्रहण करनेवाली जो बुद्धि है उसको अहिंसा कहते हैं । तथा परपदार्थोंको ग्रहण करनेवाली जो बुद्धि है उसको हिंसा कहते हैं । जिस प्रकार कुंथुसागर नामके मुनिने मोक्ष प्राप्त करनेके लिये निंदनीय परबुद्धि का त्याग करदिया है उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समस्त भव्य जीवोंको निंदनीय परबुद्धिका त्याग कर देना चाहिये ॥ ७४ ॥

उत्तमो मध्यमो राजा कोऽधमो वद भो गुरो !

प्रश्न - हे श्रीगुरो ! यह बतलाइये कि इस संसारमें उत्तम राजा कौन है, मध्यम राजा कौन है और अधम राजा कौन है?

एवं सदा रक्षति राज्यतन्त्रं,
ज्ञातुं नृपः कोऽपि भवेन्न शक्तः ।
तत्कार्यसिद्धिं यदि वीक्ष्य शक्तो,
भवेत्कदाचित्खलु नान्यथैव ॥ ७५ ॥
ब्रवीति यः कार्यवशाद्यथैव,
करोति कार्यं सुखदं तथैव ।
सर्वस्वनाशेऽपि न चान्यथैव,
करोति भूपोऽस्ति स मध्यमो हि ॥ ७६ ॥
करोमि चैवं हि करोमि चैवं,
स्वैरं सदा जल्पति यत्र तत्र ।
न किंतु किंचित्स्वपरार्थकार्यं,
करोति मूढो ह्यधमः स एव ॥ ७७ ॥

उत्तर - जो राजा अपने राज्यतंत्रको इस प्रकार सुरक्षित और गुप्त रखता है कि कोई भी अन्य राजा उसे जाननेमें समर्थ नहीं हो सकता । जब उस राज्यतंत्रका कार्य सिद्ध हो जाता है तब उस कार्यको देखकर उस राज्यतंत्रका अनुमान भले ही लगा सकता है अन्यथा नहीं । ऐसे राजाको उत्तम राजा कहते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो राजा अपने कार्यके निमित्तसे जैसा कहता है उसी प्रकार सुख देनेवाले उस कार्यको करता है सर्वस्व नष्ट होनेपर भी जो अन्यथा नहीं करता उसको मध्यम राजा कहते हैं । जो राजा अपनी इच्छानुसार `मैं यह करूंगा यह करूंगा' इस प्रकार जहां तहां कहता फिरता है किंतु अपना और दूसरोंका कल्याण करनेवाला कोई भी कार्य किंचितरूप भी नहीं करता उस मूर्खको अधमराजा कहते हैं ।। ७५ - ७७ ।।

धर्मार्थकाममोक्षाणां कःक्रमः किं च कारणम् ?

प्रश्न - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका क्रम क्या है और कारण क्या है ?

अर्थस्य मूलं कथियोऽस्ति धर्मो,
धर्मार्थयुग्मं भुवि काममूलम् ।
मोक्षस्य मूलं स्वरसस्य पानं,
बिना सुमूलान्न तरुः प्रवर्द्धते ।। ७८ ।।
धर्मेण चार्थः खलु तेन कामः,
पश्चाद्धि मोक्षोऽपि भवेध्द्रुवं हि ।
चलन्ति ये ते कथितक्रमेण,
राज्यं स्वराज्यं स्वसुखं लभन्ते ।। ७९ ।।

उत्तर - अर्थपुरुषार्थका मूल कारण धर्म है तथा धर्म और अर्थ ये दोनों ही कामपुरुषार्थके मूल कारण हैं और मोक्षपुरुषार्थका मूलकारण अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनंदामृतरसका पान करना है । जिस प्रकार बिना मूलके वृक्ष नहीं बढ़ता, मूलके होनेसे ही वृक्ष बढ़ता है उसी प्रकार धर्मसे अर्थ और अर्थसे कामकी सिद्धि होती है । इस प्रकार अनुक्रमसे जो धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थका सेवन करते हैं उनको सबके अंतमें मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है । जो मनुष्य ऊपर कहे हुए अनुक्रमके अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्षपुरुषार्थका सेवन करते हैं उनको राज्यकी प्राप्ति होती है, आत्मजन्य स्वराज्य की प्राप्ति होती है आत्मजन्य अनंत सुखकी प्राप्ति होती है ।। ७८ ।। ७९ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोऽस्ति पापी च कृपणः को मूर्खः श्वभ्रगश्च कः?

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें पापी, कृपण, मूर्ख और नरकगामी कौन है?

ध्यानं सुदानं न तपो जपोऽपि,
पूजां पुतिष्ठां न च तीर्थयात्राम् ।
न स्वात्मशुद्धिं स्वपरोपकारं,
धर्मप्रचारं स्वगतेर्विचारम् ॥ ८० ॥
दयाप्रचारं स्वसुखस्य चर्याम्,
यः कोऽपि जीवो न करोति धर्मम् ।
स एव पापी कृपणोऽपि वत् !
स एव मूर्खः खलु रन्ध्रगामी ॥ ८१ ॥

उत्तर - हे शिष्य ! जो जीव न ध्यान करता है, न दान देता है, न तप करता है, न जप करता है, न पूजा करता है, न प्रतिष्ठा करता है, न तीर्थयात्रा करता है, न अपने आत्माकी शुद्धि करता है, न आपना कल्याण करता है, न अन्य जीवोंका कल्याण करता है, न धर्मका प्रचार करता है, न अपनी परलोककी गतिका विचार करता है, न दयाका प्रचार करताहै, न अपने आत्मसुखकी चर्चा करता है और न उत्तम क्षमादिक धर्मको धारण करता है, समझना चाहिये कि इस संसारमें वही पापी है, वही कृपण है, वही मूर्ख है और वही नरकगामी है ॥ ८० ॥ ८१ ॥

कथं लोभदिरहितो भन्यते च धनादिकम् ?

प्रश्न - लोभादि रहित मनुष्य धनादिकको कैसा मानता है?

लोभेन मुक्तस्य धनं शिलेव,
वैराग्ययुक्तस्य विषं हि भार्या ।
समाधिलीनस्य सुधेव मृत्युः,
सन्तोषिजीवस्य विपद्धि सम्पत् ॥ ८२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यात्वयुक्तस्य दिवाऽपि रात्रिः,
श्वभ्रश्च नाकः सुखमेव दुःखम् ।
सम्यक्त्वयुक्तस्य ततो विरुद्धो,
भवेत्प्रभावः स्वरसस्य योगात् ।। ८३ ।।

उत्तर - जो मनुष्य लोभरहित है उसके लिये धन भी शिलाके समान है। जो मनुष्य समाधि वा ध्यानमें लीन है उसके लिये मृत्यु भी अमृतके समान है। जो मनुष्य अत्यंत संतोषी है उसके लिये विपत्तियां भी संपत्तिके समान हैं। जो मनुष्य मिथ्यात्वको धारण करता है उसके लिये दिन भी रात्रि है अर्थात् मिथ्यात्वरूपी अंधकार के होनेसे वह तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको नहीं जान सकता इसी प्रकार उसके लिये स्वर्ग भी नरक है और सुख भी दुःख है। तथा जो मनुष्य सम्यग्दर्शन धारण करता है उसके लिये उसके विरुद्ध समझना चाहिये अर्थात् वह रातमें भी दिनके समान तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको जानता है। दुःखोंके आनेपर भी आत्म-जन्य सुखमें लीन रहता है। सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर जो अपने आत्मासे उत्पन्न हुआ आनंदरसका समागम प्राप्त होता है उसका ही यह प्रभाव समझना चाहिये ।। ८२ ।। ८३ ।।

जिनधर्मविहीनस्य किं क्रिया सफला भवेत् ?

प्रश्न - जो मनुष्य जिनधर्मसे रहित है, क्या उसकी क्रियाएं सफल मानी जाती हैं?

न भाति जीवो जिनधर्मबाह्यः,
स्वात्मानुभूत्या स्वरसेन शून्यः ।
क्रिया कला वा विफलैव तस्य,
भक्तिश्च शक्तिश्च भवेद्विनष्टा ।। ८४ ।।

उत्तर - जो मनुष्य जिनधर्मसे रहित है, अपने आत्मासे उत्पन्न हुई अनुभूतिसे रहित है और आत्मासे उत्पन्न हुए आनन्दामृत रससे रहित है वह मनुष्य कभी शोभा नहीं पाता, तथा उसकी क्रियाएं और कलाएं सब निष्फल हो जाती हैं, और उसकी शक्ति तथा भक्ति दोनों नष्ट हो जाती हैं ।। ८४ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किमर्थं मौनमाधत्ते कथं वा वक्ति तापसः ?

प्रश्न - तपस्वी लोग किस लिए तो मौन धारण करते हैं और किस प्रकार बोलते है ?

स्वात्मार्थसिध्द्यै खलु मौनमेव,
दधाति साधुर्यदि वा ब्रवीति ।
स्वार्थाविरोधेन हितं मितं च,
शान्तिप्रदं क्लेशहरं हि सत्यम् ॥ ८५ ॥
बोधप्रदं वैरभयप्रमुक्तं,
सुखप्रदं दुःखहरं प्रशस्तम् ।
निजात्मसिध्द्यै परिणामशुध्द्यै,
शास्त्रानुकूलं स्वपरोपशान्त्यै ॥ ८६ ॥

उत्तर - तपस्वी लोग अपने आत्मपुरुषार्थ वा मोक्षपुरुषार्थ को सिद्ध करनेके लिये अवश्य ही मौन धारण करते हैं । यदि कदाचित् वे बोलते हैं तो जिसप्रकार अपनी आत्मशुद्धिमें विरोध न आवे उसीप्रकार हित करनेवाले, थोड़े वचन कहते हैं, तथा सबको शांति देनेवाले, क्लेशोंको दूर करनेवाले, आत्मज्ञानको उत्पन्न करनेवाले यथार्थ वा सत्य, वैर व भयसे रहित, सुख देनेवाले, दुःखोंको नाश करनेवाला, प्रशस्त और शास्त्रनुकूल वचन कहते हैं । तथा ऐसे वचनोंको भी अपने आत्माकी सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेके लिये परिणामोंको शुद्ध करनेके लिये तथा अपने आत्माको और अन्य जीवोंको शांत करनेके लिये कहते हैं ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

स्वाभिन्! स्वघातकः को वा को वास्ति परघातकः ?

प्रश्न - हे स्वामिन् ! इस संसारमें अपने आत्माका घात करनेवाला कौन है और दूसरोंका घात करनेवाला कौन है ?

अतीवमूल्यं नरजन्म लब्ध्वा-
प्यंगैरुपांगैः परिपूर्णदेहम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रेष्ठार्यखण्डं कुलजातिशुद्धिं,
रसायनं वा जिनधर्ममेव ।। ८७ ।।
निजात्मशुद्धिं स्वरसस्य पानं,
स्वस्थानचिन्तां स्वगतेर्विचारम् ।
करोति यो नात्महितं स एव,
स्वघातको वा परघातकोऽपि ।। ८८ ।।

उत्तर - यह मनुष्यजन्म अत्यंत मूल्यवान है जो मनुष्य ऐसे बहुमूल्य मनुष्य जन्मको पाकर तथा समस्त अंग उपांगोसे बने हुए पूर्ण शरीर को पाकर, श्रेष्ठ आर्य खंडमें जन्म लेकर, शुद्ध कुल और शुद्ध जातिमें जन्म लेकर और रसायनके समान समस्त पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाले जिनधर्मको पाकर भी जो अपने आत्माको शुद्ध नहीं करते हैं, अपने आत्मजन्य आनन्दामृत रसका पान नहीं करते हैं, अपने मोक्षरूप स्थानकी चिंता नहीं करते अगले जन्म में होनेवाली गतिका विचार नहीं करते हैं और अपने आत्माका हित नहीं करते हैं उन्हीं मनुष्योंको अपने आत्माका घात करनेवाला और अन्य जीवोंका घात करनेवाला समझना चाहिये ।। ८७ ।। ८८ ।।

को धीमान्पुरुषो देव ! मनुजोऽपि पशुश्च कः ?

प्रश्न - हे देव ! चतुर मनुष्य कौन है तथा मनुष्य होते हुए भी पशुके समान कौन है ?

विचार्य सम्यक् च पुनःपुनर्यो,
ब्रवीति भाषां सुकृतिं करोति ।
जिनानुयायी मनुजः स एव,
श्रीमांश्च धीमान् निपुणः कृतज्ञः ।। ८९ ।।
विचार्य सम्यङ्न पुनःपुनर्यो,
ब्रवीति भाषां न कृतिं करोति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुमार्गगाम्येव पशुः स लोके,
श्रीमान् दरिद्रश्चतुरोऽपि मूर्खः ॥ ९० ॥

उत्तर - जो मनुष्य अच्छी तरह बार बार विचार कर वचन कहता है और अच्छी तरह बार बार विचार कर ही काम करता है तथा जो भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए वचनों के अनुकूल चलता है उसीको श्रीमान् समझना चाहिये, उसीको धीमान् वा बुद्धिमान समझना चाहिये तथा उसीको चतुर और कृतज्ञ समझना चाहिये। इसी प्रकार जो मनुष्य बिना बार बार अच्छी तरह विचार किये वचन कह देता है और बिना विचार किये ही काम कर लेता है वह कुमार्गगामी पशु है और वह संसारमें श्रीमान् होते हुए भी दरिद्री कहलाता है और चतुर होते हुए भी मूर्ख कहलाता है ॥ ८९ ॥ ९० ॥

मनुष्याणां गुरो ! केषां सफलं जन्म विद्यते ?

प्रश्न - हे गुरो ! किन मनुष्योंका जन्म सफल माना जाता है?

श्रद्धा सुबुद्धिर्जिनधर्ममार्गे,
स्वचिन्तने स्वात्मविचारणे वा ।
येषां निजानंदपदे निषद्या,
पूते स्ववासे शयनं सदैव ॥ ९१ ॥
सदैव चर्यास्ति निजप्रदेशे,
पूते निजानन्दरसेऽस्ति तृप्तिः।
सदैव वार्ता गुणिभिश्च सार्द्धं,
श्रेष्ठं च तेषां सफलं हि जन्म ॥ ९२ ॥

उत्तर - जिनकी श्रद्धा और श्रेष्ठ बुद्धि जिनधर्म वा मोक्षमार्ग में लगी हुई है, अथवा अपने शुद्ध आत्माके चिंतनमें लगी हुई है, अथवा अपने शुद्ध आत्माके विचार करनेमें लगी हुई है, तथा जो अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनन्दके स्थानमें बैठते हैं, पवित्र शुद्ध आत्मामें शयन करते हैं, अपने शुद्ध आत्मप्रदेशोंमें सदा चर्या करते हैं, अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनंदरसमें ही सदा तृप्त रहते हैं, और पंचपरमेष्ठीरूप गुणी पुरुषोंके ही साथ जो सदा बातचीत करते हैं अर्थात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो उन्हीं की पूजा, स्तुति करते रहते हैं ऐसे ही लोंगोका जन्म इस संसारमें श्रेष्ठ और सफल माना जाता है ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

त्रिलोके शूरवीरः कः कथयाद्य गुरो मम ?

प्रश्न - हे गुरो ! तीनों लोकमें शूरवीर कौन है आज मेरे लिए कहिए ?

भवे सुभीमे क्षणदृष्टनष्टे,
क्षुधातृषारोगवियोगदुःखे ।
भोगे च देहे वरजीवने च,
पुत्रप्रपौत्रे वरमित्रवर्गे ॥ ९३ ॥
षट्खण्डराज्ये सुकलत्रवर्गे,
स्पर्शे रसे रागमनोजवर्गे,
कौ यो विरक्तः स्वरसे सुरक्तः
स एव शूरः सकलेऽपि विश्वे ॥ ९४ ॥

उत्तर - जो मनुष्य क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग आदिके दुःखोंसे भरे हुए अत्यंत भयानक और क्षणभरमें ही दिखाई देकर नष्ट होनेवाले इस संसारसे विरक्त हैं, जो भोगोंसे विरक्त हैं, शरीरसे विरक्त हैं, श्रेष्ठ जीवनसे विरक्त हैं, पुत्र पौत्रोंसे विरक्त हैं, श्रेष्ठ मित्रवर्गोंसे विरक्त हैं, छहों खंडके राज्यसे विरक्त हैं, अपनी स्त्रियोंसे विरक्त हैं, स्पर्श रस आदि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त हैं और रागादिक कामदेवके सहायकोंसे विरक्त हैं । इस प्रकार जो मनुष्य इस संसारमें संसार; शरीर; भोगादिकोंसे विरक्त हैं और अपने आत्मजन्य आनन्दामृतरसमें लीन हैं वे ही मनुष्य इस समस्त संसारमें शूरवीर समझे जाते हैं ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

स्वानुभूत्याः पतिः को वा भवेदात्मा गुरो ! दिश ?

प्रश्न - हे गुरो ! कृपाकर बतलाइये कि अपने आत्माकी अनुभूतिका स्वामी कौन है ?

न वस्तु गृह्णन्ति निजात्मबाह्यं,
बिनाशशीलं विपरीतभूतम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नैवं निजानन्दपदं स्वकीयं,
त्यजंति चानन्दरसे कदापि ॥ ९५ ॥
जानन्ति पश्यन्ति निजान् परान्ये,
स्वात्यानुभूतेः पतयो यथावत् ।
त एव वंद्याश्च नरामरेन्द्रैः,
सदैव पूज्या हृदि चिन्तनीयाः ॥ ९६ ॥

उत्तर - जो मनुष्य अपने आत्मासे भिन्न रहनेवाला तथा आत्मासे विपरीत-भूत; बिनाशशील पुद्गलादिक पदार्थोंको कभी ग्रहण नहीं करते हैं, तथा जो अपने आत्मजन्य स्वकीय आनन्दामृतपदको और शुद्ध आत्मजन्य आनंद रसको कभी नहीं छोड़ते हैं, और जो अपने आत्मतत्त्वको तथा आत्मासे भिन्न पुद्गलादिक समस्त तत्त्वोंको यथार्थरूपसे जानते हैं और देखते हैं वे ही पुरुष स्वात्मानुभूतिके स्वामी गिने जाते हैं। ऐसे पुरुषोंको इन्द्र चक्रवर्ती आदि सभी वंदना करते हैं, सदा उनकी पूजा करते हैं, और अपने हृदयमें सदा उनका चिंतन करते रहते हैं ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

किमंर्थ लब्धमेतद्धोः शरीरवद मे गुरो ?

प्रश्न - हे गुरो ! यह बतलाइये कि यह शरीर किसलिए प्राप्त क्या गया है?

मोक्षार्थिभिर्धर्मधनेन यत्नात्,
क्रीतं विशुद्धं वपुरेव यानम् ।
अत्यन्तभीमात्कुटिलाद्भवाब्धेः,
स्वर्गापवर्गादिबिनाशकाद्वै ॥ ९७ ॥
गन्तुं च पारं स्वरसं च पातुं,
ज्ञात्वेति मुक्त्वा भवदेहमोहम् ।
यावन्न नश्येद्धि वपुश्च तावत्,
तरन्तु कुर्वन्तु निजोपकारम् ॥ ९८ ॥

उत्तर - मोक्षकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंने धर्मरूपी धन खर्च करके बड़े प्रयत्नसे यह विशुद्ध शरीररूपी जहाज खरीदा है। तथा यह जीव जो अत्यंत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भयानक, कुटिल और स्वर्गमोक्ष आदिको नष्ट करनेवाले संसाररूपी समुद्रमें पड़ा हुआ है उसको इस संसारसमुद्रसे पार करने के लिए और आत्मजन्य निजानंद रसकी रक्षा करनेके लिये ही यह शरीररूप जहाज खरीदा है। यही समझकर संसार और शरीरसे मोहका त्यागकर जबतक यह शरीर नष्ट नहीं होता तबतक इस शरीरसे यह संसाररूपी समुद्र पार करलेना चाहिये, और इस प्रकार अपने आत्माका महा उपकार करलेना चाहिये ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

कीदृशाः सन्ति लोकेऽस्मिन् जन्मसंगसुखादयः ।

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसार में जन्म, परिग्रह, सुख आदि कैसे माने जाते है?

यस्यैव जन्मास्ति च तस्य मृत्यु-,
र्यस्यैव संपद्विपदेव तस्य ।
यस्यैव संगोऽस्ति भवेद्विसंगो,
यस्यैव दुःखं सुखमेव तस्य ॥ ९९ ॥
यस्यास्ति तारुण्यतरुश्च लोके,
क्रमेण वृद्धोऽपि भवेत्स जीर्णः ।
निजात्मवाह्या इति कौ पदार्थाः,
प्रोक्ताः सदा सन्ति बिनाशशीलाः ॥ १०० ॥

उत्तर - इस संसारमें जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है, जिसके पास संपदाएं होती हैं उसके पास विपत्तियां भी अवश्य आती हैं, जिसके पास परिग्रह इकट्ठा हो जाता है उसे उन परिग्रहोंका वियोग भी सहना पड़ता है, जिसको सुख प्राप्त होता है उसको दुःख भी अवश्य भोगना पड़ता है, इस संसार में जिसके पास अनुक्रमसे बढ़ता हुआ तारुण्यरूपी वृक्ष शोभा देता है उसके पाससे वही तारुण्यरूपी वृक्ष जीर्ण भी अवश्य होता है। इस प्रकार विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि इस संसारमें अपने शुद्ध आत्मासे भिन्न जितने भी पदार्थ कहे गये हैं वे सब सदा बिनाशशील-नष्ट होनेवाले ही देखे गये हैं ॥ ९९ ॥ १०० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिन्तनीयः सदा योगी कीदृशो वद भो गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! कृपाकर कहिये कि कैसे योगीका सदा चिंतन करते रहना चाहिए ?

स्वयं भवाब्धेस्तरति प्रयत्नात्,
यः कोऽपि भव्यान्निजपृष्ठलग्नान् ।
कृत्वा दयां तारयति स्वाभावात्,
स एव योगी हृदि धारणीयः ॥ १०१ ॥

उत्तर - जो कोई जोगी प्रयत्नपूर्वक इस संसाररूपी समुद्रसे स्वयं पार हो जाता है और अपने पीछे लगनेवाले भव्य जीवोंको अपने स्वभावसे ही दयाकर पार कर देता है वही योगी अपने हृदयमें सदा धारण करने वा चिंतवन करने योग्य है ॥ १०१ ॥

कीदृशः पुरुषो लोके सम्यग्दर्शनसंयुतः ?

प्रश्न - कैसा मनुष्य सम्यग्दर्शनसे सुशोभित वा सम्यग्दृष्टी कहलाता है ?

तृणे च रत्ने विषकण्टकेऽपि,
निंदास्तुतौ मित्ररिपौ वनेऽपि ।
ग्रामे पुरे सुंदरमन्दिरेऽपि,
लाभेऽप्यलाभे खलु जन्ममृत्यौ ॥ १०२ ॥
रम्येऽप्यरम्ये च निजात्मबाह्ये,
रोगेऽप्यरोगेऽपि सुखे च दुःखे ।
एतेषु यस्यास्ति समानभावः.
सद्दृष्टिरेवास्ति स एव लोके ॥ १०३ ॥

उत्तर - मनुष्य तृणोंमें वा रत्नोंमें, विषमें वा कांटोंमें, निंदा वा स्तुतिमें शत्रु वा मित्रमें, वन वा गांवमें, नगरमें वा सुन्दर मंदिरोमें, लाभ वा अलाभमें, जन्म वा मरणमें रोग वा नीरोगतामें, सुख वा दुःखमें और आत्मासे भिन्न मनोहर वा घृणित पदार्थोंमें अर्थात् इष्ट वा अनिष्ट समस्त पदार्थोंमें जो समान भाव धारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता है, सबको समान देखता है उसीको इस संसारमें सम्यग्दृष्टी समझना चाहिये ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

अल्पायुरपि को वृद्धो हे देव साम्प्रतम् ?

प्रश्न - हे देव ! अब यह बतलाइये कि अल्पायुमें भी वृद्ध कोन कहलाता है?

अत्यंतभीमे सकलेप्सिते वै,
स्थितोऽपि तारुण्यवने ह्यलिप्तः ।
लीनोऽस्ति चानंदरसे सदा यो,
दिनैरवृद्धोऽपि स एव वृद्धः ॥ १०४ ॥

उत्तर - यह तारुण्यरूपी वन अत्यंत भयानक है और सब लोग इसको चाहते हैं, ऐसे तरुण्यरूपी वनमें रहता हुआ भी जो उस तारूण्यवनमें लिप्त नहीं होता उससे विरक्त रहता है, और जो सदा अपने आत्मजन्य आनंदरसमें लीन रहता है, वह वर्षोंके हिसाबसे वृद्ध न होनेपर भी संसारमें सर्वोत्कृष्ट वृद्ध समझा जाता है ॥ १०४ ॥

कोऽसौ सखा मनुष्यस्य लोकेऽस्मिन् भो गुरो ! वद ?

प्रश्न - हे गुरो ! कृपाकर बतलाइये कि इस संसारमें मनुष्यका मित्र कौन है?

रोगेऽप्यरोगे खलु हानिलाभे,
क्षुधातृषायां भुवने वने वा ।
मानापमाने च सुखेऽपि दुःखे,
सखा स एवास्ति समानभागी ॥ १०५ ॥

उत्तर - जो पुरुष रोग वा नीरोग अवस्थामें, हानि वा लाभमें, भूख वा प्यासमें, राजमहल वा वनमें, मान और अपमानमें तथा सुख और दुःखमें जो समान भाग लेता है वही इस संसारमें मनुष्योंका मित्र कहलाता है ॥ १०५ ॥

आशाचिन्तादुराचारैःप्रणश्यन्ति च के गुणाः

प्रश्न - हे गुरो ! आशा, चिंता और दुराचारसे कौन कौनसे गुण नष्ट हो जाते है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीव्रा धनाशा हृदि यस्य तस्य,
स्वप्नेऽपि धर्मो न च दानपूजा ।
यस्यास्ति चित्ते व्यभिचारबुद्धिः,
स्वप्नेऽपि लज्जा न कुलादिरक्षा ॥ १०६ ॥
चिन्तानिवासो हृदि यस्य तस्य,
स्वप्नेऽपि न स्यात्सुखशान्तिपानम् ।
मूर्खत्वभावो हृदि यस्य तस्य,
स्वप्नेऽपि नीतिर्न निजात्मसिद्धिः ॥ १०७ ॥

उत्तर - जिस मनुषयके हृदयमें तीव्र धनकी आशा लग रही है वह स्वप्नमें भी कभी धर्म नहीं करता, न वह दान देता है और न कभी पूजा करता है। इसी प्रकार जिसके हृदयमें व्यभिचार बुद्धि घुस जाती है उसके हृदयमें लज्जा और कुल वा जातिकी रक्षा कभी स्वप्नमें भी नहीं आसकती। तथा जिसके हृदयमें चिंता विद्यमान है उसके हृदयमें सुख और शांतिका पान कभी स्वप्नमें भी नहीं हो सकता। और जिसके हृदयमें मूर्खता भरी हुई है उसके हृदयमें नीति और शुद्ध आत्माकी सिद्धि कभी स्वप्नमें भी नहीं हो सकती ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

बद्धो मुक्तश्च जीवोऽयं भो गुरो! केन हेतुना ?

प्रश्न - हे गुरो ! यह जीव किस हेतुसे कर्मसे बंध जाता है और किस हेतुसे मुक्त हो जाता है ?

स्ववस्तुबुध्द्या परमेव वस्तु,
यः कोऽपि गृह्णाति स एव बद्धः ।
स्ववस्तु चैवं परवस्तुबुध्द्या,
गृह्णाति यः कोऽपि च सोऽपि बद्धः ॥ १०८ ॥
निजत्वबुध्द्या निजमेव वस्तु,
परत्वबुध्द्यानिजमेव वस्तु ।
चिह्नेन गृह्णात्यवगम्य यो हि,
स एव मुक्तः सुखशान्तिभोक्ता ॥ १०९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - जो मनुष्य आत्मासे भिन्न पुद्गलादिक पर पदार्थोंको अपने आत्माके समझकर ग्रहण करता है वह मनुष्य वा जीव अवश्य ही कर्मोंसे बंध जाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने आत्मतत्त्वको ही परवस्तु समझकर ग्रहण करता है वह भी कर्मोंसें अवश्य बंध जाता है । तथा जो मनुष्य अपने अपने लक्षणोंसे आत्मतत्त्वको आत्मतत्त्व समझकर ग्रहण करता है और परपदार्थोंको पर पदार्थ समझकर ग्रहण करता है अर्थात् जिसे स्वपर विवेक बुद्धि प्राप्त होगई है वही मनुष्य मुक्त हो जाता है और सुख शांतिको भोगनेवाला बन जाता है ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

केषां सुनिर्मला कीर्तिः कीर्तनीया सदा गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! किन लोगोंकी निर्मल कीर्ति सदा वर्णन करते रहना चाहिए?

यस्यास्ति चित्ते गुरुदेवभक्तिः,
सुपात्रदाने वरभावबुद्धिः ।
श्रद्धा प्रयत्नः स्वपरोपकारे,
पुराणशास्त्रे जिनधर्ममार्गे ॥ ११० ॥
स्वाचारमार्गे विमला प्रवृत्ति-,
रास्तिक्यबुद्धिः परलोककार्ये ।
वात्सल्यभावः सुजने सधर्मे,
तस्यैव कीर्तिर्भुवि कीर्तिनीया ॥ १११ ॥

उत्तर - जिस पुरुषके हृदयमें देवभक्ति और गुरुभक्ति भरी हुई है, श्रेष्ठ पात्रोंको दान देनेके लिये उत्तम परिणाम और उत्तम बुद्धि भरी हुई है, जिसके हृदयमें आत्मकल्याण करने और अन्य जीवोंका कल्याण करनेकी श्रद्धा भरी हुई है तथा जो आत्मकल्याण और परकल्याण करने के लिये सदा प्रयत्न करता रहता है, जो पुराण शास्त्रोंमें और जिनधर्म वा मोक्षमार्गमें श्रद्धा रखता है पुराणशास्त्रोंके पढ़ने पढ़ानेमें जिनधर्मकी वृद्धि और मोक्षमार्गकी वृद्धिमें सदा प्रयत्न करता रहता है, जो श्रेष्ठ चारित्रके पालन करनेमें अपनी निर्मल प्रवृत्ति रखता है परलोकके कार्यमें आस्तिक्य रखता है तथा जो सज्जन और धर्मात्मा पुरुषोंमें वात्सल्यभाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धारण करता है उसी महापुरुषकी कीर्ति इस संसारमें सर्वत्र वर्णन करते रहना चाहिये ॥ ११० ॥ १११ ॥

संसारतापतप्तानां के वा विश्रांतिहेतव: ?

प्रश्न - हे गुरो ! जो जीव संसारके संतापसे तप्तायमान हैं उनकी विश्रांतिके कारण क्या है ?

संसारवह्नौ दहतां जनानां,
विश्रांतिहेतोर्वरकारणानि ।
षडेव वेद्यानि तमोहराणि,
शान्त्यादिकानि स्वसुखप्रदानी ॥ ११२ ॥
सदा विवेक: समशांतिसम्पत्,
संसारभोगेषु विरक्तबुद्धि: ।
अध्यात्मविद्या निजराज्यदात्री,
सम्यक् प्रवृत्ति: स्वपदे निवास: ॥ ११३ ॥

उत्तर - जन्ममरणरूप संसाररूपी अग्निमें जलते हुए जीवोंको विश्रांति प्राप्त करनेके लिये छह कारण बतलाये हैं । जो कि मिथ्यात्वरूपी अंधकारको दूर करनेवाले हैं, शांति आदि सुखके कारणोंको देनेवाले हैं, और आत्मसुखको प्रदान करनेवाले हैं । वे छह कारण ये हैं । सदा विवेक धारण करना अर्थात् आत्माके हित अहित का विचार होना, समता और शांतिरूपी संपत्तिका प्राप्त होना, संसार; शरीर और भोगोंसे विरक्तबुद्धिका होना, अपने आत्माका स्वराज्य अर्थात् सिद्ध अवस्था प्राप्त करानेवाली अध्यात्मविद्याका अभ्यास करना, दान पूजा आदि श्रेष्ठ कार्योंमें अपनी प्रवृत्ति करना और अपने शुद्ध आत्मामें निवास करना । ये छह जीवोंको सुख और शांति देनेवाले हैं । इन्हींसे संसारके समस्त दु:ख छूट जाते हैं ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

भो गुरो ! निपुण: कोऽसौ कथ्यते बुधसत्तमै: ?

प्रश्न - हे गुरो ! श्रेष्ठ विद्वान् लोक इस संसारमें निपुण किसको कहते हैं ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेमो विवेको हि कुटंबवर्गे,
पूज्येषु भक्तिः सकलेषु मैत्री ।
जिनस्य सेवा करुणैव दीने,
माध्यस्थवृत्तिर्निजबोधहीने ।। ११४ ।।
प्रीतिश्च धीमत्सु सदैक्यभावः,
सदैव षंढः परवल्लभासु ।
एतैर्विचारैः सुखशान्तिदैश्च,
यःकोऽपि युक्तो निपुणःस एव ।। ११५ ।।

उत्तर - जो मनुष्य अपने कुटंबवर्गमें क्षेम धारण करता है, तथा विवेक धारण करता है, पूज्य पुरुषोंमें भक्ति धारण करता है, समस्त जीवोंमें मैत्री धारण करता है, जिनदेवकी सेवा करता है, दीनोंमें करुणा धारण करता है, **आत्मज्ञानसे हीन पुरुषोंमें मध्यस्थता धारण करता है,** विद्वान् पुरुषोंमें प्रेम करता है, सबसे मिलकर रहता है और परस्त्रियोंके लिये नपुंसक बन जाता है । इस प्रकार सुख और शांति देनेवाले शुभ विचारोंसे जो सदा शोभायमान है वही पुरुष इस संसारमें निपुण कहलाता है ।। ११४ ।। ११५ ।।

क्रोधनः पुरुषो लोके कान् जीवान् हन्ति भो गुरो

प्रश्न - हे गुरो! इस संसारमें क्रोधी पुरुष किन जीवोंको मार डालता है?

निजात्मशून्यो यदि कोऽपि जीवः,
क्रोधेन तप्तो भुवने कदाचित् ।
पितॄंश्च मातॄरपराधशून्यान्,
मित्राणी बंधूनपि धर्मयुक्तान् ।। ११६ ।।
स्वानन्दतृप्तानपि सर्वसाधून्,
विचारशून्यः खलु हन्ति सर्वान् ।
पापिष्ठराजा हि यथैव जीवान्,
धिगस्तु कौ तं परमार्थशून्यम् ।। ११७ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - जो जीव अपने आत्मज्ञानसे रहित होता है वह यदि क्रोधसे संतप्त हो जाय तो वह बिना किसी अपराधके माताको भी भी मार डालता है, पिताको भी मार डालता है, मित्रोंको भी मार डालता है, धर्मात्मा भाइयोंको मार डालता है अपने आत्मजन्य आनंदमें तृप्त रहनेवाले समस्त साधुओंको भी मार डालता है। जिस प्रकार पापी राजा अनेक निरपराध जीवोंको मार डालता है उसी प्रकार विचाररहित क्रोधी मनुष्य भी समस्त जीवोंको मार डालता है। अतएव इस संसारमें परमार्थरहित जीवोंको बारबार धिक्कार है ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

तत्त्वप्रबोधशून्यास्ते जीवा: किं चिन्तयन्ति भो: ?

प्रश्न - हे गुरो ! तत्त्वज्ञानसे रहित जीव क्या क्या चिंतन करते हैं ?

त्राताहमेवास्मि कुटुम्बकानां,
रोगादिकानां प्रबिनाशकर्ता ।
स्वामी जनानामहमेव नेता,
पुत्रप्रपौत्रस्य विवाहकर्ता ॥ ११८ ॥
दु:खादिकानां हि भयंकराणां,
सुखादिकानां च मनोहराणाम् ।
वस्त्रादिकानां सुमनोहराणां,
धनादिकानामहमेव दाता ॥ ११९ ॥
समस्तभूमेरहमेव राजा,
मया बिना तेऽपि भवन्ति दीना: ।
एवं विचारेण सदा प्रमत्त:,
करोत्यकार्यभववर्द्धकं च ॥ १२० ॥

उत्तर - अपने समस्त कुटुंबको पालन करनेवाला मैं ही हूं, मैं ही उनके समस्त रोगोंकी दूर करनेवाला हूं, मैं ही उन सबका स्वामी हूं, मैं ही नेता हूं, पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रोंका विवाह करनेवाला भी मैं ही हूं, भयंकर दु:खादिकोंको नष्ट करनेवाला और मनोहर सुखोंको देनेवाला भी मैं ही हूं, मैं ही मनोहर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्त्राभूषणोंको देनेवाला हूं और मैं ही धनादिककी देनेवाला हूं, मैं इस समस्त पृथ्वीका राजा हूं। मेरे बिना ये सब लोग दीन ही समझने चाहिये। इस प्रकारके निंद्य विचारोंसे प्रमादी हुए अज्ञानी मनुष्य जन्ममरणरूप संसारको बढ़ानेवाले अकार्य ही करते हैं ॥ ११८ - १२० ॥

लभन्ते सुखशान्तिं किं ग्रहग्रस्ता न वेति भीः ?

प्रश्न - हे गुरो ! पागलोके समान ग्रहग्रस्त मनुष्य क्या सुख शांति को प्राप्त कर सकते हैं वा नहीं ?

कपेश्च तुल्यं हृदयं जनानां,
दंशस्य तुल्योऽस्ति कुटुम्बवर्गः ।
मोहोऽस्ति पापी मदिरासमानो,
मायास्ति दुष्टा बकवत्सदैव ॥ १२१ ॥
पिशाचतुल्यानि भुवीन्द्रियाणि,
वन्हेः समानः खलू नोकपायः ।
सदैव चिन्ता क्षयरोगतुल्या,
क्रोधोऽपि नीचोऽस्ति रिपोः समानः ॥ १२२ ॥
आशापि जन्तोः खलु लोकतुल्या,
मानोऽस्ति लोके कलहस्य कोशः ।
ग्रस्ता ग्रहैर्ये भुवि ते सदैव,
कदापि शान्तिं न सुखं लभन्ते ॥ १२३ ॥

उत्तर - यह मनुष्योंका हृदय बंदरके समान चंचल है, कुटुंबके लोग सब डांसके समान चारोंसे भक्षण करनेवाले हैं, यह पापी मोह मद्यके समान जीवोंको मोहित कर देनेवाला है, यह माया बगलाके समान सदा दुष्टता धारण करती रहती है, इस संसारमें इंद्रियां सब पिशाचके समान दुःख देनेवाली हैं, ये नोकपाय अग्निके समान सदा जलते रहते हैं; चिंता सदा क्षयरोगके समान कृश करती रहती है, यह नीच क्रोध भी शत्रुके समान सदा दुखी करता रहता है, यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवोंकी आशा लोकाकाशके समान विशाल रूप धारण कर भय दिखलाती है और यह मान भी संसारमें कलहका खजाना है । इस प्रकार जो मनुष्य इन मोह वा कषायरूपी ग्रहोंसे ग्रसित रहते हैं उनकी कभी भी सुख और शांति प्राप्त नहीं हो सकती ॥ १२१ - १२३ ॥

भो गुरो! संति के लोके चाण्डालसदृशा नराः?

प्रश्न - हे गुरो! इस संसारमें चांडालके समान मनुष्य कौन है?

द्रोही सुधीमांश्च मुनिः प्रकोपी,
श्रीमांश्च लोभी मनुजोऽपि मानी ।
तत्त्वप्रलोपी चतुरोऽपि शास्त्री,
मिथ्याप्रलापी निपुणोऽपि वाग्मी ॥ १२४ ॥
न्यायी तथा कौ जिनधर्मलोपी,
विश्वासहीनः सुजनोऽपि पापी ।
एते मनुष्या निजधर्मबाह्या-,
श्चाण्डालतुल्या भुवि निंदकाश्च ॥ १२५ ॥

उत्तर - जो श्रेष्ठ बुद्धिमान होकर भी विद्वानों से द्रोह वा ईर्षा करें तो वह भी चांडालके समान है, जो मुनि होकर भी क्रोध करे तो वह चांडालके समान है, जो धनवान होकर भी लोभ करे वह भी चांडाल के समान है, जो मनुष्य होकर भी अभिमान करे वह भी चांडालके समान है, जो चतुर शास्त्री होकर भी तत्त्वोंका लोप करे वह भी चांडालके समान है, जो चतुर वक्ता होकर भी मिथ्याभाषण करता हो वह भी चांडालके समान है, जो पुरुष न्यायवान होकर भी जिनधर्मका लोप करता हो वह भी इस पृथ्वीपर चांडालके समान हैं, तथा जो श्रेष्ठ मनुष्य होकर भी विश्वासघात करे अथवा पापी बन जाय तो वह भी चांडालके समान समझा जाता है। ये ऊपर लिखे हुए मनुष्य अपने धर्मसे रहित हैं और इसीलिये संसारमें निंदक और चांडालके समान समझे जाते हैं ॥ १२४ ॥ १२५ ॥

शरीरावयवानां भोः शोभा कुत्रास्ति सद्गुरो ?

प्रश्न - हे श्रेष्ठ गुरो ! इस शरीरके अवयवोंकी शोभा किस किस कार्यमें समझी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाती है?

गुर्वादिदेवस्य च दर्शनं स्या-,
न्नेत्रस्य शोभा स्तवनं मुखस्य ।
शीर्षस्य शोभास्ति जिनप्रणामः,
शास्त्रश्रुतिः स्याछ्रवणस्य शोभा ।। १२६ ।।
हस्तस्य शोभास्ति सुपात्रदानं,
पादस्य शोभा जिनतीर्थयानं ।
कुक्षेश्च शोभा विधियुक्तभुक्तिः,
कंठस्य शोभा जिनकीर्तिगानम् ।। १२७ ।।
ज्ञानस्य शोभास्ति निजात्मबुद्धिः,
ज्ञात्वेति सम्यक् सकलं सुगात्रम् ।
यथोक्तकार्ये सुखशांतिमूले,
भव्यैः शिवार्थ खलु योजनीयम् ।। १२८ ।।

उत्तर - देव और गुरुके दर्शन करना नेत्रोंकी शोभा है, देव गुरुकी स्तुति करना मुखकी शोभा है, भगवान् जिनेद्रदेवको प्रणाम करना मस्तककी शोभा है, भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका सुनना कानोंकी शोभा है, उत्तम पात्रोंको दान देना हाथोंकी शोभा है, जिनेंद्रदेवसे सुशोभित हुए जो तीर्थोंकी यात्रा करना पैरोंकी शोभा है, पेटकी शोभा विधिपूर्वक पवित्र भोजन करना है, कंठकी शोभा भगवान् जिनेंद्रदेवकी कीर्तिका गान करना है और ज्ञानकी शोभा अपने शुद्ध आत्मामें बुद्धिका लगना है । इस प्रकार शरीरके अवयवोंकी समस्त शोभा समझकर भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सुख और शांतिके कारण ऐसे ऊपर लिखे हुए कारणोंमें ही अपने समस्त शरीरके अवयवों को लगाना चाहिये ।। १२६ - १२८।।

भो गुरो ! सद्गुरुः कीदृक् लोकेऽस्ति वद साम्प्रतम् ?

प्रश्न - हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि इस संसारमें सद्गुरु कैसे होते हैं?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुरक्षकत्वाद्गुरुरेव माता,
सुशिक्षकत्वाच्च गुरुः पितैव ।
श्री वर्द्धकत्वाद्गुरुरेव बंधु-,
र्गुरुः सखा कौ हितचिन्तकत्वात् ॥ १२९ ॥
सौख्यप्रदत्वाद्गुरुरेव विष्णु-,
र्ब्रह्मा गुरुः स्वात्मपदप्रबोधात् ।
चिन्तामणिश्चिन्तितवस्तुदानात्,
तस्मै सदा सद्गुरवे नमोऽस्तु ॥ १३० ॥

उत्तर - गुरु सब जीवोंकी रक्षा करते हैं इसलिये वे ही सब जीवोंकी माता है, सब जीवोंका शिक्षा देते हैं इसलिये गुरु ही पिता है, गुरु ही लक्ष्मीको बढ़ाने वाले हैं इसलिये वे ही सब जीवोंके बंधु हैं गुरुही समस्त जीवोंके हित चिंतन करते रहते हैं इसलिये वे ही जीवोंके मित्र हैं, गुरु ही सब जीवों को सुख देते हैं इस लिये गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही शुद्ध आत्माका ज्ञान कराते हैं इसलिये गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही इच्छानुसार पदार्थोंको देनेवाले हैं इसलिये गुरु ही चिंतमणिरत्न हैं । अतएव ऐसे उन श्रेष्ठ गुरुओंको मैं बार बार नमस्कार करता हूं ॥ १२९ ॥ १३० ॥

हन्ति रक्षति जीवोयं केन वा कारणेन भोः?

प्रश्न - हे गुरो ! यह जीव किन किन कारणोंसे अन्य जीवोंको मारता है वा उनकी रक्षा करता है?

धनस्य मानस्य च जीवनस्य,
कीर्तेश्च जिह्वारमणस्य हेतोः ।
परान् स्वयं हन्ति च हन्यतेऽपि,
परेण यो रक्षति रक्ष्यते च ॥ १३१ ॥
परान् स्वयं पुष्यति पोष्यते च,
पतत्यरि पातयति प्रयत्नात् ।
त्यक्त्वा स्वधर्मं निजबोधशून्यो,
भ्रमोच्चिरं घोरभवार्णवेऽस्मिन् ॥ १३२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - यह जीव धन, मान, जीवन, कीर्ति, जिव्हा इंद्रियकी लोलुपता और स्त्री सेवनके लिये दूसरे जीवोंको मारता है वा दूसरोंके द्वारा मारा जाता है। अथवा इन्हीं कामोंके लिये दूसरों की रक्षा करता है वा स्वयं दूसरेके द्वारा सुरक्षित रहता है। अथवा इन्हीं कामोंके लिये दूसरोंका पालन पोषण किया जाता है। अथवा इन्हीं कामोंके लिये यह जीव स्वयं पतित होता है वा दूसरोंको प्रयत्न पूर्वक पतित करता है। इस प्रकार जो जीव अपने आत्मज्ञानसे शून्य है वह अपने धर्मको छोड़कर इस संसाररूपी समुद्रमें चिरकालतक इसी प्रकार परिभ्रमण करता रहता है ॥ १३१ ॥ १३२॥

सज्जनानां स्वभावो वा कीदृशोऽस्ति गुरो वद ?

प्रश्न - हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि सज्जनोंका स्वभाव कैसा होता है?

सतां न यत्नो भवति स्वदु:खे,
परस्य दु:खस्य बिनाशको हि ।
संसारकार्ये बिसिनीव वृत्ति-,
र्निजात्मधर्मे मुनिवत्प्रवृत्ति: ॥ १३३ ॥
तत्त्वप्रबोध: पतिवद्धि शच्या:,
स्याद्वादवाणीव विचारशक्ति:।
इत्येव संसारबिनाशकोऽसौ,
सतां विचारो भवति स्वभावात् ॥ १३४ ॥

उत्तर - सज्जन पुरुष अपने ऊपर दु:ख आनेपर भी कभी उनके दूर करने का प्रयत्न नहीं करते, तथा दूसरों के दु:खोंका वे सदा नाश करते रहते हैं। सांसारिक भोग विलासोंमें वे कमलिनीके समान सदा अलग रहते हैं तथा अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें मुनियोंके समान प्रवृत्ति करते रहते हैं। उनका तत्त्वज्ञान इंद्राणीके पति इन्द्रके समान सर्वोत्कृष्ट होता है और उनकी विचारशक्ति स्याद्वाद वाणीके समान सदा निर्मल और यथार्थ रहती है, इस प्रकार इस पृथ्वीपर सज्जनोंके विचार स्वभावसे ही संसारको नष्ट करनेवाले होते हैं ॥ १३३ ॥ १३४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरो ! केन प्रकारेण कर्मबंधो भवेन्न च ?

प्रश्न - हे गुरो ! जीवोंको किस प्रकार कर्मोंका बंध नहीं हो सकता ?

सम्यक् समित्या निजबोधदृष्ट्या,
विलोक्य रक्षन्नसुधारिणोऽन्यान् ।
सदैव कुर्वन्निजरूपशुद्धिं,
तथैव चान्यानपि कारयंश्च ॥ १३५ ॥
भाषेत चासीत शयीत गच्छेद्,
भुंजीत वर्तेत पिबेद्यथावत् ।
खादेन्जिजानंदरसं च येन,
स्वर्मोक्षलक्ष्मीश्च भवेत्स्वदासी ॥ १३६ ॥

उत्तर - जो जीव श्रेष्ठ समितियोंके द्वारा अथवा ज्ञानरूपी नेत्रोंसे अच्छीतरह देखकर अन्य समस्त जीवोंकी रक्षा करते हैं, जौ अपने आत्माकी शुद्धिको सदा करते रहते हैं और अन्य जीवोंसे भी कराते रहते हैं, जो शास्त्रानुकूल वचन बोलते हैं, शास्त्रानुकूल बैठते हैं, शास्त्रानुसार सोते हैं, शास्त्रानुसार चलते हैं, शास्त्रानुसार आहार लेते हैं, शास्त्रानुकूल ही अपना वर्ताव करते हैं और शास्त्रानुकूल ही पानी पीते हैं और आत्मजन्य आनंदामृतरसका स्वाद लेते रहते हैं ऐसे पुरुषोंके लिये स्वर्ग और मोक्ष भी दासीके समान हो जाता है फिर भला उनके कर्मोंका बंध कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

भगवन् कोऽस्ति लोकेऽस्मिन् ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरः ?

प्रश्न - हे भगवन् ! इस संसार में ब्रह्मा कौन है, विष्णु कौन है और महादेव कौन है ?

योऽनन्तबोधो भुवने स विष्णुः,
ब्रह्मा स एवास्ति निजात्मनिष्ठः ।
यः कर्ममुक्तो जगदीश्वरः स
करोति मोक्षे निजमेव राज्यम् ॥ १३७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मद्विषो यः प्रविजित्य जातो,
लोके महादेव इति प्रसिद्धः ।
स एव वंद्योऽस्ति नरामरेन्द्रै-,
रन्यो न पूज्यो न च कोऽपि वंद्यः ॥ १३८ ॥

उत्तर - इस संसारमें जो अनंतज्ञानी भगवान जिनेंद्र देव हैं वे ही विष्णु हैं तथा अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहनेवाले वे ही भगवान जिनेंद्र देव ब्रह्मा हैं। जो कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी जगदीश्वर वा महादेव हैं जो कि मोक्षस्थानमें विराजमान होकर अपना स्वात्मजन्य स्वराज्य कर रहे हैं। इस संसारमें महादेव उन्हीं को कहते हैं जो कर्मरूपी शत्रुओंको जीतकर तीनों लोको में प्रसिद्ध हुए हैं। अतएव वे ही ब्रह्मा, विष्णु और महादेव इंद्र, चक्रवर्ती आदिके द्वारा वंदनीय हैं। इन अरहंत और सिद्ध परमेष्ठीके सिवाय अन्य कोई भी ब्रह्मा विष्णु वा महादेव पूज्य और वंदनीय नहीं है ॥ १३७ ॥ १३८ ॥

कोऽसौ दीनोऽस्ति लोकेऽस्मिन् हे गुरो ! कथयाधुना ?

प्रश्न - हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि इस संसारमें दीन कौन है?

पाखंडिलिंगे गृहिलिंगधर्मे,
पापस्य बीजे विषये च पापी ।
यः स्वात्मवाह्ये परवस्तुरूपे
करोति मोहं भुव सोऽस्तिदीनः ॥ १३९ ॥

उत्तर - जो पापी मनुष्य पाखंडको धारण करनेवाले कुगुरुओंमें, गृहस्थ अवस्थामें ही धर्मकी पूर्णता माननेवालोंमें, पापोंका कारण ऐसे विषयों में और आत्मासे सर्वथा भिन्न ऐसे परपदार्थोंमें मोह करता है संसारमें वही मनुष्य दीन कहलाता है ॥ १३९ ॥

निजात्मनो निवासश्च हे गुरो ! कास्ति भूतले ?

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें इस अपने आत्माका निवास कहांपर है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये केपि जीवा विषयोद्भवाद्वा,
भोगोपभोगाद्वपुषो विरक्ताः ।
सन्तो हि गन्तुं स्वगृहं यतन्ते,
कर्तुं स्वराज्यं स्वरसस्य पानम् ॥ १४० ॥
तेषां प्रवासो हि निजप्रदेशे,
चैतन्यराज्ये च भवेन्निवासः ।
अन्ते निवासः सततं भवेद्वा,
कर्मप्रणाशात्सुखपूर्णमोक्षे ॥ १४१ ॥

उत्तर - जो कोई जीव इस विषम संसारसे भोगोपभोगोसे और शरीरसे विरक्त हो गये हैं तथा जो आत्मजन्य स्वराज्य करनेके लिये और आत्मजन्य आनंदामृत रसका पान करने के लिये अपने मोक्षरूप घर के लिये जानेका प्रयत्न करते हैं उन जीवोंका प्रवास तो अपने आत्मा के प्रदेशोंमें समझना चाहिये और उनका निवास शुद्ध चैतन्यस्वरूप राज्यमें समझना चाहिये । अथवा अंतमें समस्त कर्मोंका नाश हो जानेपर सदाके लिये उनका निवास अनंत सुखसे परिपूर्ण मोक्षस्थानमें समझना चाहिये ॥ १४० ॥ १४१ ॥

दैवस्य मुख्यता कास्ति किं वा पुण्येन जायते ?

प्रश्न - हे गुरो ! दैवकी मुख्यता कहां समझनी चाहिए और पुण्यसे क्या क्या प्राप्त होता है ?

कृते विशिष्टेऽपि सति प्रयत्ने,
कार्यस्य सिद्धिर्न भवेद्यदा हि ।
दैवं प्रधानं खलु तत्र बोध्यं,
बुधैश्च गौणं पुरुषार्थकार्यम् ॥ १४२ ॥
पुण्येन वा सर्वधनं सुराज्यं,
पुण्येन वा पुत्रकलत्रबंधुः ।
ज्ञात्वेति कुर्वन्तु सदैव पुण्यं,
कदापि धर्मान्न चलन्तु धीराः ॥ १४३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - यदि विशेष और अधिक प्रयत्न करनेपर भी कार्यकी सिद्धि न हो तो वहांपर विद्वान् लोगोंको दैव ही प्रधान समझना चाहिये और पुरुषार्थको गौण समझना चाहिये । इस ससांरमें पुण्यसे ही समस्त धन और श्रेष्ठ राज्यकी प्राप्ति होती है और पुण्यसे ही पुत्र, स्त्री, भाई, बंधुओंकी प्राप्ति होती है । यही समझकर विद्वानों को सदा पुण्य उपार्जन करते रहना चाहिये और धर्मसे धीर पुरुषोंको कभी भी भ्रष्ट न होना चाहिये ।। १४२ ।। १४३ ।।

रत्नत्रयविहीनोऽयं जीवो भात्यत्र वा नवा ?

प्रश्न - जो जीव रत्नत्रयरहित है वह इस संसारमें शोभायमान होता है वा नहीं ?

जीवादितत्त्वेषु जिनागमे च,
स्वात्मानुभूतौ न रुचिं करोति ।
न भाति लोके स विबोधहीनः,
स्वाचारहीनो निपुणश्च, कोऽपि ।। १४४ ।।

उत्तर - जो कोई चतुर पुरुष भी जीवादिक तत्त्वोंका भगवान जिनेंद्रदेवके कहे हुए आगमका और अपने अत्माकी स्वात्मानुभूतिका श्रद्धान नहीं करता है वह आत्मज्ञानरहित और सदाचाररहित समझा जाता है तथा वह इस संसारमें कहीं भी शोभा नहीं देता ।। १४४ ।।

लोके धर्मानुरागस्य भो गुरो! कीदृशं फलम्?

प्रश्न - हे गुरो! इस संसारमें धर्मसे प्रेम करनेका फल क्या है?

धर्मानुरागोऽपि परंपरेण,
षट्खण्डराज्यस्य मनोहरस्य ।
पुत्रादिपौत्रस्य समीहितस्य,
शत्रादिभूतेरपि दायकः स्यात् ।। १४५ ।।
स्वर्मोक्षदाता भवरोगहर्ता,
स एव यावन्न भवेद्धि मोक्षः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञात्वेति भव्यैश्च जिनानुरागो,

धर्मानुरागोऽपि सदैव कार्य: ।। १४६ ।।

उत्तर - धर्ममें गाढ़ प्रेम रखना परंपरासे छहो खंडके मनोहर राज्यको देनेवाला है, पुत्र पौत्र आदि इच्छानुसार विभूतियोंको देनेवाला है और इन्द्रादिकी विभूतियोंको देनेवाला है । इसी प्रकार यह धर्मानुराग स्वर्गमोक्षको देनेवाला है और जबतक मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती तबतक संसारके समस्त रोगोंको हरण करनेवाला है । यही समझकर भव्यजीवोंको भगवान् जिनेन्द्रदेवमें सदा अनुराग रखना चाहिये और उनके कहे हुए धर्ममें सदा अनुराग रखना चाहिये ।। १४५ ।। १४६ ।।

आर्यमर्त्यस्य कार्याणि कानि संति जगद्गुरो ?

प्रश्न - हे जगद्गुरो इस संसार में आर्यपुरुषोंके कार्य क्या है?

निजात्मशुद्धिर्गुरुदेवसेवा,

सुदानपूजा जिनतीर्थयात्रा ।

ध्यानोपवासश्च तपो जपोऽपि,

स्वाध्यायशान्ति: स्वपरोपकार: ।। १४७ ।।

सम्यक्प्रवृत्ति: कुलजातिरक्षा,

विचारशक्तिर्निजतत्त्वचर्चा ।

आर्यस्य कार्याणि सुखप्रदानि,

प्रोक्तानि चैतानि शिवप्रदानि ।। १४८ ।।

उत्तर - अपने आत्माकी शुद्धि करना, देव और गुरुकी सेवा करना, पात्रदान देना, देवपूजा करना, भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तीर्थोंकी यात्रा करना, ध्यान करना, उपवास करना, तप करना, जप करना, स्वाध्याय करना शक्ति धारण करना, अपने आत्माका कल्याण करना, अन्य जीवोंका कल्याण करना, अपनी प्रवृत्ति यत्नाचारपूर्वक करना, अपने कुल और जातिकी रक्षा करना, तत्त्वोंके विचार करनेकी शक्ति रखना और अपने आत्मतत्त्वकी चर्चा करते रहना, ये सब सुख देनेवाले और मोक्ष प्रदान करनेवाले शुभकार्य भगवान जिनेन्द्रदेवने आर्यपुरुषोंके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बतलाये हैं ॥ १४७ ॥ १४८ ॥

भो गुरो ! कीदृशो जीवो नरकं याति सत्वरम् ?

प्रश्न - हे गुरो ! कैसा जीव शीघ्र ही नरक पहुंचता है?

अत्यंतकोपी कटुकप्रभाषी,
धर्मस्य देवस्य गुरोर्विरोधी ।
धूर्तः शठः प्राणिवधे प्रवृत्तो,
द्रोही च बंधोः कुलजातिलोपी ॥ १४९ ॥
दानादिधर्मेषु सदा रतानां,
सुश्रावकाणां खलु निंदको यः ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्तः,
स एव पापी नरकस्य गामी ॥ १५० ॥

उत्तर - जो अत्यंत क्रोधी है, कटुक भाषण करनेवाला है, जो देव, धर्म और गुरुका विरोधी है; जो धूर्त है, मूर्ख है; प्राणियोंकी हिंसामें सदा प्रवृत्त रहता है, जो अपने भाई बंधुओंका द्रोही है; जो कुल और जातिका लोप करनेवाला है और जो दान पूजा आदि धर्ममें सदा लीन रहनेवाले श्रेष्ठ श्रावकोंकी सदा निंदा करता रहता है; जिस जीवके ऊपर लिखे हुए भाव विद्यमान रहते हैं वही जीव पापी और नरकगामी समझना चाहिये ॥ १४९ ॥ १५० ॥

तिर्यग्गतिं च को जीवो गुरो ! गच्छति भो वद ?

प्रश्न - हे गुरो ! यह बतलाइये कि तिर्यंच गतिमें कौनसा जीव जाता है?

आचारहीनो हि विचारशून्यो,
मिथ्याप्रलापी च बहुप्रमादी ।
अभक्ष्यभक्षी विपरीतवृत्ति,
र्बह्मन्नभोजी जिनधर्मबाह्यः ॥ १५१ ॥
दंभी च लोभी विषये निमग्नो,
दानीदिधर्माद्धि सदैव दूरः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वोक्तभोवैरिति यश्च युक्त:,

स एव गंता च गतिं तिरश्चाम् ।। १५२ ।।

उत्तर - जो पुरुष आचाररहित है, विचाररहित है, सदा मिथ्या बकवाद करता रहता है, अत्यंत प्रमादी है, अभक्ष्य भक्षण करनेवाला है, अपनी प्रवृत्ति सदा धर्मसे विपरीत रखता है, जो अधिक अन्न भक्षण करनेवाला है, जिनधर्म से पराङ्मुख है, मायाचारी है, लोभी है, विषयोंमें सदा लीन रहता और दानपूजा आदि धर्मसे सदा दूर रहता है, जो जीव ऊपर कहे अनुसार अशुभ भावोंका धारण करता है उसे तिर्यंच गतिमें जानेवाला समझना चाहिये ।। १५१ ।। १५२ ।।

मनुष्ययोनिं को जीवो यातीति वद भो गुरो !

प्रश्न - हे गुरो! मनुष्ययोनिमें जाकर कौनसा जीव उत्पन्न होता है ।

यः स्वल्पलोभी विमलप्रवृत्ति:,

संसारभीरुश्च दयार्द्रचित्त: ।

बिनीतवृत्ति: समशांतियुक्तो,

धर्मप्रचारी च कुकर्मलोपी ।। १५३ ।।

रुचिं विधत्ते गुरुदेवशास्त्रे,

धर्मे सुदाने यजनेऽपि दक्ष: ।

पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्त:,

स एव धीरो नरजन्मगामी ।। १५४ ।।

उत्तर - जो जीव बहुत ही कम लोभ करता है, जो अपनी प्रवृत्तिको सदा निर्मल रखता है, जो संसारसे भयभीत है, जिसका हृदय सदा दयालु बना रहता है, जो सदा विनयपूर्वक रहता है, जो समता और शांतिको सदा धारण करता रहता है, धर्मका प्रचार करता रहता है, कुकर्मोंको नष्ट करता रहता है, देव शास्त्र गुरुमें सदा श्रद्धान धारण करता है, जो धर्म धारण करने, दान देने और पूजा करने में अत्यंत चतुर है । इस प्रकारके शुभ भावोंसे जो सुशोभित है वह धीरवीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्यगतिमें जाकर जन्म लेता है ॥ १५३ ॥ १५४ ॥

वर्गतिं कीदृशो जीवो याति भो सद्गुरो वद !

प्रश्न - हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि स्वर्गगति में कैसा जीव जाता है?

भोगाच्छरीराच्च भवाद्विरक्तो,
देशव्रती वा सकलव्रती वा ।
सम्यक्त्वयुक्तश्चरमांगहीनः,
स्वाध्यायलीनस्तपसा प्रयुक्तः ॥ १५५ ॥
निजात्मशुद्धिं स्वपरोपकारं,
कर्तुं सदा संयतते प्रयत्नात् ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्य युक्तः,
स एव भव्यो भुवि नाकगामी ॥ १५६ ॥

उत्तर - जो मनुष्य संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त है, जो देशव्रती है वा सकलव्रती है, जो सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है, परंतु जो चरमशरीरी नहीं है, जो स्वाध्यायमें लीन रहता है, तपश्चरणसे सुशोभित है और जो अपने आत्माकी शुद्धि, अपने आत्माका कल्याण तथा अन्य जीवोंका कल्याण करनेके लिये प्रयत्न पूर्वक सदा उद्योग करता रहता है । इस प्रकर जो ऊपर लिखे शुभ भावोंसे सदा सुशोभित रहता है वही भव्य स्वर्ग जानेवाला समझना चाहिये ॥ १५५ ॥ १५६ ॥

कदृशः पुरुषो लोके मोक्षं गच्छति भो गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें कैसा मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है?

महाव्रतं वा समितिं दधानो,
निजात्मनिष्ठश्चरमांगधारी ।
कर्तुं स्वराज्यं यतते सदैव,
स्वात्मानुभूत्यां स्वपदेऽस्ति लीनः ॥ १५७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यानेन शुक्लेन च कर्महंता,

द्रष्टा प्रबोद्धा च निजात्मनो यः ।

पूर्वोक्तभोवैरिति यश्च युक्तः,

स एव योगी भुवि मोक्षभागी ॥१५८॥

उत्तर - जो मुनि महाव्रत वा समितिको धारण करते हैं, जो अपने आत्मामें सदा निमग्न रहते हैं, चरमशरीरी हैं, जो मोक्षरूप स्वराज्य करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं, स्वात्मानुभूति और स्वात्मपदमें सदा लीन रहते हैं, जो शुक्लध्यानके द्वारा कर्मोंका नाश करनेवाले हैं और अपने शुद्ध आत्माके ज्ञाता है इस प्रकार जो मुनि शुद्धभावोंसे सुशोभित हैं वेही मुनि इस संसारमें मोक्ष जाते हैं ॥ १५७ ॥ १५८ ॥

लोके सुपात्रदानेन किं जीवो लभते फलं ?

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें सुपात्रदानसे जीवोंको क्या फल प्राप्त होता है ?

सुपात्रदानेन च सर्वजन्तो-,

र्भवेत्सुपुत्रोऽपि पितापि माता ।

बंधुश्च भार्या भगिनी च पौत्रो,

देहोऽप्यरोगी परम बलायुः ॥ १५९ ॥

षट्खण्डराज्यं धनरत्नपूर्ण,

धर्मानुकूलो वरराज्यवर्गः ।

प्रभुत्वमाज्ञा भुवि मान्यतेति,

बुद्धिः समर्था शमितुं भवाग्निम् ॥ १६० ॥

एतेऽपि सर्वे वरपुण्यपूरा,

भवन्ति लोके समयानुसाराः ।

सुपात्रदानस्य शिवप्रदस्य,

सर्वोत्तमा वा महिमास्ति लोके ॥ १६१ ॥

उत्तर - सुपात्रदान देनेसे इस संसारके समस्त जीवोंको सुपुत्र, पिता,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माता, भाई, बहिन, स्त्री, पौत्र आदि पूर्ण कुटुंब प्राप्त होता है, शरीर नीरोग रहता है, बल और आयु सर्वोत्म मिलती है, धन और रत्नोंसे परिपूर्ण ऐसा छहों खंडका राज्य प्राप्त होता है, श्रेष्ठराज्य के समस्त अंग धर्मानुकूल प्राप्त होते हैं। संसारमें प्रभुता, आज्ञा और मान्यता बढ़ती है और श्रेष्ठ बुद्धि संसाररूपी अग्निको शांत करनेमें समर्थ होती है। इस प्रकार सुपात्रदान देनेसे समयके अनुसार इस संसारमें समस्त श्रेष्ठ पुण्यके समूह प्राप्त हो जाते हैं। अतएव कहना चाहिये कि मोक्ष देनेवाले इस सुपात्रदानकी महिमा इस संसारमें सर्वोत्तम मानी जाती है ।। १५९ - १६१।।

धर्म जहाति सद्दृष्टिर्निन्दया भो गुरो ! न वा ?

प्रश्न - हे गुरो ! सम्यग्दृष्टी पुरुष अपनी निंदा होनेपर धर्म को छोड़ देता है वा नहीं ?

यथैव लोके सविता खरत्वम्,
शशी च शीतं कुसुमं सुगंधम् ।
इक्षुश्च दुग्धं मधुरत्वमेवं,
निम्बो कटुत्वं च विषं हि सर्पः ।। १६२ ।।
तोयं यथाधोगमनं च पापी,
वक्रां गतिं नीचजनः कदापि ।
अग्निर्यथौष्ण्यं कलहं विभावः,
चैतन्यशक्तिं सकलोऽपि जीवः ।। १६३ ।।
स्पर्शादिवर्णं खलु पुद्गलोऽपि,
कालोऽपि नित्यं परिवर्तनत्वम् ।
धर्मोऽप्यधर्मोऽपि गतिस्थितित्व-,
माकाशमेवं ह्यवकाशदानम् ।। १६४ ।।
साध्वी सुशीलं सुनृपः सुनीतिं,
साधुः स्वधर्मं न जहाति लोके ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथैव धर्मं स्तवनिन्दनेन,

सद्दृष्टिजीवो न जहाति भावात् ।। १६५ ।।

उत्तर - जिस प्रकार इस संसारमें सूर्य अपनी तीव्रताको नहीं छोड़ता, चन्द्रमां अपनी शीतताको नहीं छोड़ता, पुष्प सुगंधको नहीं छोड़ता, ईख और दूध मधुरताको नहीं छोड़ता, नमी कड़वेको नहीं छोड़ता, सर्प विषको नहीं छोड़ता, पानी नीचगति (नीचेकी ओर जाना) को नहीं छोड़ता, पापी नीच मनुष्य अपनी कुटिलताको नहीं छोड़ता, अग्नि उष्णताको नहीं छोड़ती, वैभाविक परिणाम कलहको नहीं छोड़ता, समस्त जीव चैतन्यशक्ति को नहीं छोड़ते, पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्णको नहीं छोड़ता, काल अपने परिवर्तन स्वभावको नहीं छोड़ता, धर्मद्रव्य गति हेतुत्वको नहीं छोड़ता, अधर्मद्रव्य स्थितिहेतुत्वको नहीं छोड़ता, आकाश अवकाशदानको नहीं छोड़ता, सती स्त्री अपने शीलको नहीं छोड़ती, उत्तम राजा अपनी श्रेष्ठ नीतिको नहीं छोड़ता और साधु पुरुष अपने अपने धर्मको नहीं छोड़ते उसी प्रकार इस संसारमें सम्यग्दृष्टि पुरुष भी स्तुति वा निंदा करनेपर भी अपने धर्मको कभी नहीं छोड़ते हैं ।।१६२ - १६५ ।।

कुर्वन्त्यकार्यं किं लोके स्वात्मज्ञानपराङ्मुखाः ?

प्रश्न - जो मनुष्य अपने आत्मज्ञानसे पराङ्मुख हैं वे इस संसारमें कौन कौनसे अकार्य करते हैं ?

विज्ञानशून्या नरजन्मरत्नं,

लब्ध्वापि चानन्दपदप्रदं हि ।

क्लेशादियुक्ते विषये भवाब्धौ,

क्षिपन्ति दीनाश्च कुटुम्बहेतोः ।। १६६ ।।

चिन्तामणेः कल्पतरोः समानं,

श्रीजैनधर्मं मनुजोऽपि लब्ध्वा ।

सुरक्षणार्थं स्मरकुंजरस्य,

रत्नत्रयं सौख्यमयं त्यजन्ति ।। १६७ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सद्बुद्धिरत्नं हि धनार्जनार्थ,
नियोजयन्ति व्यवहारकार्ये ।
विज्ञानहीना इह जीव लोके,
किं किं न कुर्वन्ति कुकर्मकार्यम् ।। १६८ ।।

उत्तर - जो मनुष्य आत्मज्ञानशून्य हैं और इसीलिये जो दीन कहलाते हैं वे मनुष्य आत्मजन्य आनंदामृतको देनेवाले मनुष्यजन्म रूपी रत्नको पाकर भी केवल अपने कुटम्बको पालन पोषण करनेके लिये अनंत क्लेशोंसे भरे हुए और अत्यंत विषय ऐसे संसाररूपी समुद्रमें उस मनुष्यजन्मको डुबो देते हैं पूरा करदेते हैं। उस मनुष्य जन्ममें भी चिंतामणी रत्न और कल्पवृक्षके समान अननंतसुख देने-वाले रत्नत्रयरूप श्रीजैनधर्मको पाकर उसे केवल कामदेव रूपी हाथीकी रक्षा करनेके लिये छोड़ देते हैं । इसीप्रकार श्रेष्ठ ज्ञानरूपी रत्नोको पाकर उसे धन कमानेके लिये व्यारहारिक कार्योंके लिये लगा देते हैं । अतएव कहनां पड़ता है कि आत्मज्ञान-शून्य मनुष्य इस संसारमें क्या क्या अकार्य नहीं करते हैं अर्थात् सबतरहके अकार्य कर डालते हैं ।। १६६ - १६८ ।।

मिथ्यात्वं कीदृशं लोके सम्यक्त्वं वा गुरो वद ?

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें सम्यग्दर्शन कैसा है और मिथ्यात्व कैसा माना जाता है ?

सम्यक्त्वमेवास्ति शिवप्रदं हि,
संसारमूलस्य बिनाशकं च ।
क्रोधस्य लोभस्य सुशामकं तत्,
मनोविकारस्य भवप्रदस्य ।। १६९ ।।
मिथ्यत्वमेवास्ति भवप्रदं हि,
निरोधकं मोक्षसुखादिकस्य ।
आशापिशाचस्य विवर्द्धं कं तत्,
संसारवह्नेर्विपरीतबुद्धेः ।। १७० ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर - इस संसारमें सम्यग्दर्शन मोक्ष देनेवाला है, जन्ममरणरूप संसारके कारणों को नाश करनेवाला है, क्रोधको शांत करनेवाला है, लोभको नष्ट करनेवाला है और संसारको बढ़ानेवाले मनके विकारोंको नाश करनेवाला है। इसीप्रकार मिथ्यादर्शन जन्म मरण रूप संसारको बढानेवाला है, स्वर्गमोक्ष के सुखोंको रोकनेवाला है, आशारूपी महापिशाचको बढानेवाला है संसाररूपी अग्निको बढ़ानेवाला है और बुद्धिको विपरीत कर देनेवाला वा विपरीत बुद्धिको बढ़ानेवाला है ॥ १६९ ॥ १७० ॥

सद्दृष्टेर्विपरीतस्य प्रवृत्तिः कीदृशी प्रभो !

प्रश्न - हे प्रभो ! सम्यग्दृष्टी और उसके विपरीत मिथ्या दृष्टीकी प्रवृत्ति कैसी होती है?

मिथ्यात्वमूढस्य परात्मबुद्धि,
र्मिथ्याप्रपंचो विपरीतवृत्तिः ।
भवेत्सुदृष्टेश्च निजात्मबुद्धिः,
सम्यक्प्रवृत्तिः स्वपदे निवासः ॥ १७१ ॥

उत्तर - जो पुरुष मिथ्यात्वसे अज्ञानी हो रहा है उसकी बुद्धि सदा परपदार्थोंमें लीन रहती है, उसका प्रपंच वा भावनाएं सब मिथ्या होती है, और उसकी प्रवृत्ति भी सदा विपरीत रहती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टीकी बुद्धि अपने आत्मामें लीन रहती है, उसकी प्रवृत्ति यथार्थ रहती है और उसके आत्माका निवास अपने आत्मामें रहता है ॥ १७१ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रलक्ष्म किं ब्रुहि मे गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! अब मेरे लिए वह बतलाइये कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका लक्षण क्या है?

देवस्य शास्त्रस्य गुरोर्यथाव,
च्छ्रद्धा स्वधर्मस्य सुदर्शनं तत् ।
जीवादितत्त्वस्य यथास्थितस्य,
द्रव्यदिकस्यापि यथार्थबोधः ॥ १७२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यक्त्वाऽशुभं दु:खमयं कदर्यं,
प्रवर्तनं पुण्यमये शुभे च ।
सदैव शुद्धे स्वपदे स्थिरत्वं,
चारित्रमेवास्ति तदेव सम्यक् ॥ १७३ ॥
किंवा सुदृक् स्वात्मरुचिर्यथार्थं,
सुज्ञानमेवास्ति निजात्मबोध: ।
शुद्धेऽमले स्वात्मनि वा स्थिरत्वं,
चारित्रमेवास्ति तदेव लोके ॥ १७४ ॥

उत्तर - देव, शास्त्र, गुरु और अपने जिनधर्मका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । यथार्थ स्वरूपको धारण करनेवाला जीवादिकके तत्त्वोंका अथवा द्रव्योंका यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है । इसी प्रकार अशुभ वा पापमय तथा दु:खमय और लोभरूप अपनी प्रवृत्तिका त्याग कर पुण्यमय शुभ कार्योंमें अपनी प्रवृत्ति रखना अथवा अपने शुद्ध आत्मामें स्थिर हो जाना ही सम्यक् चारित्र कहलाता है । अथवा अपने शुद्ध आत्माकी यथार्थ रुचि होना निश्चय सम्यग्दर्शन है, अपने शुद्ध आत्माका यथार्थ ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है और अपने निर्मल शुद्ध आत्मामें स्थिर हो जाना, लीन होजाना निश्चय सम्यक् चारित्र है इसप्रकार इन तीनोंका लक्षण है ॥ १७२ - १७४ ॥

हिताहितं न जानन्ति के वा केषां जगद्गुरो:

प्रश्न - हे जगद्गुरो इस संसारमें कौन से जीव किन किन का हिताहित नहीं जानते हैं?

राजा प्रजानां जिनधर्महीनो,
हिताहितं नैव कदापि वेत्ति ।
सतां नृपाणां सचिवोऽपि मूर्ख:,
तथा च पत्यु: कुटिलापि भार्या ॥ १७५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिंहः पशूनां च खलः सतां हि,
हिताहितं नैव कदापि वेत्ति ।
तथैव चौरा वरधार्मिकाणां,
कौ निर्बलानां बलवान् हि पापी ॥ १७६ ॥
वा निर्धनानां धनवान्न वेत्ति,
हिताहितं धर्मविधेः कुधर्मी ।
तथा ह्यसूनां कृपणो न वेत्ति,
स्वार्थी च केषामपि वेत्ति नैव ॥ १७७ ॥
मिथ्यात्वमूढः स्वहितं न वेत्ति,
चारित्रमोहान्न च दृष्टिपूतः ।
हिताहितज्ञानकरीं सुबुद्धि-,
मेभ्यो जिनेन्द्रः सततं ददातु ॥ १७८ ॥

उत्तर - जिनधर्मसे रहित राजा प्रजाके हित अहितको कभी नहीं जान सकता, मूर्ख मंत्री सज्जन राजाके हिताहित को नहीं जानता, कुटिल स्त्री अपने पतिके हिताहित को नहीं जानती, सिंह पशुओंके हिताहितको नहीं जानता और दुष्ट पुरुष सज्जनोंके हिताहितको कभी नहीं जानते । इसीप्रकर चोर श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुषोंके हिताहितको कभी नहीं जानते और पापी बलवान् पुरुष इस पृथ्वीपर निर्बलोंके हिताहितको नहीं जानते, अथवा धनवान पुरुष निर्धनोंके हिताहित को नहीं जानते, और कुधर्मी पुरुष धर्मानुष्ठानोंके हिताहित को कभी नहीं जानते । इसीप्रकार कृपण पुरुष अपने प्राणोंका भी हिताहित नहीं जानते और स्वार्थी पुरुष किसीके हिताहितको नहीं जानते । इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष अपने आत्माके हितको भी नहीं जानते और चारित्रमोहनीय का उदय होनेपर सम्यग्दृष्टि जीव भी अपने आत्माका हित नहीं जानते । अतएव भगवान जिनेन्द्रदेव इन जीवोंको हिताहितका ज्ञान प्रगट करानेवाली सुबुद्धि सदा देते रहें ॥ १७५ - १७८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवत्यवर्णवादात्किं जिनादीनां गुरो वद ?

प्रश्न - हे गुरो ! जिनेद्रदेव आदि के अवर्ण बाद करनेसे क्या होता है सो बतलाइये ?

अवर्णवादान्नरको जिनस्य,
भवेद्धि साधोरपवादयोगात् ।
धर्मस्य भूपस्य च निन्दया वा,
भ्रान्तिर्भवे स्यान्निजमृत्युरेव ॥ १७९ ॥
भीमे भवाब्धौ भ्रमणं भवेद्धि,
पूजा सुदानस्य च निंदया वा ।
शुद्धात्मनस्तत्त्वविचिन्तनस्य,
प्रणिंदयाशांतिरगाधचिन्ता ॥ १८० ॥

उत्तर - भगवान् जिनेन्द्रदेवका अवर्णवाद वा निंदा करनेसे नरककी प्राप्ति होती है, इसी प्रकार साधुकी निंदा करनेसे भी नरककी प्राप्ति होती है । धर्मकी निंदा करनेसे संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है, राजाकी निंदा करनेसे अपनी मृत्यु होती है, भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा और पात्रदानकी निंदा करनेसे अत्यंत भयानक ऐसे संसाररूपी समुद्र में परिभ्रमण करना पड़ता है, शुद्ध आत्मा की निंदा करनेसे आत्मामें भारी अशांति बढ़ जाती है तथा तत्त्वचिन्तन वा ध्यानकी निंदा करनेसे अगाध चिंता बढ़ जाती है ॥ १७९ ॥ १८० ॥

नरत्वं प्राप्य किं लोके करणीयं जनैर्गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें मनुष्यजन्म को पाकर लोगोंको क्या करना चाहिए ?

पुण्योदयादेव नृजन्म लब्ध्वा,
भव्यैः प्रमादः स्वपदे न कार्यः ।
कुटुम्बवर्गे सकलेऽपि नष्टे,
षट्खण्डराज्ये सुमनोहरेऽपि ॥ १८१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वाध्यायमें यजने सुदाने,
ध्याने सुकार्यऽपि सदा पवित्रे ।
ज्ञात्वेति शीघ्रं निजसाधने हि,
नियोजनीया स्वपदे सुबुद्धिः ॥ १८२ ॥

उत्तर - भव्य जीवोंको अपना समस्त कुटुंब वर्ग और मनोहर श्रेष्ठ छहो खंडका राज्य आदि सर्वस्य नष्ट होनेपर भी पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त हुए इस मनुष्यजन्मको पाकर अपना आत्मकल्याण करनेमें-शुद्धात्माकी प्राप्ति करनेमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये । इसी बातको अच्छीतरह समझकर भव्य जीवोंको अपनी सुबुद्धि स्वाध्यायमें, धर्ममें, पूजामें, पात्रदानमें, ध्यानमें अन्य पवित्र पुण्य-कार्यों में, आत्माको शुद्ध करनेके साधनों में और शुद्ध आत्मामें सदा के लिये बहुत शीघ्र लगा देनी चाहिये ॥ १८१ ॥ १८२ ॥

तत्त्वविज्ञानशून्यः क्व जनो भ्रमति नृत्यति ?

प्रश्न - हे प्रभो ! तत्त्वज्ञानरहित मनुष्य कहां कहां भ्रमण करता है और कहां २ नृत्य करता है ?

अस्यास्मि कर्ता हि ममेदमेव,
कार्यं च नेता जनबांधवानाम् ।
भृत्या ममैते भुवनं च राज्यं,
मिथ्यात्वदोषादिति मन्यमानः ॥ १८३ ॥
सन् स्वात्मशून्यो जिनधर्मबाह्यः,
सदैष जीवो विकलो वराकः ।
भ्रमत्यचिन्त्ये विषमे भवाब्धौ,
क्लेशप्रदे नृत्यति कर्मजाले ॥ १८४ ॥

उत्तर - मैं इस कामका करनेवाला हूं, यह काम मेरा है, मैं अपने कुटुंब परिवारका नेता हूं, ये मेरे सेवक हैं और यह देश तथा राज्य मेरा है । इसप्रकार मिथ्यात्व के दीपसे माननेवाला आत्मज्ञानरहित नीच और व्याकुल यह जीव जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिंतन करनेमें भी न आवे ऐसे क्लेश देनेवाले और विषय-संसाररूपी समुद्रमें परिभ्रमण किया करता है और कर्मोंके जालमें सदा नृत्य किया करता है ।। १८३ ।। १८४ ।।

भो गुरो ! नरकाद्यायुर्बध्यते केन हेतुना ?

प्रश्न - हे गुरो! नरकादिक आयु का बंध किन किन कारणोंसे होता है।

श्वभ्रस्य चायुर्बहुजीवघातै,
रायुस्तिरश्चां कुटिलैः कुभावैः ।
मिश्रैर्नराणां च शुभैः सुराणां,
निजात्मबाध्यैः सकलैश्च जीवैः ।। १८५ ।।
भ्रांतिप्रदं क्लेशकरं यदायु,
स्तद्बध्यते मोहविशेषतो हि ।
पूर्वोत्कभावैः खलु यश्च मुक्तः,
स बध्यते नैव कदापि काले ।। १८६ ।।

उत्तर - अधिक जीवोंकी हिंसा करनेसे नरक आयुका बंध होता है, कुटिल और अशुभ परिणामोंसे तिर्यंचायुका बंध होता है, शुभ और अशुभ मिले हुए परिणामोंसे मनुष्यका बंध होता है और शुभ परिणामोंसे देवायुका बंध होता है। इसप्रकर आत्मज्ञान-रहित संसारी समस्त जीव आयुकर्म का बंध करते रहते हैं। संसारमें परिभ्रमण करानेवाले और दु:ख देनेवाले आयु कर्मका बंध प्राय:मोहकी विशेषतासे होता है और इसलिये जो जीव ऊपर कहे हुए भावोंसे सर्वथा रहित है वही किसी समयमें भी कर्मोंका बंध नहीं करता है ।। १८५ ।। १८६ ।।

सम्यक्त्वयुक्ता जानन्ति स्वकीयं दर्शन न वा ।

प्रश्न - सम्यग्दृष्टि जीव अपने सम्यग्दर्शन को जानते हैं वा नहीं ।

ध्रुवं स्वसम्यक्त्वरविं सुभाव्या,
स्वबोधनेत्रैः प्रविलोकयन्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैराग्यसंवेगशुभस्वभावा -

च्छ्रद्धादिचिह्नैश्च तथा परेषाम् ॥ १८७ ॥

उत्तर - भव्य जीव अपने सम्यग्दर्शन रूपी सूर्यको अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंसे देखते हैं अथवा वैराग्य, संवेग, शुभस्वभाव और श्रद्धा आदि चिन्होंसे भी जानलेते हैं। इसीप्रकार वैराग्य, संवेग, शुभस्वभाव और श्रद्धा आदि चिन्होंसे दूसरोंके सम्यग्दर्शनको भी जानलेते हैं ॥ १८७ ॥

कः सुपुत्रः कुपुत्रो वा भो गुरो ! वद साम्प्रतम् ?

प्रश्न - हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि सुपुत्र कौन है और कुपुत्र कौन है?

पूजादिदाने स्वपरोपकारे,

धर्मार्जने यस्य सदा प्रयत्नः ।

स्ववंशवृद्ध्यै यतते स्वयं यो,

निजात्मसिध्द्यै जिनधर्मवृध्द्यै ॥ १८८ ॥

स एव लोके सुजनः सुपुत्रो,

विश्वस्य हर्षाय यथैव मेघः ।

पूर्वोक्तकार्यस्य च यो विरोधी,

स एव पापी कुटिलः कुपुत्रः ॥ १८९ ॥

उत्तर - जो पुरुष देवपूजा करने और पात्रदान देनेके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है, तथा अपने आत्माका कल्याण और अन्य जीवोंका कल्याण करनेका प्रयत्न करता रहता है और जो धर्मके उपार्जन करनेका सदा प्रयत्न करता रहता है, इसीप्रकार जो अपने वंशकी वृद्धि करनेके लिये, अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये और जिनधर्मकी वृद्धि करनेके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है वही सज्जन पुरुष इस संसारमें सुपुत्र कहलाता है। जिसप्रकार मेघकी वर्षासे समस्त संसार हर्षित होता है उसीप्रकार उस सुपुत्रसे समस्त संसार हर्षित होता है। तथा जो पुरुष इन ऊपर लिखे कार्योंसे विरोध करता रहता है वह कुटिल और पापी कुपुत्र कहलाता है ॥ १८८ ॥ १८९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्गतेर्भयं कस्माद्विद्यते वद भो गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि चारों गतियों को किसमे भय लगता है?

अनीतियुक्तस्य भयं सुनीतेः,
कुज्ञानजालस्य भयं सुबोधात् ।
जीवस्य मिथ्यात्वयुतस्य भीतिः,
सम्यक्त्वसूर्याच्च खलस्य साधोः ।। १९० ।।

कुवृत्तमार्गस्य भयं भवेद्वा,
स्वाचारमार्गात्कुसृतेः सुमार्गात् ।
स्वात्मानुभूतेश्च चतुर्गतीनां,
स्वस्थानवासाद्विपस्य भीतिः ।। १९१ ।।

उत्तर - जो पुरुष अनीति करता रहता है उसको श्रेष्ठ नीतिसे सदा भय लगता रहता है, इसीप्रकार मिथ्या ज्ञानके समूहको सम्यग्ज्ञान से भय लगा रहता है, मिथ्यादृष्टि जीवको सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यसे भय लगा रहता है, दुष्टको सज्जनसे भय लगता है, मिथ्याचारित्रके मार्गको सम्यक्चारित्रके मार्गसे भय लगा रहता है । कुमार्गको सुमार्ग से भय लगता है, चारों गतियोंके स्वात्मानुभूतिसे भय लगता है और अपने आत्मस्थानमें न रहनेवाले लोगोंको अपने आत्मा में निवास करनेवालों से सदा भय लगा रहता है ।। १९० ।। १९१ ।।

कोऽसौ सारो धनादीनां लोके वा कथ्यते जनैः ?

प्रश्न - इस संसारमें लोग धनादिका सार क्या समझते हैं?

व्ययः सुपात्रे हि धनस्य सारो,
बुद्धेश्च सारोऽस्ति निजात्मबोधः ।
व्रतादिकानां सुखशांतिदानां,
देहस्य सारो ग्रहणं यथावत् ।। १९२ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुखस्य सारो जिनशास्त्रपाठः,
संसारबंधत्यजनं हि लोके ।
नृजन्मसारो ह्यवगम्य चैवं,
पूर्वोक्तरीतिः खलु पालनीया ।। १९३ ।।

उत्तर - धनका सार वा फल सुपात्रोंमें खर्च करना है, बुद्धिका सार अपने आत्माका ज्ञान है, शरीरका सार सुख और शांति देनेवाले व्रतादिकोंका ग्रहण करना है, मुखका सार भगवान जिनेन्द्र देवके कहे हुए शास्त्रोंका पाठ करना है और मनुष्यजन्मका सार इस संसारमें संसारके बंधनोंका त्याग करना है । इस प्रकार समझकर ऊपर लिखे अनुसार रीतिका पालन करना चाहिये, अर्थात् सबका सारभाग ग्रहण करना चाहिये ।। १९२ ।। १९३ ।।

मूर्खोऽसाधुर्दरिद्री कः को वा दासश्च कथ्यते ?

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें कौन मूर्ख है, कौन असाधु है, कौन दरिद्री है और कौन दास है ?

सुपात्रदानेन बिना धनाढ्योऽ,
प्यत्यन्तपापी च सदा दरिद्री ।
स्वात्मानुभूत्या स्वपदेन हीनो ।
यः साधुरेवापि भवेदसाधुः ।। १९४ ।।
मूर्खोस्ति विद्वानपि धर्मशून्यो ।
यः स्वात्माहीनो भुवि सोऽपि दासः ।
सद्ध्यानहीनो मृतवत्स जीवो,
निजात्मसौख्यस्य बिना हि दुःखी ।। १९५ ।।

उत्तर - जो पुरुष धनाढ्य होकर भी सुपात्र दान नहीं देता है वह पुरुष अत्यंत पापी और दरिद्री है, जो साधु होकर भी अपने आत्माकी अनुभूतिसे रहित है तथा अपने आत्माकी रुचिसे रहित है उसको असाधु ही समझना चाहिये । जो विद्वान होकर भी धर्मशून्य है उसको मूर्ख समझना चाहिये, जो पुरुष अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मगुणोंसे रहित है उसको दास समझना चाहिये । जो श्रेष्ठ ध्यानसे रहित है उसे मरे हुएके समान समझना चाहिये और जो पुरुष अपने आत्मसुखसे रहित है उसे महादु:खी समझना चाहिये ।। १९४ ।। १९५ ।।

शक्तोऽशक्तोऽस्ति को जीवस्त्रिकोले वद भो गुरो !

प्रश्न - हे प्रभो ! अब यह बतलाइये कि इन तीनों लोको में कौन जीव समर्थ है और कौन असमर्थ है?

य:प्राणिनां हिंसन एव दक्ष:,
पापी स शक्तोऽपि सदा ह्यशक्त: ।
कुंथ्वाद्यसूनां च नृणां पशूनां,
दक्ष: सदा पालनपोषणेऽपि ।। १९६ ।।
स शक्तिहीनोऽपि सदा सशक्तो,
य: स्यात्कुसंकल्पविकल्पमुक्त: ।
स एव शक्त: सकलेऽपि विश्वे,
वंद्य:स एवास्ति नरामरेन्दै: ।। १९७ ।।

उत्तर - जो पुरुष प्राणियोंकी हिंसा करनेमें चतुर है वह पापी समर्थ होकर भी असमर्थ कहा जाता है । तथा जो मनुष्य कुंथु आदि छोटे छोटे जीवों की और पशु वा मनुष्योंकी रक्षा करने वा उनके पालन पोषण करनेमें सदा चतुर रहता है वह बिना शक्तिके भी सशक्त गिना जाता है । अथवा जो सबतरहके संकल्प विकल्पोंसे रहित है वह मनुष्य तीनों लोकोंमें सामर्थ्यवान् गिना जाता है और वही मनुष्य इन्द्र चक्रवर्ती आदिके द्वारा वंदनीय गिना जाता है ।। १९६ ।। १९७ ।।

परवस्तु सदा त्यक्तं केन जीवेन भी गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें किस जीवने परपदार्थोंका त्याग कर दिया है?

मुक्तोऽस्ति कोपादिचतुष्टयै-
र्यस्तेनैव मुक्तं परवस्तु सर्वम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स एव लोके निजसाधकोऽस्ति

स्वर्मोक्षगामी सकलैश्च पूज्यः ॥ १९८ ॥

उत्तर - जिस मनुष्यने क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंका त्याग कर दिया है उसीने संसारके समस्त परपदार्थोंका त्याग कर दिया समझना चाहिये। तथा उसी मनुष्य को अपने आत्माको सिद्ध करनेवाला, स्वर्गमोक्षमें जानेवाला और सब जीवोंको द्वारा पूज्य समझना चाहिये ॥ १९८ ॥

कोसौ लोके ससंगोऽस्ति विसंगोऽस्ति च कः सुधीः ?

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें परिग्रह सहित कौन है और परिग्रहरहित बुद्धिमान कौन है ?

यः कोऽपि मर्त्यः सुनिजात्मभावे,

मौनेन युक्तः शुभध्यानलीनः ।

सम्यक्त्वयुक्तः सु कषायमुक्तो,

ध्रुवं ससंगोपि विसंग एव ॥ १९९ ॥

यः कोपि संकल्पविकल्पयुक्तो,

मौनेन युक्तोऽपि बहुप्रलापी ।

मिथ्याप्रपुंचैः सहितश्च यः स ।

सदा विसंगोऽपि ससंग एव ॥ २०० ॥

उत्तर - जो मनुष्य अपने आत्माके शुद्ध परिणामोंमें लीन रहता हैं, जो मौन धारण करता है, शुभ ध्यानमें लीन रहता है, जो सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है और कषायोंसे रहित है वह मनुष्य अवश्य ही परिग्रहसहित होनेपर भी परिग्रहरहित माना जाता है। तथा जो मनुष्य अनेक संकल्प विकल्प करता रहता है, मौन धारण करनेपर बहुत बोलता है और जो अनेक मिथ्याप्रपंच करता रहता है वह परिग्रहरहित होनेपर भी परिग्रहसहित ही कहा जाता है ॥ १९९ ॥ २०० ॥

किं फलं ध्यानस्वाध्यायदान भक्तिव्रतस्य च ?

प्रश्न - हे गुरो ! ध्यान, स्वाध्याय, दान, भक्ति और व्रतोंका फल क्या है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दत्तस्य दानस्य कृते: कृताया,
भक्ते: स्वसिद्धे: परिणामशुद्धे-।
व्रतोपवासस्य कृतस्य शक्त्या,
ध्यानस्य योगस्य धृतस्य भक्त्यां ॥ २०१ ॥
श्रुतस्य शास्त्रस्य नते:सुबुद्धे,
स्तपोजपै र्मंत्रविधे: कृतस्य ।
सुपालितायाः समितेश्च गुप्ते:
स्वाध्यायधर्मस्य सुसंयमस्य ॥ २०२ ॥
मृत्योश्च काले भवदु:खदस्या-,
न्यवस्तुनो विस्मरणं च बंधोः ।
स्वानन्दपिण्डस्य निजात्मनो हि,
चिन्मात्रमूर्ते: स्मरणं फलं हि ॥ २०३ ॥

उत्तर - हे वत्स! भक्ति पूर्वक पात्रदान देनेका, देवपूजा करनेका, आत्माकी सिद्धि करनेका परिणामोंको शुद्ध रखनेका, शक्तिके अनुसार व्रत उपरास करनेका, भक्तिपूर्वक ध्यान धारण करने और योगधारण करनेके, शास्त्रोंके सुननेका, नम्रता वा विनय धारण करनेका, श्रेष्ठ बुद्धिका, तपश्चरण करने, जप जपने और मंत्रोंकी विधियों के करनेका, समितियोंके पालन करनेका, गुप्तियोंके पालन करनेका, स्वाध्याय करनेका, धर्मधारण करनेका और संयम पालन करनेका फल, मरणके समयमें संसारके दु:खोंको देनेवाले अन्य समस्त पदार्थोंको भूल जाना, भाई बंधु आदि मोह बढ़ानेवालोंको भूल जाना और चैतन्यस्वरूप अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनंदामृत पिंडका स्मरण करना समझना चाहिये ॥ २०१ - २०३ ॥

पूजितः पीडितः सद्भिः खलैः साधुः करोति किम् ?

प्रश्न - यदि कोई सज्जन साधुओंकी पूजा करता है वा कोई दुष्ट साधुओं को पीड़ा पहुंचाता है तो दोनों अवस्था में साधु क्या करते हैं?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकश्च साधोः क्षिप्तीह कण्ठे,
सर्पं द्वितीयश्च करोति पूजाम् ।
निंदां तृतीयोऽपि करोति पापी,
स्तवं चतुर्थः प्रकटीकरोति ।। २०४ ।।
करोति सेवां खलु पंचमोऽपि,
खड्गन षष्ठोऽथ वपुर्भिनत्ति ।
सर्वेऽप्यमी स्तावकनिन्दका भोः,
सुवंचकाः सन्ति यथार्थदृष्ट्या ।। २०५ ।।
ज्ञात्वेति धीरो रमते स्वधर्मे,
स्थिरे निजानन्दपदे विशुद्धे ।
अत्यंतशुद्धे हि निजप्रदेशे,
स्वर्मोक्षदस्तिष्टति विश्वबन्द्यः ।। २०६ ।।

उत्तर - कोई एक पुरुष तो साधुके गेलेमें सर्प डाल देता है, कोई दूसरा मनुष्य उनकी पूजा करता है, तीसरा कोई पापी आकर उनकी निंदा करता है, चौथा पुरुष आकर उनकी स्तुति करता है, पांचवा कोई पुरुष आकर उनकी सेवा करता है, अन्य छठा मनुष्य आकर अस्त्र शस्त्रोंसे उनके शरीरको छेद डालता है परंतु उन अवस्थाओंमें वे साधु यही समझते है कि इस पृथ्वीपर ये स्तुति या निंदा करनेवाले सब बोग यथार्थ दृष्टिसे देखे जाय तो ठगनेवाले हैं । यही समझकर तीनों लोकोंके द्वारा वंदना करने योग्य और स्वर्ग मोक्ष देनेवाले वे धीरवीर साधु सदा स्थिर रहनेवाले अपने आत्मधर्म में क्रीडा करते हैं, अत्यंत शुद्ध और अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनंदामृतपदमें क्रीडा करते हैं और अत्यंत शुद्ध ऐसे अपने आत्मप्रदेशोंमें स्थिर रहते हैं । ।। २०४ - २०६ ।।

सुशीलानां सतां कीदृक् स्वभावोऽस्ति जगद्गुरो !

प्रश्न - हे जगद्गुरो ! इस सांसर में शीलवती स्त्रियोंका तथा सज्जनोंका स्वभाव कैसा होता है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथाम्रशाखी सहते शिलां च,
क्षिप्तां व्यथादां हि तथापि तस्मै ।
स एव जीवाय फलं पदाति,
मिष्टं सुपुष्टं हि मनोहरं च ॥ २०७ ॥
अधौतदेहं मलिनं च वस्त्रं,
नदी यथातीव शुचीकरोति ।
पूजादिदानस्य सुयोग्यमेव,
ददाति धेनुर्मधुरं पयो वा ॥ २०८ ॥
नारी सुशीला सुजनो हि साधुः,
सर्व च दुःखं सहतेऽन्यदत्तम् ।
दत्तापवादं कृतरोषदोषं,
कृतापमानं निजशान्तवृत्त्या ॥ २०९ ॥
न केवलं यः सहते हि किंतु,
तेषां हि चित्ते सुजनत्वबीजं ।
सुशीलबीजं सुजनः सुशीला,
सद्बुद्धिबीजं वपतीति साधुः ॥ २१० ॥

उत्तर - जिसप्रकार आम्रका वृक्ष नीचेसे फेंकी हुई और दुःख देनेवाली पत्थरकी चोटको सहता है तथापि वह वृक्ष उस पत्थर फेंकनेवाले पुरुषको मनोहर पौष्टिक और अच्छे मीठे फल देता है, तथा नदी भी सरीर धोनेवाले को और मलिन वस्त्रों को अत्यंत पवित्र कर देती है, तथा गाय घास भूस खाती है और दान पूजाके योग्य दूध, देती है । उसी प्रकार सुशीला स्त्री और सज्जन साधु दुसरोंके द्वारा दिये हुए सबतरहके दुःखोंको सहते हैं, जो कोई उनका अपवाद करता है, उनको दोष लगाता है, या उनपर क्रोध करता है वा उनका अपमान करता है, उस सबको वह सुशीला स्त्री और सज्जन साधु अपनी स्वभाविक सांतवृत्तिसे सहन कर लेते हैं । वह सुशीला स्त्री और सज्जन साधु दुसरोंके दिये हुए दुःखोंको सहन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करके ही नहीं रहजाते हैं किन्तु उन दु:ख देनेवालोंके ह्दयमें सुशीलता और सज्जनताका बीज बो देते हैं तथा वेही साधु उन दुष्टोंके ह्दयमें श्रेष्ठ बुद्धिका बीज बो देते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा है ॥ २०७ - २१०॥

स्वात्मा विलोक्यते चाक्षे: स्वात्मना मनसाथवा ?

प्रश्न - हे गुरो ! यह अपना आत्मा इंद्रियोके द्वारा देखा जाता है वा मनके द्वारा देखा जाता है अथवा अपने ही आत्माके द्वारा देखा जाता है ?

इंद्रियैर्मनसात्मानं ज्ञातुं द्रष्टुं सुखाय च ।
मूढा जना यतन्ते ये मुख्या सूर्खेषु ते मता: ॥ २११ ॥
वाक्कायमानसाक्षैश्च पुद्गलानेव केवलम् ।
रसस्पर्शात्मकं द्रष्टुं ज्ञातुं वा शक्नुवन्ति च ॥ २१२ ॥
चिन्मात्रमूर्तिमात्मानं नैव स्पर्शादिवर्जित्म ।
आत्मावलोकने ज्ञेयमात्मवोधे परोक्षत: ॥ २१३ ॥
वाक्कायमानसाक्षाणां साहाय्यमात्रमेव च ।
आत्मना चात्मने चात्मात्मानमात्मनि चारमन: ॥ २१४ ॥
विलोकनं परिज्ञानं भवेदेव स्वभावत: ।
यथा दीपस्य साहाय्याद् घटादि प्रविलोक्यते ॥ २१५ ॥
तथात्मनैव स्वात्मेति सिद्ध एव प्रमाणत: ।
मन्यते स्वात्मनिष्ठेन कुंथुसागरयोगिना ॥ २१६ ॥

उत्तर - मूढ बुद्धिको धारण करनेवाले जो पुरुष अपना आत्मसुख प्राप्त करनेके लिये इन्द्रिय और मनके द्वारा आत्माको देखना वा जानना चाहते हैं उन्हें मूर्खोंमें भी मुख्य समझना चाहिये । क्योंकि ये संसारी जीव मन वचन और इन्द्रियोंसे रूप रस गंध स्पर्श युक्त पुद्गलको ही देख वा जान सकते हैं, चैतन्य स्वरूप आत्मा रूप, रस-गंध, स्पर्शसे रहित है इसलिये उसको वे मन वचन काय वा इन्द्रियों से नहीं देख वा जान सकते । परीक्षरूपसे आत्माको देखने और जाननेमें मन वचन काय और इन्द्रियोंको सहायक मात्र समझना चाहिये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वास्तवमें देखा जाय तो यह आत्मा अपने आत्माके सुखके लिये अपने आत्मा को अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माके ही स्वभावसे देखता और जानता है । जिस प्रकार दीपककी सहायतासे घटादिक पदार्थ जाने जाते हैं उसी प्रकार यह आत्मा ही आत्माके द्वारा जाना जाता है यह बात प्रमाणसे सिद्ध है । अपने आत्मामें लीन रहनेवाले मुनिराज कुंथुसागरजी भी इस प्रकार मानते हैं ॥ २११ - २१६ ॥

कीदृशं शस्यते ज्ञानं जिनैर्वद जगद्गुरो !

प्रश्न - हे जगद्गुरो ! भगवान जिनेन्द्रदेव कैसे ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं ?

मिथ्यात्वं क्षयते येन स्वात्मतत्त्वं विबुध्येते ।
चितं निरुध्यते येन खतृष्णा नाश्यते जवात् ॥ २१७ ॥
येन शुद्धो भवेदात्मा येनाविद्या विनश्यति ।
येन प्रणाश्यते रागः स्वरसो येन पीयते ॥ २१८ ॥
मैत्री प्रवर्त्यते येन द्रोहो लोभो विहन्यते ।
येनाशा हन्यते शीघ्रं स्वसुखं येन भुज्यते ॥ २१९ ॥
संसारो मुच्यते येन स्थियते स्वपदेऽचले ।
स्वमोंक्षदैर्जिनैः प्रोत्कं ज्ञानं श्रेष्ठं तदेव हि ॥ २२० ॥
आहारं मैथुनं निद्रा भयं सर्वेषु विद्यते ।
सम्यग्ज्ञानेन मर्त्योऽयं शोभते तद्विना पशुः ॥ २२१ ॥

उत्तर - जिस ज्ञानसे मिथ्यात्व नष्ट हो जाय, जिससे आत्मतत्त्वका ज्ञान हो जाय, उससे मनकी चंचलता रुक जाय और जिस ज्ञानसे शीघ्र ही इन्द्रियोंकी तृष्णा नष्ट हो जाय, जिस ज्ञानसे आतमा शुद्ध हो जाय, जिस ज्ञानसे अविद्या वा मिथ्याज्ञान नष्ट जाय, जिससे राग नष्ट हो जाय, जिस ज्ञानसे शुद्ध आत्मजन्य आनन्दरसका पान होता रहे, जिस ज्ञानसे समस्त जीवोमें मित्रता बढ जाय, जिससे लोभ और द्रोह नष्ट हो जाय, जिससे आशा शीघ्र नष्ट हो जा, जिससे यह आत्मा शीघ्रही अपने आत्मजन्य सुखको भोगता रहे, जिस ज्ञानसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह जन्ममरण रूप संसार नष्ट हो जाय और जिस ज्ञानसे यह आत्मा अपने निश्चल शुद्ध आत्मामें लीन हो जाय, उस ज्ञानको स्वर्गमोक्ष देनेवाले भगवान जिनेन्द्रदेव श्रेष्ठ ज्ञान वा सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आहार, मैथुन, निद्रा और भय ये सब जीवोंमें रहते हैं परंतु इस मनुष्यकी शोभा सम्यग्ज्ञानसे ही होती है। सम्यग्ज्ञानके बिना यह मनुष्य पशुके समान समझा जाता है ॥ २१७ - २२१ ॥

दानं ददाति यो नैय तस्य द्रव्यस्य का गतिः ?

प्रश्न - जो मनुष्य दान नही देता उसके धनकी क्या गति होती है ?

धनं लब्ध्वापि पुण्येन पित्रे मात्रे न धर्मिणे ।
न ददाति सुपात्राय स्वयमप्यत्ति नैव यः ॥ २२२ ॥
कौ धनं पापिनस्तस्य शिलावत्प्रतिभाति मे ।
चौरो नयति राजा वा स्वयंनश्यति वा जवात् ॥ २२३ ॥

उत्तर - जो मनुष्य अपने पुण्यकर्म के उदयसे धनको पाकर भी माता पिता वा धर्मात्माके लिये नही देता, न सुपात्रदानमें उसे खर्च करता है और न स्वयं खाता पीता है उस पापी का धन गढे हुए पत्थरके समान समझना चाहिये। उस धनकी या तो चोर चुरा ले जाते हैं अथवा राजा हरण कर लेता है, अथवा शीघ्र ही वह अपने आप नष्ट हो जाता है ॥ २२२ ॥ २२३ ॥

प्राप्य बोधिं न च ध्नन्ति कर्मारीन् की दृशाश्चते ?

प्रश्न - हे गुरो ! जो पुरुष रत्नत्रयको पाकर भी कर्मरूपी शत्रुओंका घात नही करते वे मनुष्य कैसे हैं ?

लब्ध्वापि दुर्लभां बोधिं संसारक्लेशानाशिनम् ।
कर्मशत्रून् खलान् भीमान् ये जयन्ति न यत्नतः ॥ २२४ ॥
जेतुं ये प्रयतन्ते न न परान् प्रेरयन्त्यपि ।
इच्छानुसारदं लब्ध्वा चिंतारत्नं मनोहरम् ॥ २२५ ॥
क्षेपन्त्येव भवाब्धौ वा कामधेनुं सुकामदाम ।
त्यजन्ति गहनेऽरण्ये ये स्वकल्पानुसारदम् ॥ २२६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्पवृक्षं च लब्ध्वापि दहान्ति सहसैव ते ।
नृजन्मवल्लिमेवापि मन्ये छिन्दान्ति ते ध्रुवम् ॥ २२७ ॥

उत्तर - जो मनुष्य अत्यंत दुर्लभ और संसारके क्लेशोंकी नाश करनेवाले र्तनत्रयको पाकर भी अत्यंत दुष्ट और भयंकर ऐसे क्रमरूप-शत्रुओंको यत्नपूर्वक नहा जीतते हैं अथवा उनको जीतने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करते हैं और न उनकी जीतनके लिये दूसरोंकी प्रेरणा करते हैं वे मनुष्य इच्छानुसार फल देनेवाले मनोहर चिन्तामणि रत्नको पाकर भी उसे संसारपूपी समुद्रमें फेंक देते हैं । अथवा इच्छानुसार फल देनेवाली कामधेनुको गहन वनमें छोड देते हैं । अथवा कल्पनाके अनुसार फल देनेवाले कल्पवृक्षकी पाकर भी बहुत शीघ्र उसे जला देते हैं । इसीप्रकार रत्नत्रयको पाकर कर्मोको नष्ट न करनेवाले मनुष्य भी मनुष्यरूपी वेलको निश्चयसे तोड देते हैं ऐसा मैं समझता हूं ॥ २२४ - २२७ ॥

सर्रशास्त्रं पठित्वाएि धर्मश्रद्धांकरोति न ॥
कीदृशः कथ्यते लोके भो गुरो ! वद साम्प्रतम् ?

प्रश्न - हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि जो मनुष्य समस्त शास्त्रोंको पढकर भी धर्म की श्रद्धा नही करता है वह मनुष्य इस संसारमें कैसा गिना जाता है ?

शद्बशास्त्रं कलाशास्त्रं धर्मशास्त्रं सुखप्रदम् ।
सर्वं शास्त्रं पठित्वापि प्रमाणनयभूषितम् ॥ २२८ ॥
न्यायाचार्योऽपि भूत्वा यः श्रेष्टो मुनिरपि स्वयम् ।
सुधीमानपि वर्योऽपि पण्डितो निपुणोऽपि स्न ॥ २२९ ॥
व्यवहारमिह ज्ञात्वा निश्चयं चापि वस्तुतः ।
षड्द्रव्याण्यपित बुद्ध्वेति स्वतत्त्वमपि चिह्नतः ॥ २३० ॥
स्वात्मानुष्ठानमेवापि न करोति न चाचरेत् ।
श्रद्धानं जिनधर्मस्य स्वर्मोक्षदस्य भक्तितः ॥ २३१ ॥
नेत्रवानपि चान्धो हि, मूर्ख एव बुधोऽपि सः ।
विसंगोपि ससंगः स मन्येऽहं विधिवंचितः ॥ २३२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिभात्यात्मबाह्यो वा स दीर्घभवधारकः ।
करे धृत्वा यथा दीपमन्धकूपे पतेत्स्वयम् ।। २३३ ।।

उत्तर - जो मनुष्य व्याकरणशास्त्र, कलाशास्त्र, और सुख देनेवाले धर्मशास्त्रको पढकर भी तथा नय और प्रमाणोंसे सुशोभित ऐसे समस्त शास्त्रोंको पढ़कर भी तथा न्यायाचार्य होकर भी वा श्रेष्ठ मुनि होकर भी, अत्यंत बुद्धिमान होकर भी वा श्रेष्ठ और चतुर पंडित होकर भी, व्यवहार नयको जानकर भी वा यथार्थ निश्चय नयको जानकर भी अथवा छहों द्रव्योंको जानकर भी और आत्माके चिन्होंसे अपने आत्मतत्त्वको जानकर भी और आत्माके अनुष्टानका आचरण नही करते हैं अथवा स्वर्गमोक्ष देनेवाले जिनधर्मका भक्तिपूर्वक श्रद्धान नहीं करते हैं, वे नेत्रोंको धारण करते हुए भी अंधोके समान हैं, विद्वान होते हुए भी मूर्ख हैं, परिग्रहरहित होकर भी परि ग्रहसहित हैं । इसप्रकार वे अपने कर्मोंसे ठगे हुए हैं ऐसा मैं मानता हूं । वे लोग आत्मज्ञानके बाहर समझे जाते हैं अथवा दीर्घ संसारमें परिभ्रमण करनेवाले समझे जाते हैं । जिसप्रकार कोई मनुष्य होथामें दीपक लेकर भी स्वयं अंधे कूएमें गिरता है उसीप्रकार उन लोगोंकी महामूर्ख समझना चाहिये ।। २२८ - २३३ ।।

सज्जातिं च सुधर्मं वा त्यक्तवा यो पुरुषाः स्वयम् ।
निजेच्छया प्रवर्तन्ते कीदृशा वद ते गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि जो पुरुष अपनी सज्जाति और श्रेष्ठ धर्मको छोड़कर स्वयं इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हैं वे कैसे हैं?

त्यक्त्वा स्वर्मोक्षदं धर्मं श्रेष्ठां जातिं कुलं तथा ।
जनसंख्यादिवृद्ध्यर्थं विषयार्थं च केवलम् ।। २३४ ।।
यस्य कस्य समं याभिः काभिः कन्याभिरेव ये ।
कारयन्ति विवाहं चान्यायतोऽपि धनार्जनम् ।। २३५ ।।
लज्जामपि परित्यज्य केवलोदरपूर्तये ।
यत्र कुत्रापि लब्ध्वान्नं गृह्णन्ति स्वाद्वभीप्सितं ।। २३६ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ते साक्षात् पतिता: सन्ति पशव: पापिनस्तथा ।
दुर्गतिं प्राप्य ते जीवा: सहन्ते तीव्रदु:खतां ॥ २३७ ॥

उत्तर - जो लोग स्वर्ग मोक्ष देनेवाले धर्मको छोड़कर तथा श्रेष्ठ जाति और कुलको छोड़कर, केवल विषय सेवन करनेके लिये अथवा जनसंख्याको बढ़ानेके लिये जिस किसी पुरुषका जिस किसी कन्याके साथ विवाह करा देते हैं तथा अन्यायसे धनोपार्जन करते हैं और लज्जाको छोड़कर केवल पेट भरनेके लिये जहां कहीं स्वादिष्ट और इच्छानुसार मिले हुए अन्नको खालेते हैं, वे मनुष्य साक्षात् पतित हैं, पशु है और पापी हैं । ऐसे जीव दुर्गतिको पाकर महातीव्र दु:ख सहन करते रहते हैं ॥ २३४ - २३७ ॥

जनवृद्धिर्गुरो ! हेया कि लोके वद साम्प्रतम् ।

प्रश्न - हे गुरो ! क्या इस संसारमें जनवृद्धि त्याग करने योग्य है कृपाकर यह बतलाइये ।

वृद्धिर्धार्मिकमर्त्यानां वांछनीया सदा भुवि ।
सा तु धर्मोपेदेशेन बोधामृतरसेन वा ॥ २३८ ॥
मोक्षयोग्यये कुले कार्या जनवृद्धि: सदा नरै: ।
धर्मवृद्धि: कदाचिन्नोत्पन्नैर्विजातिसंकरै: ॥ २३९ ॥

उत्तर - इस संसारमें धार्मिक पुरुषोंकी वृद्धि सदा वाञ्छनीय है परंतु वह वृद्धि मनुष्योंको मोक्ष जाने योग्य कुलमें धर्मोपदेश देकर अथवा ज्ञानामृतके रसका पान कराकर करते रहना चाहिये । जो मनुष्य विजाति संकर उत्पन्न होते हैं उनसे धर्मवृद्धी कभी नहीं हो सकती ॥ २३८ ॥ २३९ ॥

अक्रमेण च सेवन्ते सन्त्यर्थान् कीदृशाश्च ते ?

प्रश्न - हे गुरो ! जो मनुष्य धर्म अर्थ काम आदि पुरुषार्थोंका बिना क्रमके सेवन करते हैं वे मनुष्य इस संसार में कैसे हैं ?

धर्मार्थादित्रिवर्गस्य सेवनं सत्सुखप्रदम् ।
प्रयत्नादविरोधेन सदेति कथितं जिनै: ॥ २४० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये पूर्वाक्तक्रमं त्यक्त्वा चलन्ति स्वेच्छया सदा ।
गृहस्था नहि योग्यास्तेऽभिभूयन्ते च भूतले ॥ २४१ ॥
केवलं धर्म एवास्ति मुख्यो मत्वेति मानवाः ।
सेवन्ते परमं धर्मं त्यक्त्वा कामं धनं तथा ॥ २४२ ॥
दीक्षामादाय ते भव्याः कुर्वन्ति परमं तपः ।
साधयन्ति च मोक्षं वा परमार्थं नरोत्तमाः ॥ २४३ ॥
धनार्जनं प्रकुर्वन्ति त्यक्त्वा धर्मं च पापिनः ।
मूलमुत्पाट्य ते मूढा इच्छन्ति फलमीप्सितम् ॥ २४४ ॥
धर्मं धनं परित्यज्य केवलं कामसेविनः ।
नश्यंति भूतले शीघ्रं हा सत्यंधरभूपवत् ॥ २४५ ॥
तस्याद्धर्माविरोधेनोपार्जयन्तु धनं सदा ।
धनं धर्माविरोधेन सेवन्तां काममंगिनः ॥ २४६ ॥
पालनीयश्चतुर्वर्गः श्रावकैरविरोधतः ।
यथा श्रावकवर्येण दयाधर्मादिमूर्तिना ॥ २४७ ॥
श्रीसत्यंधरपुत्रेण जीवकेन सुधीमता।
सुन्यायनिपुणेनेव नृसिंहेन नृपेन्दुना ॥ २४८ ॥

उत्तर - धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ सुख देनेवाले हैं । उनको प्रयत्न पूर्वक और विरोधरहित सेवन करना चाहिये ऐसा भगवान जिनेन्द्र देवने कहा है । जो लोग पूर्वोक्त क्रमको छोड़कर इच्छानुसार इनका सेवन करते हैं वे योग्य गृहस्थ नहीं कहलाते तथा वे संसारमें तिरस्कृत होते हैं । जो मनुष्य केवल धर्म पुरुषार्थको ही मुख्य मानते हैं और अर्थ वा काम पुरुषार्थको छोड़कर सर्वोत्कृष्ट धर्मका ही सेवन करते हैं व उत्तम भव्य मनुष्य दीक्षा लेकर परम तपश्चरण करते हैं और परम पुरुषार्थरूप मोक्षको सिद्ध करलेते हैं । तथा जो पापी मनुष्य धर्मको छोड़कर केवल धनोपार्जन करते हैं वे मूल वा जड़को उखाड़कर इच्छानुसार मीठे फल खाना चाहते हैं । इसीप्रकार जो पुरुष धर्म और धन दोनोंको छोड़कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवल काम सेवन करते हैं वे इस संसारमें राजा सत्यंधरके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं । इसलिये जिस प्रकार धर्ममें विरोध न आवे उसप्रकार धनको उपार्जन करना चाहिये । धन और धर्म दोनोंमे विरोध न आवे उसप्रकार कामका सेवन करना चाहिये । श्रावकोंको जिसप्रकार परस्पर विरोध न आवे उसप्रकार न पुरुषार्थोंका सेवन करना चाहिये । जो राजा जीवंधर उत्तम श्रावक था , दयाधर्म की मूर्ति था, बुद्धिमान था, मनुष्योंमें श्रेष्ठ था, राजाओंमें चन्द्रमाके समान था, श्रेष्ठ न्यायमें निपुण था और राजा सत्यंधरका पुत्र था, उसने जिसप्रकार इन पुरुषार्थोंका सेवन कर अंतमें मोक्षपुरुषार्थ सिद्ध करलिया था उसीप्रकार सबको सेवन करना चाहिये ॥ २४० - २४८ ॥

कार्य स्वास्पदयोग्यं वा ये कुर्वंति न कीदृशाः ?

प्रश्न - जो पुरुष अपने पदके योग्य कार्य को नहीं करते हैं वे कैसे हैं?

स्वपदव्यनुसारेण जिनाज्ञाप्रतिपालकाः ।
कुर्युः क्षमादिधर्मं हि दानं पूजां तपो जपम् ॥ २४९ ॥
त्यागं ध्यानोपवासं च वेषाद्याभूषणं पुनः ।
अवश्यं पालयेयुश्चाहिंसादिव्रतमुत्तमम् ॥ २५० ॥
खैरवृत्तिबिनाशार्थं पूर्वाचार्य दयालवः ।
सर्वेषां हितहेतोश्च कथयन्ति मनीषिणः ॥ २५१ ॥
मिथ्याज्ञानग्रहैर्ग्रस्ता आचार्योक्तवचोऽपि ये ।
न श्रृण्वन्ति न जानन्ति श्रुत्वापि पालयन्ति न ॥ २५२ ॥
गृहस्थकर्मणा ग्रस्ता जिनधर्मबहिः स्थिताः ।
ये चतुर्विधसंघानां भक्त्यार्हद्धर्मधारिणाम् ॥ २५३ ॥
देवशास्त्रगुरूणां न कुर्वन्ति भक्तिवन्दनाम् ।
गृहस्थोचितकार्यं न कुर्वन्ति शांतिदायकम् ॥ २५४ ॥
विद्याधनादिहीनानां दुःखदूरधर्मिणाम् ।
न कुर्वन्ति च विद्वांसो जिनधर्मप्रभावनाम् ॥ २५५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थापनं पाठशालानां वाऽविद्यानाशहेतवे ।
गृहस्थमुख्यकार्यं वा कुर्वन्ति न धनार्जम् ॥ २५६ ॥
प्रतिमाधारिण: केचित् केचिन्मूर्खा ह्युदासिन: ।
स्वंपदंव्योश्च्युताश्चैते स्वेच्छयाऽज्ञानत: स्वयम् ॥ २५७ ॥
मुनिक्रियां प्रकुर्वन्ति ब्रुवंतीति पुनश्च ये ।
मुनभ्योऽपि वयं श्रेष्ठा वयं सद्दृष्टयो ध्रुवम् ॥ २५८ ॥
मन्यमाना सदेत्येवं पापिष्ठा: क्लेशवर्द्धका: ।
देवशास्त्रगुरूणां ये जिनेशवृषधारिणाम् ॥ २५९ ॥
वा चतुर्विधसंघानां चैत्यालयादि कस्यये ।
तिरस्कारादिनिंदां वा श्रुत्वा दृष्ट्वापि चार्थत: ॥ २६० ॥
धारयंति क्षमां मौनं वा भवंति ह्युदासिन: ।
जिनेन्द्रधर्मबाह्या हि ग्रस्ता मिथ्यात्वकर्मणा ॥ २६१ ॥
कौ गर्वेणोष्ट्रवच्चास्यं तिष्ठंत्युध्दृत्य पापिन: ।
मुनयोऽपि भवन्तो ये स्वाध्यायं स्वात्मचिंतनम् ॥ २६२ ॥
स्वरस्य सदा पानमकृत्वा क्लेशनाशकम् ।
गृहस्थोचितकार्यं ये कुर्वंतिदु:खवर्द्धकम् ॥ २६३ ॥
वैरादिवर्द्धकं कार्यं सदा कुर्वंति पापिन: ।
तेऽपि निजात्मबाह्या हि ग्रस्ता मित्थात्वकर्मणा ॥ २६४ ॥
सर्वेषां हितहेतोश्चानवस्थानाशहेतवे ।
प्रोक्तं वा शिष्टपुष्टयर्थं कुंथुनाम्ना सतेति हि ॥ २६५ ॥

उत्तर - जो मनुष्य भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं, अपने अपने पदके अनुसार दान पूजा जप तप और उत्तम क्षमादिक धर्मोंका पालन करते हैं। इसीप्रकर वे मनुष्य पापोंका त्याग करत हैं ध्यान उपवास करते हैं, वेष और आभूषण भी अपने पदके अनुसार पहनते हैं और अहिंसा आदि उत्तम व्रतोंको भी अवश्य पालन करते हैं इसप्रकार उत्यंत दयालु बुद्धिमान पूर्वाचार्य समस्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवोंका हित करनेके लिये और इच्छानुसार प्रवृत्तिका नाश करनेके लिये निरूपण करते हैं। तथापि मिथ्याज्ञानरूपी ग्रहसे घिरे हुए कितने ही ऐसे पुरुष हैं जो ऊपर लिखे हुए आचार्योंके वचनोंको न सुनते हैं न जानते है तथा सुनकर भी उनके पालन नहीं करते। जिनधर्म बहिर्भूत और गृहस्थधर्ममें लीन रहनेवाले कितने ही मनुष्य ऐसे हैं जो भक्तिपूर्वक भगवान अरहंतदेवके कहे हुए धर्मको धारण करने-वाला चारों प्रकराके संघकी और देव शास्त्र गुरुओंकी भक्ति तथा वंदना नहीं करते हैं, न शांति देनेवाले गृहस्थोंके योग्य कार्योंका करते हैं। जो साधर्मी पुरुष विद्या वा धन आदिसे रहित हैं उनके दुःखोंको भी दूर नहीं करते, विद्वान होकर भी जिनधर्मकी प्रभावना नहीं करते, अविद्याको नष्ट करनेके लिये पाठशालाओंकी स्थापना भी नहीं करते और जो धन कमाना गृहस्थोंका मुख्य कार्य है उसको भी नहीं करते। इनमेंसे कितने ही प्रतिमाधारी बनते हैं और कितने ही मूर्ख उदासीन बनतें हैं परंतु अपने अज्ञानसे तथा इच्छानुसार प्रवृत्ति करनेसे वे सब स्वयं अपने अपने पदसे भ्रष्ट हो जाते हैं। उनमेंसे कितने ही तो ऐसे हैं जो मुनियोंकी क्रियाएं पालन करते हैं और कहते यह हैं कि हम लोग मुनियोंसे भी श्रेष्ठ हैं, हम अवश्य ही सम्यग्दृष्टि हैं वे पापी सदा इसी प्रकार मानते रहते और अपने आत्माको दुःखी किया करते हैं। यदि कोई पुरुष देव शास्त्र गुरुका तिरस्कार वा उनकी निंदा करता है, अथवा जिनधर्म धारण करनेवाले चारों प्रकारके संघ की निंदा वा उनका तिरस्कार करता है अथवा कोई मनुष्य चैत्य चैत्यालय आदिकी निंदा वा तिरस्कार करता है उसे सुनकर वा यथार्थ रूपसे देखकर भी ये उदासीन बने हुए प्रतिमाधारी मनुष्य क्षमा वा मौन धारण कर लेते हैं। उदासीन होकर उसकी प्रतिक्रियासे उदास हो जाते हैं ऐसे लोगोंको जिनधर्मसे बाह्य और मिथ्यात्व कर्मसे घिरे हुए समझना चाहिये। ऐसे लोग इस पृथ्वीपर अभिमान में डूबकर ऊंटके समान ऊपरको मुह उठाकर रहते हैं और प्रायःपापी होते हैं। अथवा ऐसे लोग मुनि होकर भी न स्वाध्याय करते हैं न अपने आत्माकी चिंतन करते हैं और न समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाला अपने आत्मजन्य आनंदामृतरसका पान करते हैं। किंतु मुनि होकर भी दुःख बढ़ाने वाले गृहस्थों के योग्य कार्य किया करते हैं। इसी प्रकार वे पापी लोग वैर विरोध बढ़ानेवाले कार्य किया करते हैं। उन्हें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी अपने आत्मजन्य ज्ञानसे बाहर और मिथ्यात्व कर्मसे धिरे हुए समझना चाहिये । समस्त जीवोंका हित करनेके लिये और इस प्रकारकी अनवस्थाका नाश करनेके लिये तथा शिष्ट पुरुषोंकी पुष्टि करनेके लिये अत्यंत सज्जन मुनिराज कुंथुसागर ने यह सब वर्णन किया है ॥ २४९ - २६५ ॥

इति श्री १०८ मुनिराजकुंथुसागरविरचितबोधामृत-सारग्रंथे स्फुटप्रश्नोत्तरवर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः ।

इस प्रकार मुनिराज श्री १०८ कुंथुसागरविरचित बोधामृतसार नामके ग्रंथमें स्फुट प्रश्नोत्तरोंको वर्णन करनेवाला यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावनीयोपवासोह्नि भावना का गुरो ! वद ?

प्रश्न - हे गुरो ! उपवासके दिन कौनसी भावनाकी चिंतना करना चाहिए?

यदोपवासा विमला भवेयु,
स्तदा तदा षोडश भावनास्ता: ।
स्वर्मोक्षदात्र्यो भवरोगहर्त्र्य:,
स्वराज्यहेतोर्हृदि भावनीया: ।। २६६ ।।

उत्तर - जिस दिन निर्मल उपवास किया हो उस दिन भव्य जीवोंको अपना मोक्षरूप स्वराज्य प्राप्त करनेके लिये स्वर्गमोक्षको देनेवालीं और संसारूपी रोगको हरण करनेवालीं सोलह कारण भावनाओंका चिंतन करना चाहिये ।। २६६ ।।

समस्तदोषाद्रहिता विशुद्धि:
श्रद्धानरूपस्य सुदर्शनस्य ।
स्वस्वादत: स्वात्मविलोकनाद्वा,
निजात्मबोधाच्च जिनानुरागात् ।। २६७ ।।
स्वराज्यदात्री परराज्यहर्त्री,
षट्खंडराज्यस्य सुदायिकापि ।
श्रेष्ठा भवेदृर्शनशुद्धिरेवं,
स्वराज्यहेतोर्हृदि भावनीया ।। २६८ ।।

समस्त तत्त्वोंका वा अपने शुद्ध आत्माका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है उसकी विशुद्धि समस्त दोषोंसे रहित होनेपर होती है । तथा अपने आत्माकी रुचि होने, आत्माका दर्शन होने, अपने शुद्ध आत्माका ज्ञान होने और भगवान जिनेन्द्रदेवमें अनुराग होनेसे वह सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि प्रगट होती रहती है । यह सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि आत्मजन्य स्वराज्य को देनेवाली है, पुद्गलादिक के परराज्यको हरण करनेवाली है, छहों खंडका अखंड राज्य देनेवाली है और सर्वश्रेष्ठ है । ऐसी यह सम्यग्दर्शनकी शुद्धि अपना आत्मजन्य स्वराज्य प्राप्त करने के लिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भव्य जीवोंको अपने हृदयमें सदा चिंतन करते रहना चाहिये ॥ २६७ ॥ २६८ ॥

दृग्बोधचारित्रतपोविधीनां,
स्वर्मोक्षदानां शिवसाधकानाम् ।
तद्धारकाणामिति वा जनानां,
स्वात्माश्रितानां स्वरसाश्रितानाम् ॥ २६९ ॥
सदा प्रशंसा क्रियते हि यत्र,
सैवास्ति पूता विनयस्य सम्यत् ।
संसारहर्त्री शिवसौख्यदात्री,
भव्यौः सदा सा परिपालनीया ॥ २७० ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपश्चरण स्वर्गमोक्ष देनेवाले हैं तथा मोक्षके साधक हैं, और इन चारोंको धारण करनेवाले मनुष्य अपने आत्माके आश्रित हैं तथा आत्मजन्य आनंदरसके आश्रित है । इन सबकी सदा प्रशंसा करते रहना, इनके प्रति नम्रता धारण करना, पवित्र विनयरूपी संपत्ति कहलाती है । यह विनय संसारको हरण करनेवाली है और मोक्षसुखकों देनेवाली हैं अतएव भव्य जीवोंको इस विनयका पालन सदा करते रहना चाहिये ॥ २६९ ॥ २७० ॥

मनोवरचः कायकृतादिभेदै,
स्त्यक्तवा जवात्कोपचतुष्टयादिं ।
तथातिचारं व्रतनाशकं च,
त्यक्त्वा भयादिं ममकारबुद्धिम् ॥ २७१ ॥
व्रतेष्वहिंसादिषु कामदेषु,
शीलेषु तत्प्रापकवर्द्धकेषु ।
प्रवर्तते यत्र निजाश्रयेण,
शुद्धिर्व्रतादेः सुखदास्ति सैव ॥ २७२ ॥

मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से क्रोध मान माया लोभ इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चारों कषायोंका त्याग कर, व्रतोंको नाश करनेवाले अतिचारोंका त्याग कर, सब-तरहके भयोंका त्याग कर और ममत्व बुद्धिका त्याग कर केवल अपने आत्माके आश्रित होकर इच्छानुसार फल देनेवाले अहिंसादिक व्रतोंमें तथा अहिंसादिक व्रतोंको प्राप्त कराने और बढ़ानेवाले शीलोंमें अपनी प्रवृत्ति करना सुख देनेवाली व्रतोंकी शुद्धि कहलाती है । इसीको शील और व्रतोंका अतिचाररहित पालन करना कहते हैं ॥ २७१ ॥ २७२ ॥

त्यक्त्वा प्रमादं विषयस्य चिन्तां,
पंचास्तिकायस्य यथास्थितस्य ।
वा सत्पतत्त्वस्य निजात्मनोऽपि,
षड्द्रव्यलोकस्य यथार्थधर्मः ॥ २७३ ॥
विबुध्यते यत्र यथार्थचिह्नै,
र्वा पीयते स्वात्मरसः सदैव ।
ज्ञानोपयोगः सुखदोऽप्यभीक्ष्णंः,
सदा सुभव्यैर्हृदि धारणीयः ॥ २७४ ॥

प्रमाद और विषयोंकी चिन्ताओंको छोड़कर यथार्त स्वरूपको धारण करने-वाले पांचों अस्तिकार्योके यथार्थ धर्मको वा स्वरूपको समझना, अथवा सातों तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूप को समझना, वा अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझना अथवा छहों द्रव्यसे भरे लोकके यथार्थ स्वरूपको समझना, इन सबको स्वरूप उनके यथार्थ लक्षणोंसे समझना, अथवा अपने आत्मजन्य आनंदामृत रसका सदा पान करते रहना, सुख देनेराला अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग कहलाता है । अभीक्ष्ण शब्दका अर्थ सदाकाल है । अपना उपयोग सदाकाल ज्ञानमें लगाये रखना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है । ऐसा यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भव्य जीवोंको अपन हृदयमें धारण करते रहना चाहिये ॥ २७३ ॥ २७४ ॥

बाह्यात्पदार्थात्क्षणिकात्सुखाद्वा,
भोगोपभोगाद्विषयाद्धि राज्यात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समस्तबंधोरपि सन् विरक्त:,
स्वात्मानुभूत्यामचले स्वराज्ये ।। २७५ ।।
स्थातुं प्रयत्न: क्रियते च यत्र,
वा भुज्यते स्वात्मसुखं सदैव ।
संवेगभाव: सुखद: स एव,
भव्यैस्त्रिकाले हृदि भावनाय: ।। २७६ ।।

क्षण क्षणमें नाश होनेवाले बाह्य पदार्थोंसे इन्द्रिय जन्य सुखसे, भोगोपभोगोंसे, विषयोंसे, राज्यसे और समस्त बंधुओंसे विरक्त होकर अपनी आत्मानुभूतिमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करना, वा आत्मजन्य निश्चल स्वराज्य में स्थिर रहनेका प्रयत्न करना अथवा सदाकाल आत्मजन्य सुखका अनुभव करना सुख देनेवाला संवेगभाव कहलाता है। यह संवेगभाव भव्य जीवोंको अपने हृदयमें तीनों काल धारण करना चाहिये ।। २७५ ।। २७६ ।।

मिथ्यात्वमोहादिविवर्जिताय,
दृग्बोधचारित्रसमन्विताय ।
स्वानन्दजुष्टाय दयाश्रिताय,
भव्याय संघाय चतुर्विधाय ।। २७७ ।।
चतुर्विधं यत्र च दियते हि,
भक्त्या सुदानं परमार्थबुध्द्या ।
स्वर्मोक्षदो दानविधि: स एव,
भव्यै: स्वशक्त्या हृदि धारणीय: ।। २७८ ।।

जो भव्य मुनि वा चारों प्रकारका संघ मिथ्यात्व मोह आदिसे रहित है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे सुशोभित है, अपने आत्मजन्य आनंदमें लीन है और अत्यंत दयालु है ऐसे मुनि वा चारों प्रकारके संघ को परमार्थबुद्धिसे भक्तिपूर्वक चारों प्रकारका दान देना स्वर्ग मोक्ष देनेवाली दानकी विधि कहलाती है। भव्य जीवोंको यह दानकी विधि शक्तिके अनुसार सदा के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए हृदयमें धारण कर लेनी चाहिए ।। २७७ ।। २७८ ।।

संसारबन्धस्य बिनाशनार्थं,
पलायनार्थं विषयस्पृहायाः ।
परार्थ तत्त्वामृतपानहेतोः
दृग्बोधचारित्रविवर्द्धनार्थम् ।। २७९ ।।
स्वराज्यहेतोः क्रियते च यत्र,
स्वेच्छानिरोधः सुखदं तपश्च ।
तदेव लोके विमलं तपोऽस्ति,
कार्यं सदा द्वादशधा सुभव्यैः ।। २८० ।।

जन्ममरण रूप संसारके बंधनको नाश करनेके लिए विषयोंकी तृष्णाको भगानेके लिए, परमार्थ तत्त्वको तलाश करनेके लिए, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको बढ़ानेके लिए और आत्मजन्य शुद्ध स्वराज्य प्राप्त करनेके लिए जहांपर सुख देनेवाला इच्छा निरोधरूप तपश्चरण किया जाता है वही संसारमें निर्मल तपश्चरण कहलाता है । वह तपश्चरण बारह प्रकारका कहा जाता है । भव्य जीवोंको यह बारह प्रकारका तपश्चरण सदा काल धारण करते रहना चाहिए ।। २७९ ।। २८० ।।

मानापमानादिबहिः स्थितानां,
सदा जिनाज्ञाप्रतिपालकानाम् ।
स्वात्माश्रितानां स्वसुखश्रितानां,
जातो हि कर्मोदयतश्च विघ्नः ।। २८१ ।।
भक्त्या मुनीनामपनीयते वा,
सुरक्ष्यते यत्र यथार्तधर्मः
साधोः समाधिसः सुखार्पकोऽस्ति,
भव्यैश्च कार्यः सततं सुभक्त्या ।। २८२ ।।

जो मुनि मान अपमानसे अलग रहते हैं, भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सदा पालन करते हैं, जो अपने आत्माके आश्रित रहते हैं अथवा आत्मजन्य सुखके आश्रित रहते हैं ऐसे मुनियोंके धर्मकार्यमें यदि कर्मके उदयसे कोई विघ्न आजाय तो भक्तिपूर्वक उस विघ्नको दूर करना और यथार्थ धर्मकी अच्छीतरह रक्षा करना सुख देनेवाली साधुसमाधि कहलाती है। यह साधुसमाधि भव्यजीवोंकों भक्ति पूर्वक सदा करते रहना चाहिये ॥ २८१ ॥ २८२ ॥

समस्तसंसारबहिः स्थितानां,
यथार्थतत्त्वप्रतिपादकानाम् ।
या सन्मुनीनां स्वपदाश्रितानां,
ज्वरादिरोगैः परिपीडितानाम ॥ २८३ ॥
मनोवचःकायकृतादिभेदैः,
सेवा सुभक्तिः क्रियते च यत्र ।
सेवाविधिर्वाञ्छितदः स एव,
भक्त्या हि कार्यः सततं सुभव्यैः ॥ २८४ ॥

जो श्रेष्ठ मुनि समस्त संसारसे अलग रहते हैं तथा जो यथार्थ तत्त्वोंको प्रतिपादन करनेवाले हैं और केवल अपने आत्माके आश्रित हैं ऐसे मुनि यदि ज्वरादि रोगोंसे पीड़ित हो जाय तो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से उनके सेवा शुश्रूषा करना, उनकी भक्ति करना इच्छानुसार फल देनेवाला वैयावृत्त्य कहलाता है। यह वैयावृत्त्य भव्य जीवोंको भक्ति पूर्वक सदा करते रहना चाहिये ॥ २८३ ॥ २८४ ॥

समस्तविश्वस्य यथास्थितस्य,
द्रष्टुश्च बोध्दुः सततं यथावत् ।
त्रिलोकबंधोऽर्जितकर्मशत्रोः,
स्वर्मोक्षदातुर्भवरोगहर्तुः ॥ २८५ ॥
पूज्यार्हतो यत्र गुणो मनोज्ञो,
वाक्कायचित्तैः खलु वर्ण्यते यः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सैवार्हतो वाञ्छितदास्ति भक्ति,
र्मोक्षाय कार्ता सततं सुभव्यैः ॥ २८६ ॥

अत्यंत पूज्य भगवान जिनेन्द्रदेव यथास्थित समस्त लोकको यथार्थ रीतिसे सदाकाल देखते और जानते रहते हैं। तथा वे भगवान तीनों लोकोंका हित करनेवाले हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, स्वर्गमोक्षको देनेवाले हैं और संसाररूपी रोगको नष्ट करनेवालै हैं। ऐसे भगवान जिनेंद्र देवके मनोहर गुणोंको मन वचन कायसे वर्णन करना इच्छानुसार फल देनेवाली भगवान अरहंत देवकी भक्ति कहलाती है। यह अरहंतभक्ति श्रेष्ठ भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिए सदाकाल करते रहना चाहिए ॥ २८५ ॥ २८६ ॥

भीमे भवाब्धो पततां जनानां,
दीक्षादिदानैः परिपालनैर्वा ।
बोधामृतैः स्वात्मविबोधनैर्वा,
संसारहर्तुःसुखशांतिदातुः ॥ २८७ ॥
गुणेऽनुरागः क्रियेत च यत्रा-,
चार्यस्य चानन्दपदाश्रितस्य ।
पूता सुभक्तिः सुखदास्ति सैवा-,
चार्यस्य भव्यैश्च सदैव कार्या ॥ २८८ ॥

जो मनुष्य अत्यंत भयानक संसाररूपी समुद्रमें पड़े हुए हैं उनको दीक्षा देकर, उनके चारित्रका पालन कराकर, उनको ज्ञानामृत पिलाकर और उनको आत्मज्ञान प्रगट कराकर उन शिष्योंके जन्ममरणरूप संसारको हरण करनेवाले तथा उनको सुख शांति देनेवाले और अपने आत्मजन्य आनन्द स्थान में अपने आत्माको लीन करनेवाले आचार्यके गुणोंमें जो अनुराग करता है उसको पवित्र और सुख देनेराली आचार्य परमेष्ठीकी भक्ति कहते हैं। यह आचार्यभक्ति भव्यजीवोंको सदा करते रहना चाहिए ॥ २८७ ॥ २८८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञातुर्यथावद्धि जिनागमस्य,
सुपाठने वा पठने सदैव ।
दक्षस्य चानन्दरसाश्रितस्य,
अज्ञानहर्तुर्निजबोधकर्तुः ।। २८९ ।।
भक्त्या ह्युपाध्यायविभोः कृपाब्धे,
गुणेऽनुरागः क्रियते च यत्र ।
सैवास्ति भक्तिः सुबहुश्रुतस्य,
भक्त्या हि कार्या सततं सुभव्यैः ।। २९० ।।

जो उपाध्याय परमेष्ठी जिनागमके यथार्थ ज्ञाता हैं तथा उसी जिनागमके पठन पाठन करनेमें सदा निपुणता धारण करते हैं, जो सदा आत्मजन्य आनन्दामृत रसके आश्रय रहते हैं, जो अज्ञानको नाश करनेवाले हैं आत्मज्ञानको प्रगट करनेवाला हैं और कृपाके सागर हैं । ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीके गुणोंमें भक्तिपूर्वक अनुराग करना उपाध्याय भक्ति अथवा बहुश्रुतभक्ति कहलाती है । यह उपाध्याय भक्ति भव्यजीवोंको भक्तिपूर्वक सदा करते रहना चाहिये ।। २८९ ।। २९० ।।

द्रव्यादितत्त्वस्य यथास्थितस्य,
सापेक्षदृष्टया प्रतिपादकस्य ।
नयप्रमाणैश्च सुशोभितस्य,
निजात्मबुद्धेः परिवर्द्धकस्य ।। २९१ ।।
अनात्मबुद्धेः प्रपलायकस्य,
जिनागमस्य क्रियते च यत्र ।
सैवास्ति भक्तिः सुखदा पवित्रा,
श्रुतस्य कार्या सततं सुभव्यैः ।। २९२ ।।

इस संसारमें जो द्रव्य और तत्त्व जिस रूपसे स्थित है उनको अपेक्षा दृष्टिसे जो प्रतिपादन करनेवाला है, जो नय और प्रमाणोंसे सुशोभित है, जो अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मज्ञानको बढ़ानेवाला है और आत्मज्ञान से रहित मिथ्याज्ञानको नाश करनेवाला है ऐसे जिनागमकी जहांपर सुख देनेवाली और पवित्र भक्ति की जाती है उसको श्रुतभक्ति वा प्रवचनभक्ति कहते हैं । यह प्रवचनभक्ति भव्य जींवोको सदाकाल करते रहना चाहिये ।। २९१ ।। २९२ ।।

त्यक्त्वा प्रमादं निखिलं च कार्यं,
यथोक्तकाले समशान्तवृत्त्या ।
दृग्बोधचारित्रविवर्द्धकं य-,
द्दोषैरपेतं शिवसौख्यदं वा ।। २९३ ।।
भक्त्या षडावश्यकमेव यत्र,
स्वराज्यहेतोः क्रियते सदैव ।
भव्यैः षडावश्यकमेव कार्यं,
कर्मप्रणाशाय तपोऽभिवृद्धयै ।। २९४ ।।

छहों आवश्यक सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको बढ़ानेवाले हैं, समस्त दोषोंसे रहित हैं और मोक्षके परम सुखको देनेवाले हैं । ऐसे ये छहों आवश्यक अपने आत्मजन्य स्वराज्य प्राप्त करनेकेलिये सबतरहके प्रमाद और कार्योंके छोड़कर शास्त्रोंके अनुसार कहे हुए नियत समयपर समतारूप तथा शांत परिणामों से जहांपर सदा किये जाते हैं उनको आवश्यक कहते हैं । शास्त्रोंमें कहे हुए छहों आवश्यक भव्य जीवोंको अपने कर्म नष्ट करनेके लिये और तपश्चरणको बढ़ानेके लिये अवश्य करते रहना चाहिये ।। २९३ ।। २९४ ।।

पूजाप्रतिष्ठाचरणैः पवित्रै-,
र्बोधामृतैः क्लेशबिनाशकैर्वा ।
विद्याकलाभिर्जिनमंत्रतंत्रैः,
प्रवर्तनैर्वेति मिथोऽविरोधैः ।। २९५ ।।
धनादिदानैर्जिनधर्मवृद्धि-,
र्व्रतोपवासैः क्रियते च यत्र ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रभावना सैव सुखस्य दात्री,

धर्मस्य कार्या सततं सुभव्यैः ।। २९६ ।।

पवित्र पूजा करके, प्रतिष्ठा, करके, सदाचरण पालन करके, समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाले आत्मजन्य ज्ञानामृतको धारण करके वा विद्या कलाओंको प्रगट करके, जिनमतमें कहे हुए मंत्रतंत्रों का प्रभाव दिखला करके, सबके साथ अविरोध रीतिसे अपनी प्रवृत्ति दिखला करके, धनादिकका दान दे करके और व्रत उपवास करके जहांपर जिनधर्मकी वृद्धि की जाती है उसको सुख देनेवाली धर्मकी प्रभावना कहते हैं । यह धर्मकी प्रभावना भाव्यजीवों को सदाकाल करते रहना चाहिये ।। २९५ ।। २९६ ।।

निजात्मनिष्ठैः परमार्थपुष्टै-,

स्तत्त्वार्थतुष्टैर्जिनधर्मजुष्टैः ।

सधर्मभिर्धर्मरतैश्च सार्द्धं,

सदा प्रमोदः क्रियते च यत्र ।। २९७ ।।

वत्सेन सार्द्धं च यथा जनन्या,

तथात्मनिष्ठैर्मुनिभिः सुधीरैः ।

स्वर्मोक्षदा वत्सलता सुभव्यैः,

सधर्मणो वा हृदि भावनीया ।। २९८ ।।

जो साधर्मी जन अपने आत्मामें सदा लीन रहते हैं, जो परमार्थकी पुष्टी करते रहते हैं, तत्त्वार्थप्रेमसे सदा संतुष्ट रहते हैं, जिनधर्मको सदा प्रेमपूर्वक धारण करते हैं और धर्म में सदा लीन रहते हैं, ऐसे धर्मात्माओंके साथ जिसप्रकार माता अपने बच्चेके साथ प्रेम करती है उसीप्रकार अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले धीर वीर मुनिराज जो प्रेम करते रहते हैं वा उन धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होते रहते हैं उसको धर्मवत्सलता कहते हैं । यह स्वर्ग- मोक्षको देनेवाली धर्मिवत्सलता भव्य जीवोंको सदा काल अपने हृदयमें चिंतन करनी चाहिये ।। २९७ ।। २९८ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आसां ध्रुवं षोडशभावनानां,
योगेन तीर्थकरनामकर्म ।
लोके सदाश्चर्यकरं मनोज्ञं,
जगत्प्रियं बध्यत एव भव्यैः ।। २९९ ।।

इस संसारमें भव्य जीव इन सोलह कारण भावनाओंके निमित्तसे आश्चर्य प्रगट करनेवाला अत्यंत मनोज्ञ और तीनों लोकोंको प्रिय ऐसा तीर्थंकर नाम कर्मका बंध किया करते हैं ।। २९९ ।।

श्रीकुंथुनाम्ना मुनिना स्वबुध्द्या,
संसारबंधस्य बिनाशहेतोः ।
प्रोक्ता ह्यमूः पोडश भावनाश्च,
सौख्यप्रदा वाञ्छितदा मनोज्ञाः ।। ३०० ।।
पठंति भव्या भुवि ताः स्मरंति,
श्रृण्वन्ति ये केचन पाठयन्ति ।
साम्राज्यलक्ष्मीं क्रमतश्च लब्ध्वा,
ते शाश्वतं मोक्षपदं लभंते ।। ३०१ ।।

मुनिराज श्रीकुंथुसागरने संसारके बंधको नाश करनेके लिये अपनी बुद्धिके अनुसार अत्यंत मनोज्ञ इच्छानुसार फल देनेवाली और सुख देनेवाली ये सोलह भावनाएं निरूपण की हैं । जो भव्य जीव इन सोलह भावनाओंको पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं, स्मरण करते हैं वा सुनते हैं वे मनुष्य इस संसारमें अनुक्रमसे साम्राज्य लक्ष्मीका उपयोग करते हुए सदा रहनेवाले मोक्षपदको प्राप्त करते हैं ।। ३०० ।। ३०१ ।।

दशधर्माश्च लोकेऽस्मिन् कीदृशाः सन्ति भो गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि इस ससांरमें दश धर्म कैसे हैं?

क्षमैव सारा परमा त्रिलोके,
चिन्तामणिश्चिन्तितवस्तुदाने ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शान्तिप्रदा वैरबिनाशिका च,
भीमाब्धवाब्धेः खलु पारकर्थी ।। ३०२ ।।
स्वर्मोक्षदा स्वात्मसुखप्रदा वा,
दातुं समर्थास्ति च सर्वराज्यम् ।
ज्ञात्वेति भव्यैर्जिनधर्मलग्नैः,
क्षमैव कार्या स्वपरार्थशान्त्यै ।। ३०३ ।।

उत्तर - हे वत्स सुन ! उत्तम क्षमा तीनों लोकोंमें सार है, सर्वोत्कृष्ट है, इच्छानुसार पदार्थोंके देनेमें चिंतामणि रत्नके समान है, अत्यंत शान्ति देनेवाली है, वैर विरोधको हरण करनेवाली है, संसाररूपी भयानक समुद्रसे पार करनेवाली है, स्वर्ग मोक्षको देनेवाली है, अपने आत्म जन्य सुखको देनेवाली है और तीनों लोकोंका राज्य देनेमें समर्थ है । यही समझकर जिनधर्ममें लीन रहनेवाले भव्यजीवोंको अपने आत्माको शांत करने और अन्य जीवोंको शांत करनेके लिये क्षमा ही धारण करनी चाहिये ।।३०२।।३०३।।

कौ मार्दवेनैव यथार्थबुद्धिः,
काठिन्यलोपः स्वपरार्थसिद्धिः ।
स्वात्मानुभूतिर्जिनधर्मवृद्धिः,
धर्मानुरागः परिणामशुद्धिः ।। ३०४ ।।
लोके भवेद्वैरिविरोधनाशः,
स्वराज्यलाभो जननादिनाशः ।
ज्ञात्वेति भव्यैः शिवदं मृदुत्वं,
सर्वेषु जीवेषु सदैव कार्यम् ।। ३०५ ।।

इस संसारमें मार्दवधर्मसे वृद्धि यथार्थ हो जाती है, परिणामोंकी कठिनता नष्ट हो जाती है, अपने आत्माकी तथा अन्य जीवोंको शुद्धता प्राप्त हो जाता है, स्वात्मानुभूति प्रगट हो जाती है, जिनधर्मकी वृद्धि होती है, धर्मका अनुराग बढ़ता है, परिणामोंकी शुद्धता बढ़ती हैं, शत्रु विरोधका नाश होजाता है, आत्मजन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वराज्यकी प्राप्ति हो जाती है और जन्ममरण का नाश हो जाता है। यही समझकर भव्य जीवोंकी समस्त जीवोंके प्रति मोक्ष देनेवाले कोमल परिणाम वा मार्दवधर्म सदा काल धारण करते रहना चाहिये ॥ ३०४ ॥ ३०५॥

शीलव्रतध्यानजपक्षमाद्या:
पूजा प्रतिष्ठात्मविचारभाव: ।
वृथा भवेदार्जवधर्मलोपाद्,
ज्ञात्वेति चित्ते च यथाविचार: ॥ ३०६ ॥
कायेन कार्यो वचसापि वाच्य-,
स्तथा सदा ह्यार्जवधर्म एव ।
स्वर्मोक्षदो वाञ्छितवस्तुदाता,
भवेद्धि शीघ्रं भवरोगहर्ता ॥ ३०७ ॥

जो मनुष्य आर्जव धर्मको नष्ट कर देता है उसके शील, व्रत, ध्यान जप, क्षमा, पूजा, प्रतिष्ठा और आत्माके श्रेष्ठ विचार सब व्यर्थ हो जाते हैं। यही समझकर भव्यजीवों को अपने विचार जैसे अपने मनमें करने चाहिये वैसे ही वचन से कहना चाहिये तथा उसी प्रकर शरीरसे करना चाहिये। इसीको आर्जव धर्म कहते हैं। यह आर्जव धर्म स्वर्गमोक्षको देनेवाला है, इच्छाके अनुकूल पदार्थोंको देनेवाला है और शीघ्र ही संसाररूपी रोगको हरण करनेवाला है ॥ ३०६ ॥ ३०७ ॥

पापस्य मूलं कथितोऽस्ति लोभ:,
समस्तसंतापविवर्द्धको वा ।
संसारबंधस्य च मुख्यहेतु-,
स्तथैव संकल्पविकल्पजाल: ॥ ३०८ ॥
त्याज्य: स लोभो ह्यवगम्य चैवं,
समस्तसाम्राज्यनिधानभूत: ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वर्मोक्षदो वा सुखशान्तिकोश:,

शुचित्वधर्म: परिपालनीय: ॥ ३०९ ॥

यह लोभ भगवान जिनेन्द्रदेवने पापका मूल बतलाया है तथा यही लोभ समस्त संताषोको बढ़ानेवाला है, संसारके बंधनोंका मुख्य कारण है और अनेक संकल्प विकल्पोंका जाल है । यही समझकर भव्य जीवोंको इस लोभका त्याग कर देना चाहिये और समस्त साम्राज्यका खजाना, स्वर्ग मोक्ष देनेवाला और सुख शांतिका निधान ऐसा शौचधर्म सदा पालन करते रहना चाहिये ॥ ३०८ ॥ ३०९ ॥

अशान्तिदं साध्वसवैरकारि,

भ्रान्तिप्रदं धर्मविरुद्धवाक्यम् ।

संतापदं क्लेशकरं न वाच्यं,

प्राणेष्वसत्यं च गतेषु सत्सु ॥ ३१० ॥

तथा सुभव्यै: स्वपरार्थशान्त्यै

निजात्मसिध्द्यै मधुरं मनोज्ञं ।

शान्तिप्रदं भ्रान्तिहरं क्षमादं,

सत्यं हितं प्रीतिकरं हि वाच्यम् ॥ ३११ ॥

असत्य वचन अशांति उत्पन्न करनेवाले हैं, विरोध करनेवाले हैं, भ्रांतिको उत्पन्न करते हैं और धर्मको विरुद्ध हैं । इसके सिवाय असत्यवचन सबको संतप्त करनेवाले हैं और क्लेशको उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसे असत्य वचन भव्य जीवोंको अपने प्राण जानेपर भी कभी नहीं बोलने चाहिये तथा अपने आत्मा को और अन्य जीवोंको शांत करनेके लिये वा अपने आत्माकी सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेके लिये मधुर, मनोज्ञ, शान्ति देनेवाले, भ्रांतिको हरण करनेवाले, क्षमाको प्रगट करनेवाले और प्रेम उत्पन्न करनेवाले तथा सबका हित करनेवाले सत्यवचन ही सदा बोलने चाहिये ॥ ३१० ॥ ३११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षट्कायजीवस्य सुरक्षकोऽस्ति,
चित्ताक्षवेगस्य निरोधकोऽपि ।
अनात्मबुद्धेः प्रपलायकोऽस्ति,
सदात्मबुद्धेः परिवर्द्धकश्च ॥ ३१२ ॥
स्वर्मोक्षदः संयम एव शक्तो,
ज्ञात्वेति भव्यैः परिरक्षणीयः ।
श्रीमान्न शास्त्री न मुनिर्विभाति,
नारी नरः संयमरत्नहीनः ॥ ३१३ ॥

संयमधर्म छहों कायके जीवोंको रक्षा करनेवाला है, मन और इन्द्रियोंके वेगको रोकनेराला है, आत्मज्ञानसे बाहर रहनेवाली मिथ्याबुद्धिको नाश करनेवाला है, आत्मज्ञानको बढ़ानेवाला है और स्वर्गमोक्षको देनेवाला है । इन सब कार्मोंके लिये एक संयम ही समर्थ है । यही समझकर भव्य जीवोंको इस संयम-धर्मका पालन सदाकाल करते रहना चाहिये । इस संयमरूपी रत्नके बिना न तो कोई मनुष्य शोभायमान होता है, न कोई स्त्री शोभायमान होती है, न कोई धनवान शोभायमान होता है, न कोई शास्त्री शोभायमान होता है और न कोई मुनि शोभायमान होता है ॥ ३१२ ॥ ३१३ ॥

मिथ्याप्रपंचस्य पलायनार्थं,
समस्तकर्मारिबिनाशनार्थम् ।
पंचाक्षवह्निं शमितुं समर्थं,
शीघ्रं च भेत्तुं बहिरात्मबुद्धिम् ॥ ३१४ ॥
इच्छानिरोधः खलु तस्य चिह्नं,
जिनैः प्रणीतं द्विविधं तपश्च ।
ज्ञात्वेति कार्यं निजराज्यहेतोः
स्वर्मोक्षदं वाञ्छितदं सदैव ॥ ३१५ ॥

भगवान जिनेन्द्रदेवने इस तपश्चरणका लक्षण इच्छाका रोकना बतलाया है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा अंतरंग और बाह्यके भेदसे दो भेद बतलाये हैं । यह तपश्चरण मिथ्याप्रपंचोंको नाश करनेमें समर्थ हैं, समस्त कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेमें समर्थ हैं, पांचों इन्द्रियरूपी अग्निको शांत करनेमें समर्थ हैं, बहिरात्मबुद्धिका नाश करनेमें समर्थ हैं, स्वर्ग मोक्षको देनेवाला है और समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला है । यही समझकर भव्य जीवोंको अपना आत्मजन्य राज्य प्राप्त करनेके लिये सदाकाल इस तपश्चरणका पालन करते रहना चाहिये ।। ३१४ ।। ३१५ ।।

पूताय संघाय चतुर्विधाय,
सदा जिनाज्ञाप्रतिपालकाय ।
संसारमोहादिबिनाशकाय,
चतुर्गतेर्मार्गनिरोधकाय ।। ३१६ ।।
भव्याय संकल्पविकल्पहर्त्रे,
रत्नत्रयाणां परिपालकाय ।
चतुर्बिधं क्लेशहरं सुदानं,
दातव्यमेवं शिवसौख्यहेतोः ।। ३१७ ।।

मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका यह चारों प्रकारका संघ अत्यंत पवित्र है, सदाकाल भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करनेराला है, संसार और मोहादि विकारोंको नष्ट करनेवाला है, चारों गतियोंके मार्गको रोकनेवाला है समस्त संकल्प विकल्पोंको हरण करनेवाला है, रत्नत्रयको पालन करनेवाला है और भव्य है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेवाला है । ऐसे चारों प्रकारके संघको मोक्षसुख प्राप्त करनेके लिये समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाला चारों प्रकारका दान अवश्य देना चाहिये ।। ३१६ ।। ३१७ ।।

बाह्यादिभेदाद्द्विविधश्च संगो,
ह्यनर्थकारी सुखशान्तिहारी ।
स्वर्गापवर्गादिनिरोधकारी,
ह्याशाग्रहाणां परिवर्द्धकोऽस्ति ।। ३१८ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समस्तसंतापनिधानमेव,
ह्येवं यथावत्कथितोऽल्पबुध्द्या ।
ज्ञात्वेति शीघ्रं च स्वराज्यहेतो-,
स्त्याज्यो हि भव्यैर्द्विविधोऽपि संग: ॥ ३१९ ॥

यह परिग्रह बाह्य और अभ्यंतरके भेदसे दो प्रकारका है । यह दोनों प्रकारका परिग्रह अनेक अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला है, सुख और शांतिको हरण करनेवाला है, स्वर्ग मोक्ष आदि कल्याणोंको रोकनेवाला है, आशारूपी ग्रहोंको बढ़ानेवाला है और समस्त संतापोंका खजाना है । इसप्रकार श्रीकुंथुसागर मुनिने अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार यथार्थरीतिसे निरूपण किया है । यही समझकर भव्यजीवोंको अपना आत्मजन्य राज्य प्राप्त करनेके लिये शीघ्र ही दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ३१८ ॥ ३१९ ॥

बंधस्य मूलं हि कलत्रमेव,
मोक्षस्य मूलं त्यजनं च तस्य ।
ज्ञात्वेति शीघ्रं हि कलत्रमात्रं,
त्यक्त्वापि सम्बंधभवं प्रदोषम् ॥ ३२० ॥
मनोवच:कायकृतादिभेदै,
र्मोक्षप्रदे सौख्यमये स्वराज्ये ।
शान्तिप्रदे स्वात्मन एव धर्मे,
स्थातुं प्रयत्नश्च सदा विधेय: ॥ ३२१ ॥

इस संसारमें कर्मबंधका मूलकारण स्त्री है और मोक्षका मूल कारण उसका त्याग है यही समझकर भव्य जीवोंको शीघ्र ही स्त्रीमात्रका त्याग कर देना चाहिए और उसके संबंधसे होनेवाले दोषोंका भी त्याग कर देना चाहिए तथा मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे मोक्षप्रदान करनेवाले, अनंत सुखमय, अत्यंत शांति देने वाले और अपने स्वराज्यरूप अपने आत्माके शांति देनेवाले और अपने स्वराज्यरूप अपने आत्माके विज्ञानमय धर्ममें सदा काल स्थिर रहनेका प्रयत्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना चाहिए । इसीको ब्रह्मचर्य धर्म कहते हैं ।। ३२० ।। ३२१ ।।

वद निःशंकितादीनामंगानांलक्षणं गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! कृपाकर कहिये कि सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि अंग कैसे है ?

निर्दोषयोगाद्धि जिनोक्त एव,
मोक्षस्य मार्गः सुखदः पवित्रः ।
रत्नत्रयेणापि विभूषितश्च,
सर्वस्य जन्तोरभयप्रदो हि ।। ३२२ ।।
ज्ञात्वेति कौ ये जिनधर्ममार्गे,
श्रद्धां प्रकुर्वन्ति सदा ह्यकंपाम् ।
निःशंकितांगं विमलं च गाढं,
दृष्टेर्भवेदंजनचौरवद्वा ।। ३२३ ।।

उत्तर - इस संसारमें सुख देनेवाला और पवित्र मोक्षमार्ग भगवान जिनेद्रदेवका कहा हुआ है क्योंकि वही निर्दोष है, रत्नत्रयसे विभूषित है और समस्त प्राणियोंको अभय देनेवाला है । यही समझकर इस संसारमें जो भव्य जीव भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए इस धर्ममार्ग वा मोक्षमार्गमें अटल श्रद्धान रखते हैं उनके ही अंजनचौरके समान निर्मल और गाढ़ ऐसा सम्यग्दर्शनका निःशंकित नामका पहला अंग होता है ।। ३२२ ।। ३२३ ।।

निजात्मबाह्ये क्षणिके च भीमे,
क्लेशादिपूर्णे परतश्च जाते ।
त्यक्ते च निंद्ये सुनिजात्मनिष्ठै-,
रादौ प्रिये वा कटुके हि चान्ते ।। ३२४ ।।
एतादृशे सौख्य इहान्यलोके,
कुर्वन्ति नास्थां न कदापि कांक्षाम् ।
भवेद्धि तेषां शिवदं पवित्रं,
वंद्यं हि निःकांक्षितमेव चांगं ।। ३२५ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह इस लोकसंबंधी अथवा परलोकसंबंधी सुख अपने आत्मासे भिन्न है, क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाला है, भयंकर है, अनेक क्लेशोंसे परिपूर्ण हैं, पुद्गलादिक अन्य पदार्थोंसे उत्पन्न होता है, निंदनीय है, अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले मुनियोंके द्वारा त्याग किया हुआ है, पहले भोगते समय अच्छा मालूम होता है परंतु अंतमें कड़वा वा दु:ख देनेवाला है ऐसे इस लोक और परलोक संबंधी सुखमें जो पुरुष कभी श्रद्धान नहीं करते और कभी उसकी इच्छा नहीं करते उन पुरुषोंके मोक्ष देनेवाला पवित्र और वंदनीय ऐसा सम्यग्दर्शनका नि:कांक्षित नामका दूसरा अंग होता है ॥ ३२४ ॥ ३२५ ॥

तुच्छे निसर्गान्मलिनेऽपवित्रे,
वीभत्सभीमे मलमूत्रयुक्ते ।
रत्नत्रयस्य स्वगुणस्य योगा-,
त्पवित्रभूते शिवहेतुदेहे ॥ ३२६ ॥
स्वात्माश्रितानां शिवसाधकानां,
ग्लानिं न कुर्वन्ति गुणप्रमोदात् ।
स्वर्मोक्षदं संभवरोगहर्तृ,
तेषां भवेन्निर्विचिकित्सितांगम् ॥ ३२७ ॥

जो मुनिराज अपने आत्माके आश्रित रहते हैं और मोक्षका साधन करते रहते हैं उनका शरीर यद्यपि तुच्छ है स्वभावसे ही मलिन है, अपवित्र है, घृणित है, भयानक है, और मलमूत्रसे भरा है तथापि रत्नत्रय गुण के निमित्तसे वह अत्यंत पवित्र है । ऐसे मुनियोंके शरीरमें उनके गुणोंसे प्रसन्न होकर जो कभी ग्लानि नहीं करते उन भव्य जीवोंके स्वर्ग मोक्षको देनेवाला और संसारके रोगोंको हरण करनेवाला ऐसा सम्यग्दर्शन का निर्विचिकिंत्सित नामका तीसरा अंग होता है ॥ ३२६ ॥ ३२७ ॥

क्लेशादियुक्ते कुटिले कुमार्गे,
भ्रांतिप्रदेऽनन्तभवप्रदे च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्याप्रपंचस्थितजीववर्गे,
स्वर्मोक्षबाह्ये सकले कुधर्मे ॥ ३२८ ॥
प्रीतिः प्रशंसानुमतिः स्थितिश्च,
मनोवचःकायकृतादिभेदैः ।
यैर्भव्यजीवैः क्रियते न यत्र,
दृष्टिर्ह्यमूढा भवतीह तेषाम् ॥ ३२९ ॥

जो मोक्षका मार्ग अनेक क्लेशोंसे भरा हुआ है, कुटिल है, भ्रांति उत्पन्न करनेवाला है और अनंत भवोंका देनेवाला है तथा इसीलिये जो कुमार्ग कहलाता है ऐसे कुमार्ग में तथा मिथ्याप्रपंचोंमें रहनेवाले जीवोंके समूहमें और स्वर्गमोक्षके साधनोंसे अलग रहनेवाले समस्त कुधर्मोंमें मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे जो भव्य जीव न प्रेम करते हैं, न उनकी प्रशंसा करते हैं, न अनुमति देते हैं और न उनमें रहते हैं उनके अमूढदृष्टि नामका सम्यग्दर्शनका चौथा अंग होता है ॥ ३२८ ॥ ३२९ ॥

विवेकशून्यैः कृपणैर्गृहस्थै,
र्निजात्मशून्यैर्मुनिभिश्च जाता ।
श्रीजैनधर्मस्य शिवप्रदस्य,
ग्लानिश्च निंदा ह्यपनीयते या ॥ ३३० ॥
बोधामृतैर्ज्ञानवलैः सुदानै-,
र्यैर्यत्र भव्यैर्जिनधर्मनिष्ठैः ।
भवेद्धि तेषामुपगूहनांगं,
शान्तिप्रदं भ्रान्तिहरं मनोज्ञं ॥ ३३१ ॥

यह जैनधर्म मोक्षप्रदान करनेवाला है, इसकी निंदा वा ग्लानि यदि किसी विवेकरहित कृपण गृहस्थसे हो गई हो वा आत्मज्ञानरहित किसी मुनिसे होगई हो तो उसको जिनधर्म की अटल श्रद्धा रखनेवाले जो भव्य जीव अपने ज्ञानबलसे अथवा उपदेशरूपी अमृतसे अथवा श्रेष्ठ दानादिक देकर अवश्य दूर करते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पवित्र जिनधर्म की निंदा कभी नहीं होने देते, उसको शान्ति देनेवाला भ्रांतिको हरण करनेवाला और अत्यंत मनोज्ञ ऐसा उपगूहन नामका अंग कहते हैं। यह सम्यग्दर्शनका पांचवां अंग है ।। ३३० ।। ३३१ ।।

स्वर्मोक्षदातुर्जिनधर्ममार्गा-,
द्रत्नयात्स्वात्मरसात्स्वधर्मात् ।
भीमे भवाब्धौ पततां जनानां,
श्रद्धालुभिर्यत्र निजात्मनिष्ठैः ।। ३३२ ।।
ज्ञानामृतैर्धैर्यधनादिदानैः,
क्षिप्रं पुनर्यैर्जिनधर्ममार्गेः ।
सुस्थापना वा क्रियते स्थितिश्च,
स्थितेः सुकार्यं भवतीह तेषाम् ।। ३३३ ।।

यह जिनधर्मका मार्ग रत्नत्रयस्वरूप है और स्वर्ग मोक्षका देनेवाला है। ऐसे रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गसे अथवा अपने आत्मजन्य आनंदामृत रससे अथवा अपने आत्माके उत्तम क्षमादिक धर्मोंसे गिरकर अर्थात् उनको छोड़कर जो पुरुष इस भयानक संसाररूपी समुद्रमें पड़ रहे हों वा पड़ना चाहते हो उनको अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले जो श्रद्धालु पुरुष ज्ञानरूपी अमृतकी वर्षाकर वा धैर्य बंधाकर अथवा धनादिकका दान देकर उसी जिनधर्म के मार्गमें वा मोक्षके मार्गमें शीघ्र ही स्थापना कर देते हैं अथवा उनकी स्थिरता कर देते हैं उनके स्थितिकरण नामका सम्यग्दर्शनका छठा अंग होता है ।। ३३२ ।। ३३३ ।।

मिथ्याप्रपंचं कुटिलं विचारं,
विहाय तेषां सुगुणानुरागात् ।
निःस्वार्थबुध्द्या विनयादिसेवा,
स्वात्माश्रितानां जिनधार्मिकाणाम् ।। ३३४ ।।
मनोवचःकायकृतादिभेदैः,
कुर्वन्ति ये धर्मविदो दयार्द्राः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वात्सल्यरूपं सुखशांतिदातृ,

भवेद्धि तेषां विमलं शुभांगम् ॥ ३३५ ॥

जो श्रावक वा मुनि अपने आत्माके आश्रित रहनेवाले हैं, उनके श्रेष्ठ गुणोंमें अनुराग रखकर तथा अपने मिथ्यात्वके समस्त भेदोंको और कुटिल विचारोंको छोड़कर जो धर्मात्मा और दयालु पुरुष बिना किसी प्रकारकी स्वार्थबुद्धिके मन वचन काय और कृत-कारित-अनुमोदना से उनकी विनय वा सेवा करते हैं, अनेक सुख और शांति को देनेवाला अत्यंत निर्मल और शुभ ऐसा वात्सल्य नामका सम्यग्दर्शनका सातवां अंग होता है ॥ ३३४ ॥ ३३५ ॥

क्लेशादिदात्रीं सुखशांतिहर्त्रीं,

मिथ्यात्वजातां विषमां ह्यविद्याम् ।

विद्याकलाभिर्यजनादिदानै,

बोधामृतैर्ध्यानतपःसुदृष्टया ॥ ३३६ ॥

केनाष्युपायेन पलाययित्वा,

सर्वोपरित्वं जिनशासनस्य ।

प्रदर्श्यते यैः शिवदायकं तत्,

प्रभागनांगं विमलं हि तेषाम् ॥ ३३७ ॥

यह मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुई अविद्या अत्यंत क्लेश देनेवाली है, अत्यंत विषम है और सुख शांतिको हरण करनेवाली है । इसको जो पुरुष अपनी विद्या वा कलाओंसे पात्रदान वा देवपूजन से, ज्ञानरूपी अमृतसे, ध्यानसे, तपसे, सम्यग्दर्शनसे अथवा अन्य किसी भी उपाय से नष्ट कर जिनशासन की उत्तमता सर्वोपरि दिखलाते हैं उनके अत्यंत निर्मल और मोक्ष देनेवाला ऐसा प्रभावना नामका सम्यग्दर्शनका आठवां अंग होता है ॥ ३३६ ॥ ३३७ ॥

अष्टांगमेवं शिवसाधकं च,

संसारमूलस्य बिनाशकं वा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथार्थवस्तुप्रतिपादकं च,
स्वात्मानुभूतेः परिपालकं हि ॥ ३३८ ॥
श्रीकुंथुनाम्ना मुनिनेति सूक्तं,
बध्द्वेति ये के हृदि धारयंते ।
सदैव शक्त्या परिपालयंते,
ते स्वर्गमोक्षं क्रमतो लभन्ते ॥ ३३९ ॥

इस प्रकार यह आठों अंगोंका समुदाय मोक्षका साधक है, संसारके मूलको नाश करनेवाला है, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाला है और स्वात्मानुभूतिको प्रतिपादन करनेवाला है, ऐसा मुनिराज श्रीकुंथुसागरजीने प्रतिपादन किया है । इन सबको समझ कर जो कोई मनुष्य इनको अपने हृदयमें धारण करते हैं अपनी शक्तिके अनुसार इन सबको सदा पालन करते हैं वे मनुष्य अनुक्रमसे स्वर्गादिकोंके सुखोंको भोगकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ३३८ ॥ ३३९ ॥

प्रथमेऽजनचौरोऽङ्गेऽनन्तमतीं स्पृहातिगा ।
द्वितीयेंऽगे तृतीयेऽपि ह्युद्दायनो नृपः प्रभुः ॥ ३४० ॥
चतुर्थे रेवती राज्ञी जिनभक्तोऽथ पंचमे ।
षष्ठे श्रेष्ठोत्तमो योगी वारिषेणो नृपात्मजः ॥ ३४१ ॥
विष्णुनामा मुनिर्धीरः सप्तमे भव्यवत्सलः ।
वज्रनामा मुनिर्वीरो ह्यष्टमे क्रमतोऽभवत् ॥ ३४२ ॥
पूर्वोक्तानां च भव्यानामष्टांगधारिणां सताम् ।
सदानुकरणं कार्य भव्यैः स्वर्मोक्षहेतवे ॥ ३४३ ॥

इन आठों अंगोंमेंसे पहले निःशंकित अंगमें अंजन चोर प्रसिद्ध हुआ है, दूसरे निःकांक्षित अंगमें इच्छाओंको न रखनेवाली अनंतमती प्रसिद्ध हुई है । तीसरे निर्विचिकित्सा अंगमें उद्दायन राजा प्रसिद्ध हुआ है । चौथे अमूढदृष्टि अंगमें रेवती रानी प्रसिद्ध हुई है । पांचवें उपगूहन अंगमें राजा उद्दायन प्रसिद्ध हुआ है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छठे स्थिति करण अंगमें राजा श्रेणिक के पुत्र सर्वोत्तम मुनिराज बारिपेण प्रसिद्ध हुए हैं। सातवें वात्सल्य अंगमें प्रेम रखनेवाले धीरवीर मुनि विष्णुकुमार प्रसिद्ध हुए हैं तथा आठवें प्रभावना अंगमें धीर वीर मुनिराज बज्रकुमार प्रसिद्ध हुए हैं। इस प्रकार आठों अंगोमें अनुक्रमसे प्रसिद्ध हुए हैं। भव्य जीवोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये आठों अंगोंको धारण करनेवाले इन ऊपर कहे हुए सज्जन भव्य पुरुषोंका सदा अनुकरण करते रहना चाहिये ॥ ३४० - ३४३॥

लक्षणं मूढतानां भो वद मे साम्प्रतं गुरो !

प्रश्न - हे गुरो ! अब मेरे लिए मूढ़ताओंका लक्षण कहिये?

क्रोधस्य लोभस्य परात्मबुद्धे-,
र्विनाशनेनैव भवेत्सुधर्मः ।
स्वर्मोक्षदाता च जिनोक्त एव,
त्यक्त्वा खलास्तं च जिनोक्तधर्मम् ॥ ३४४ ॥
स्नानेन नद्यां तपनेन चाग्नौ,
ब्रुवन्ति पत्या मरणेन सार्द्धम् ।
धर्मे च तत्रैव चलन्ति निंद्ये,
लोकस्य तेषामिति मूढतापि ॥ ३४५ ॥

इस संसारमें श्रेष्ठ धर्म क्रोधका त्याग, लोभका त्याग करने और परपदार्थों में आत्मबुद्धिका त्याग करनेसे होता है, तथा वही श्रेष्ठ धर्म भगवान् जिनेन्द्र देवका कहा हुआ है और स्वर्गमोक्षका देनेवाला है। जो दुष्ट लोग भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए इस श्रेष्ठ धर्मको छोड़कर नदीमें स्नान करने की धर्म बतलाते हैं, अग्निमें तपनेको बतलाते हैं और पतिके साथ मरनेको धर्म बतलाते हैं तथा उसी अपने बतलाये निंद्य धर्ममें स्वयं चलते हैं वा उस धर्मको धारण करते हैं उनका उस निंद्य धर्मका धारण करना लोकमूढ़ता कहलाती है ॥ ३४४ ॥ ३४५ ॥

निजात्मवाह्याश्च विवेकशून्या,
ये केऽपि मूर्खा धनपुत्रहेतोः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भक्त्या कुदेवान् जिनधर्मबाह्यान्,
नमन्ति वान्यान् खलु नामयन्ति ॥ ३४६ ॥
भवेद्धि तेषामिति देवतायाः,
स्वराज्यहर्त्री खलु मूढतापि ।
ज्ञात्वेति भव्यैः परमार्थनिष्ठै,
र्न वन्दनीया जिनबाह्यदेवाः ॥ ३४७ ॥

जो लोग अपने आत्मज्ञानसे रहित हैं और विवेक रहित हैं ऐसे मूर्ख धन वा पुत्रकी प्राप्तिके लिये जिनधर्मसे रहित ऐसे कुदेवोंको भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं और अन्य जीवोंसे नमस्कार कराते हैं ऐसे जीवोंका कुदेवोंको नमस्कार करना वा कराना देवमूढ़ता कहलाती है । यह देवमूढ़ता आत्मजन्य स्वराज्यको वा सुखको हरण करनेवाली है । यहीं समझकर परमार्थमें तल्लीन हुए भव्य जीवोंको जिन-धर्मसे रहित देवोंकी कभी वंदना नहीं करनी चाहिये ॥ ३४६ ॥ ३४७ ॥

स्वात्मच्युतानां विषयाश्रितानां,
गृहस्थयोग्यं भवदं च कार्यम् ।
प्रकुर्वतां क्लेशकरं कुकर्म,
पाषंडिनां धर्मविरोधकानाम् ॥ ३४८ ॥
मंत्रादिहेतोर्व्यवहारतोऽपि,
पूजा प्रशंसा क्रियते च यौर्हि ।
तेषां भवेद्दुःखभयं व्यथादं,
पाषंडिमूढत्वमिति स्वाभावात् ॥ ३४९ ॥

जो पाखंडी वा कुगुरु अपने आत्मज्ञानसे रहित हैं, विषयोंके लोलुपी हैं, धर्मके विरोधी हैं और इस पृथ्वीपर गृहस्थोंके योग्य तथा संसारको बढ़ानेवाले कार्य किया करते हैं अथवा क्लेश उत्पन्न करनेवाले अन्य कुकर्म किया करते हैं ऐसे पाखंडी साधुओंकी जो लोग किसी मंत्रादि के लिये अथवा अपना व्यवहार दिखलानेके लिये पूजा वा प्रशंसा करते हैं उसको स्वभावसेही दुःख और पीड़ा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देनेवाली पाखंडिमूढता कहते हैं ॥ ३४८ ॥ ३४९ ॥

साम्प्रतं सद्गुरो ! ब्रूहि षडायतनलक्षणम् ?

प्रश्न - हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि छह आयतनोंका लक्षण क्या है?

चतुर्गतीनां खलु कारणस्य,
भक्त्या कुदेवस्य तथैव तस्य ।
भक्तस्य सत्यार्थविदा नरेण,
स्तुतिः सुपूजा न कदापि कार्या ॥ ३५० ॥
देवे सुभक्ते खलु तस्य कार्या,
न द्वेषबुद्धिर्भवदायिकापि ।
ज्ञात्वेति वंद्यो भुवि बोधनार्थं,
निर्दोषदेवः खलु तस्य भक्तः ॥ ३५१ ॥

उत्तर - कुदेव और उनके भक्त चारों गतियोंमें परिभ्रमण करानेवाले हैं । अतएव पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले भव्य जीवोंको इन कुदेव ओर उनके भक्तोंकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति कभी नहीं करनी चाहिये । इसी प्रकार देव और उनके श्रेष्ठ भक्तोंमें संसारको बढ़ानेवाली द्वेषबुद्धि भी कभी नहीं करनी चाहिये । यही समझकर भव्य जीवोंको अपना आत्मज्ञान उत्पन्न करनेके लिये निर्दोष देव और उनके भक्तोंकी वन्दना करनी चाहिये ॥ ३५० ॥ ३५१ ॥

स्वर्मोक्षमार्गातिबिनाशकस्य,
ह्येकान्तपक्षैरतिदूषितस्य ।
संगः कुशास्त्रस्य च पाठकस्य,
कार्यो न भव्यैः पठनं कदापि ॥ ३५२ ॥
शास्त्रे जिनोक्तेऽस्य च पाठके च,
न द्वेषबुद्धिश्च कदापि कार्या ।
ज्ञात्वेत्यपेक्षासहितं जिनोक्तं,
ग्राह्यं हि शास्त्रं भुवि बोधनार्थम् ॥ ३५३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस संसारमें कुशास्त्र और उनके पढ़नेवाले लोग स्वर्ग और मोक्षके मार्गको अत्यंत नाश करनेवाले हैं और एकांतपक्षसे अत्यंत दूषित हैं । अत एव भव्यपुरुषोंको कुशास्त्र और उनके पढ़ानेवालोंका समागम कभी नहीं करना चाहिये और न कभी उन शास्त्रोंका पठन पाठन करना चाहिये । इसीप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंमे तथा उनके पठन पाठन करनेवालोंमें कभी द्वेषबुद्धि न करनी चाहिये । यही समझकर अपना आत्मज्ञान प्रगट करने के लिये भव्यजीवोंको अपेक्षाकृत नयोंसे सुशोभित ऐसे भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका सदाकाल पठन पाठन करना चाहिये ॥ ३५२ ॥ ३५३ ॥

कुमार्गनेतुः कुगुरोश्च तस्य,
शिष्यस्य मिथ्यात्वविवर्द्धकस्य ।
समस्तसंतापनिधानमूर्तेः,
संगो न कार्या विनयोपचारः ॥ ३५४ ॥
न दुष्टबुद्धिः सुगुरौ सुशिष्ये,
कार्या सुभव्यैरतिपापदा सा ।
गुरुर्विसंगी सुखशांतिदाता,
भवेद्दयाद्रों भुवि बोधनार्थम् ॥ ३५५ ॥

कुगुरु और उनके शिष्य दोनों ही मिथ्यात्वको बढ़ाने वाले हैं, कुमार्गमें ले जानेवाले हैं और समस्त संताप के खजाने की मूर्ति हैं अतएव ऐसे कुगुरु और उनके शिष्यों का समागम कभी नहीं करना चाहिए और न कोई उनका उपचार विनय करना चाहिए । इसी प्रकार श्रेष्ठ भव्य जीवोंको सुगुरु और सुशिष्योंमें पाप उत्पन्न करनेवाली द्वेषबुद्धि भी कभी नहीं करनी चाहिए । भव्य जीवोंको अपना आत्मज्ञान प्रगट करने के लिये दयालु सुख शांति को देनेवाला और समस्त परिग्रहोंसे रहित ऐसा निर्ग्रंथ गुरु ही बनाना चाहिए ॥ ३५४ ॥ ३५५ ॥

भावार्थ - कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु तथा इन तीनों के भक्तोंकी सेवा भक्ति करना छह अनायतन हैं और देव शास्त्र गुरु तथा उनके भक्तोंको सेवा भक्ति करना छह आयतन हैं ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भो गुरो ! कथनीयानि मदानां लक्षणानि च ?

प्रश्न - हे गुरो ! अब कृपाकर मदोंके लक्षण कहिये ?

स्थापनात्पाठशालानां पठनात्पाठनात् भवेत् ।
ज्ञानोपकरणादेर्वा दानाद् ज्ञानं शिवप्रदम् ॥ ३५६ ॥
ज्ञात्वेति ज्ञानदानं हि कार्य निःस्वार्थतः सदा ।
प्राणेष्वितेष्वपि ज्ञानगर्वः कार्यो न हानिदः ॥ ३५७ ॥

उत्तर - पाठशालाओंके स्थापन करनेके तथा भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंके पठन पाठन करनेसे अथवा ज्ञानके उपकरणोंका दान देनेंसे मोक्ष देने-वाला आत्मज्ञानं प्रगट होता है । यही समझकर भव्य जीवोंको अपनी निःस्वार्थ बुद्धिसे सदा ज्ञानदान करते रहना चाहिये तथा अपने प्राणोंका नाश होनेपर भी संसारको बढ़ानेवाला ज्ञानका मद कभी नहीं करना चाहिये ॥३५६॥३५७॥

कुर्वन्ति स्वात्मशून्या हि पूजामदं भवप्रदम् ।
सन्तः स्वानन्दपुष्टा न ते जानन्ति निजात्मनः ॥ ३५८ ॥
पूजा प्रतिष्ठा लोकेस्मिन् पुण्योदयेन लभ्यते ।
धर्मः परोपकारो वा कर्तव्यः प्राप्य तां शुभाम् ॥ ३५९ ॥
पूजामदो न कार्यो हि ज्ञात्वेति भववर्द्धकः ।
सरसै रसिकैर्भव्यैर्जिनाज्ञाप्रतिपालकैः ॥ ३६० ॥

जो मनुष्य आत्मज्ञानसे रहित हैं वे ही पुरुष संसारको बढ़ानेवाला पूजा प्रतिष्ठा का अभिमान करते हैं । जो सज्जन हैं और आत्मजन्य आनंदसे परिपुष्ट हैं वे कभी पूजा प्रतिष्ठाका अभिमान नहीं करते । क्योंकि वे आत्माके स्वरूपको जानते हैं । वे समझते हैं कि इस संसारमें पूजा प्रतिष्ठा पुण्योदयसे प्राप्त होती है । अतएव इस शुभरूप पूजा प्रतिष्ठाको पाकर धर्मकार्य करना चाहिये अथवा परोपकार करना चाहिये । यही समझकर भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रतिपालन करनेवाले पूजा प्रतिष्ठाका अभिमान कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३५८ - ३६० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवत्युच्चकुले जन्म पुणयात्स्वर्मोक्षसाधके ।
नीचे कुले ध्रुवं पापदर्हत्पूजादिरोधके ।। ३६१ ।।
प्राप्तोऽस्म्यनन्तबारं कौ कुयोनिं मददोषत: ।
कार्य: कुलमदो नैव ज्ञात्वेति भवभीरुभि: ।। ३६२ ।।

इस संसारमें पुण्यकर्मके उदयसे स्वर्ग मोक्षको सिद्ध करने योग्य उच्च कुलमें जन्म होता है तथा पापकर्मके उदयसे जिसमें भगवान अरहंत देवकी पूजा वा पात्रदान आदि न किया जा सके ऐसे कुलमें जन्म होता है । ``मैं अपने अभिमानके दोषसे इस पृथ्वीपर अनंतवार कुयोनिमें उत्पन्न हुआ हूं'' यही समझकर संसारके परिभ्रमणसे डरनेवाले भव्य जीवोंको अपने उच्चकुलका मद कभी नहीं करना चाहिये ।। ३६१ ।। ३६२ ।।

दानादिधर्मकार्येणार्हदादिजन्मदायिनी ।
श्रेष्ठा जातिर्भवेल्लोके ज्ञात्वेति भवभीरुभि: ।। ३६३ ।।
जात्या मदो न वै कार्या मानवैर्दुष्ठहेतुना ।
धर्मकार्यंसदा कार्यं श्रेष्ठा जातिर्भवेद्यत: ।। ३६४ ।।

इस संसारमें भगवान अरहंत देवको जन्म देनेवाली श्रेष्ठ जाति पात्रदान आदि धर्मकार्योंसे ही उत्पन्न होती है । यही समझकर संसारके भयभीत रहनेवाले भव्य जीवोंको अपने प्राण जानेपर भी किसी भी दुष्ट कारणसे जातिका मद नहीं करना चाहिये । तथा सदा काल धर्मकार्य ही करते रहना चाहिये जिससे कि सदा श्रेष्ठ जाति ही प्राप्त होती रहे ।। ३६३ ।। ३६४ ।।

मदादिदोषनाशाद्वा वीर्यान्तरायकर्मण: ।
क्षयाद्बलं भवेच्छ्रेष्ठं तपोध्यानादिसाधकम् ।। ३६५ ।।
ज्ञात्वेति योजनीयं हि धर्मे जीवादिरक्षणे ।
हिंसने नैव जीवानां कार्यो बलमदोऽपि च ।। ३६६ ।।

इस संसारमें तप और ध्यानादिक को सिद्ध करनेवाला श्रेष्ठ बल मद आदि दोषोंके नाश होनेसे और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम होनेसे प्राप्त होता है । यही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समझकर उस प्राप्त हुए बलको धर्मकार्योंमें अथवा जीवोंकी रक्षा करनेमें लगाना चाहिये । जीवोंकी हिंसा करनेमें कभी नहीं लगाना चाहिये । तथा प्राप्त हुए बलका अभिमान भी कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३६५ ॥ ३६६ ॥

स्वात्मस्वादात्प्रभोर्ध्यानात्क्षमाशीलादियोगत् : ।

ऋद्धिर्वाञ्छितदा स्याद्धि मिथ्यामदादिनाशत: ॥ ३६७ ॥

ज्ञात्वेति स्वात्मावाह्यो हि करोत्यृद्धेर्मदं मुनि: ।

धर्मज्ञ: स्वात्मनिष्ठो न मददोषोत्करं विदन् ॥ ३६८ ॥

इस संसारमें जो विभूतियां वा ऋद्धियां प्राप्त होती हैं वे शुद्ध आत्माका स्वाद होनेसे, भगवान जिनेन्द्रदेवका ध्यान करनेसे, क्षमा शील आदिके पालन करनेसे और मिथ्यामदोंके नाश करनेसे प्राप्त होती हैं । यही समझकर जो मुनि आत्मज्ञानसे रहित है वे ही इन ऋद्धियोंका मद करते हैं । धर्मके स्वरूपको जाननेवाले अपने आत्मा में तल्लीन रहनेवाले और मदके दोषोंको अच्छीतरह जाननेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुष इन ऋद्धियोंका वा विभूतियोंका मद कभी नहीं करते ॥ ३६७ ॥ ३६८ ॥

अन्नौषधादिदानाद्वा मदादिदोषनाशत: ।

स्वर्मोक्षसाधक: कायो भवेद् ज्ञात्वेति सुन्दर: ॥ ३६९ ॥

ज्ञानध्यानतपोधर्मे योजनीयोऽतियत्नत: ।

वपुर्मदो न वै कार्य: कदापि भरभीरुभि: ॥ ३७० ॥

इस संसारमें स्वर्गमोक्षको सिद्ध करनेवाला सुन्दर शरीर अन्न ओषध आदिके दान देनेसे और मद आदि दोषोंको नाश कर देनेसे प्राप्त होता है । यही समझकर संसारसे भयभीत रहनेवाले भव्य जीवोंको यत्नपूर्वक अपना शरीर ज्ञान, ध्यान, तप और धर्ममें लगाना चाहिये । तथा अपने प्राण जानेपरभी शरीरका मद कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३६९ ॥ ३७० ॥

इच्छारोधस्तपश्चिह्नं प्रोक्तं स्वर्मोक्षदायकै: ।

मोक्षेच्छापि जिनै:प्रोक्ता स्वर्मोक्षध्वंसिका ध्रुवं ॥ ३७१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथा तत्रान्यवस्तूनांकेति बुद्ध्वा सुतत्त्वत: ।
केषामपि मद: कार्यो न केवलं तपोमद: ।। ३७२ ।।

— स्वर्गमोक्षको देनेवाले भगवान जिनेन्द्रदेवने इच्छाका निरोध करना ही तपश्चरणका लक्षण बतलाया है । भगवान जिनेन्द्रदेवने मोक्षकी इच्छा करना भी स्वर्ग मोक्षकी नाश करनेवालो बतलाई है । फिर भला अन्य वस्तुओंकी इच्छा करनेकी तो बात ही क्या है । इसप्रकार तपश्चरणके स्वरूपको अच्छी तरह समझकर किसीका भी मद नहीं करना चाहिये फिर भला तपश्चरणके मदकी तो बात ही क्या है । तपश्चरणका मद तो कभी नहीं करना चाहिये ।। ३७१ ।। ३७२ ।।

इति श्री १०८ मुनिराजकुंथुसागरविरचिते
बोधामृतसारग्रंथ षोडशकारणभावनादश-
धर्मपूर्णांगसम्यग्दर्शनवर्णनो नाम
द्वितीयोऽधिकार: ।

इस प्रकार मुनिराज श्री १०८ कुंथुसागरविरचित
बोधामृतसार नामके ग्रंथमें सोलहकारण भावना
दश धर्म और पूर्णांग सम्यग्दर्शनको वर्णन
करनेवाला यह दूसरा अधिकार
समाप्त हुआ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कीदृक् कार्य गुरो ! लोकेऽनुप्रेक्षाचिन्तनं सदा?

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें सदा काल अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन किस प्रकार करना चाहिए ?

सर्वे पुण्यवशाः सन्ति धनराज्यादिबांधवाः ।
यावत्पुण्यं समं तावत्तिष्ठन्ति बंधुभावतः ।। ३७३ ।।
तस्य क्षयात्पलायन्ते खगा इव तरुस्थिताः ।
नित्यः स्वात्मैव बोद्धव्योऽन्येऽनित्याःसकला इति ।। ३७४ ।।

इस संसारमें धन, राज्य, भाई बंधु आदि सब पुण्यके अधीन हैं, जबतक पुण्य का उदय रहता है तबतक सब भाई बंधुके प्रेमसे बने रहते हैं, जब उस पुण्यका क्षय हो जाता है तब वृक्षपर बैठे हुए पक्षियोंके समान सब भाग जाते हैं। इसलिये भव्य जीवोंको विचार करना चाहिये कि इस संसारमें एक अपना आत्मा ही नित्य है बाकीके समस्त पदार्थ अनित्य हैं इस प्रकारके चिंतन करनेको अनित्यानुप्रेक्षा कहते हैं ।। ३७३ ।। ३७४ ।।

गजाश्वमंत्रतंत्रादिविद्यागदकलादिकाः ।
यक्षेंद्रचक्रवर्त्याद्या मृत्युकाले न केऽप्यमी ।। ३७५ ।।
रक्षंति यदि चेत्पाति ज्ञात्वेति पुण्यमेव हि ।
स्वात्मनः स्वात्मना रक्षा कार्या स्वानन्दसाधकैः ।। ३७६ ।।

इस संसारमें इस जीवका जब मरणसमय आता है तब हाथी, घोड़ा, मंत्र, तंत्र, विद्या, औषधि, कला, यक्ष, इन्द्र और चक्रवर्ती आदि कोई भी इस जीवकी रक्षा नहीं कर सकता। यदि कोई इस जीवकी रक्षा कर सकता है तो एक पुण्य ही कर सकता है। यही समझकर अपने आत्मजन्य आनंदामृतको सिद्ध करनेवाले भव्य जीवोंको अपनेही आत्माके द्वारा अपने आत्माकी रक्षा करनी चाहिये इसको अशरणानुप्रेक्षा कहते हैं ।। ३७५ ।। ३७६ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोहवशात्स्वसा बंधुर्देवो मृत्वा पशुर्भवेत् ।
राज्ञी मृत्वा भवेद्दासी पुत्रो मृत्वा भवेत्पिता ।। ३७७ ।।
भार्या मृत्वा भवेन्माता शत्रुर्भूत्वा भवेत्सखा ।
मोहं त्यक्त्वैव बुद्ध्वेत्यात्मानं स्वात्मनि चिन्तयेत् ।। ३७८ ।।

इस मोहनीय कर्मके उदयसे मोहित हुआ यह जीव बहिन की पर्याय छोड़कर भाई हो जाता हैं, देव मरकर पशु होजाता है, रानी मरकर दासी हो जाती है, पुत्र मरकर पिता हो जाता है, स्त्री मरकर माता हो जाती है और शत्रु मरकर मित्र हो जाता है । इस संसारके ऐसे परिभ्रमणको समझकर भव्य जीवों को अपने मोहका त्याग कर देना चाहिये और अपने ही आत्मामें अपने आत्माका चिन्तन करना चाहिये इसको संसारानुप्रेक्षा कहते हैं ।। ३७७ ।। ३७८ ।।

शुभाशुभवशाज्जीवो म्रियते जायते सदा ।
एको राजेति रंकोऽपि स्त्रीनरोऽथ पशुर्द्विजः ।। ३७९ ।।
कोऽपि कस्य सहायी न स्थितेऽपि बांधवे प्रिये ।
ज्ञायतेऽतो ध्रुवं लोके क्रियते यादृशं हि यैः ।। ३८० ।।
तादृशे भुज्यते कर्मान्यथा भवेत्कदापि न ।
कार्य ज्ञात्वेति कर्तव्यं तत्स्वरक्षा भवेद्यतः ।। ३८१ ।।

इस संसारमें यह जीव शुभ और अशुभ कर्मके निमित्तसे अकेला ही मरता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेलाही राजा होता है, अकेला ही रंक होजाता है, अकेला ही स्त्री होता है, अकेला ही पुरुष होता है, अकेलाही पशु होता है और अकेला ही द्विज होता है वा पक्षी होता है । यद्यपि प्यारे भाई बंधु आदि सब रहते हैं तथापि कोई किसीका सहायी नहीं रहता । इससे यह निश्चय रूपसे जाना जाता है कि जो जीव जैसा शुभाशुभ कर्म करते हैं वैसा ही उन्हें अकेला भोगना पड़ता है । वह कभी बदल नहीं सकता । यही समझकर भव्य जीवोंको ऐसा कार्य करते रहना चाहिये जिससे इस अपने आत्मा की रक्षा सदा होती रहे । इसको फिर कभी भी न मरना पड़े इसको एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं ।। ३७९ - ३८१ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पिता माता स्वसा बंधुः पुत्री पौत्री सखा सखी ।
पुत्रः पौत्रो गृहं भार्या पुरराज्यादि भूषणम् ।। ३८२ ।।
एते सर्वेऽपि सन्त्यन्ये स्वात्मनस्तत्त्वतो यथा ।
पूर्वतः पश्चिमः कार्याऽन्यो ज्ञात्वा न परे स्पृहा ।। ३८३ ।।

वास्तवमें देखा जाय तो इस संसारमें माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्री, पोती, सखा, सखी, पुत्र, पौत्र, घर, स्त्री, पुरुष, राज्य और वस्त्राभूषण आदि समस्त पदार्थ इस आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं और ऐसे भिन्न हैं जैसे पूर्वसे पश्चिम सर्वथा भिन्न होती है । यही समझकर भव्य जीवों को अपने आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें कभी इच्छा नहीं करनी चाहिये । इसको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं ।। ३८२ ।। ३८३ ।।

मलमूत्रभृतो देहो रक्तमांसास्थिपूरितः ।
रजोवीर्यसमुत्पन्नो जातो घृणितमार्गतः ।। ३८४ ।।
एतादृशः शरीरस्य किं योग्यं स्नेहलालनम् ।
तपस्तप्त्वा च तत्प्राप्य साधयन्तु शिवं जनाः ।। ३८५ ।।

यह शरीर मलमूत्रसे भरा हुआ है, हड्डी मांस और रुधिर से भरा हुआ है, रज वीर्यसें उत्पन्न हुआ है और घृणित मार्गसे प्रगट हुआ है । क्या ऐसे इस शरीर का स्नेहपूर्वक लालन पालन करना उचित है? ऐसे शरीरको पाकर तो घोर तपश्चरण करना चाहिये और घोर तपश्चरण कर लोगोंको मोक्षकी सिद्धि कर लेनी चाहिये । इसको अशुचित्वानुप्रेक्षा कहते हैं ।। ३८४ ।। ३८५ ।।

रागद्वेषैश्च मिथ्यात्वैः सदास्रावः कुकर्मणः ।
स्वर्मोक्षरोधको नित्यं भवेच्च भवबर्द्धकः ।। ३८६ ।।
त्यक्त्वा द्वेषादिमिथ्यात्वं ज्ञात्वेति तत्त्वतो जवात्
स्वात्मबुद्धिः सदा कार्या जिनधर्मे शिवप्रदे ।। ३८७ ।।

इस संसारी जीवोंके राग द्वेष और मिथ्यात्वके कारण सदा अशुभ कर्मोंका आस्रव होता रहता है । यह आस्रव स्वर्ग मोक्षको रोकनेवाला है और सदाके लिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसारके परिभ्रमणको बढ़ानेवाला है। अतएव भव्य जीवोंको बहुत ही शीघ्र आस्रवका यथार्थ स्वरूप समझ कर रोगद्वेष और मिथ्यात्वका त्याग कर देना चाहिये तथा अपनी बुद्धि सदाकाल मोक्ष देनेवाले जिनधर्ममें लगाते रहनी चाहिये। इसको आस्रवानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ ३८६ ॥ ३८७ ॥

आस्रवस्य निरोधश्च संवरो मोक्षदायकः ।
इच्छारोधस्तपोभिश्च क्षमाशांत्यादियोगतः ॥ ३८८ ॥
भवोत्स्वानन्दपानाद्धि ज्ञात्वा चैवं जिनागमात् ।
त्यक्त्वा द्वेषादिमिथ्यात्वं स्वात्मानं चिन्तयेत्सदा ॥ ३८९ ॥

आस्रवका निरोध करना संवर है। यह संवर मोक्षको देनेवाला है तथा यह संवर इच्छाका निरोध करनेरूप तपश्चरणसे होता है, क्षमा धारण करने अथवा शांति वा उपशम परिणामोंसे होता है, और अपने आत्मजन्य आनन्दामृतका पान करनेसे भी होता है। जिनागमसे इन सब बातोंको समझकर भव्य जीवोंको रागद्वेष और मिथ्यात्वका त्याग कर देना चाहिये और सदाकाल अपने शुद्ध आत्माका चिन्तन करते रहना चाहिये। इसको संवरानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ ३८८ ॥ ३८९ ॥

गुप्त्या समित्या तपसा धर्मचारित्रचिन्तनैः ।
रागद्वेषयुतो जीवो विशेषेण विशुध्यति ॥ ३९० ॥
अग्निना शुध्यति स्वर्णं तथा ध्यानेन योगिनः ।
ज्ञात्वेति च्छेदनीयं हि कर्मजालं जनैर्जवात् ॥ ३९१ ॥

यह रागद्वेषसहित जीव भी गुप्ति, समिति, तपश्चरण, धर्म, चारित्र और ध्यान से विशेष शुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार अग्निसे सुवर्ण शुद्ध होता जाता है उसी प्रकार योगी लोग भी ध्यानसे ही शुद्ध होते हैं। यही समझकर भव्यजीवोंकी बहुत शीघ्र अपना कर्मरूपी जाल छिन्न भिन्न कर नष्ट कर देना चाहिये। इसको निर्जरानुप्रेक्षा कहतै हैं ॥ ३९० ॥ ३९१ ॥

लोके पापवशाज्जीवा दुःखं श्वभ्रगतौ परम् ।
तिर्यग्गतौ च संजातं देवे नरभवे तथा ॥ ३९२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भुंजते दीनभावेन ज्ञात्वा त्यक्त्वा शुभं क्रमात् ।
जिनधर्मे स्थितिः कार्या शुद्धात्मन्येव मोक्षदे ।। ३९३ ।।

इस लोकमें भरे हुए समस्त संसारी जीव पापकर्मके उदयसे दीनता धारण कर नराकादिकोंमें परम दु:ख भोगते हैं, तिर्यंचगतिमें महादु:ख भोगते हैं तथा देव और मनुष्य गतिमें महादु:ख भोगते हैं । यही समझकर भव्य जीवोंको अनुक्रमसे समस्त पापोंका त्याग कर देना चाहिये और जिनधर्ममें अपने आत्माको स्थिर कर देना चाहिये, अथवा मोक्ष प्राप्त करानेवाले अपने शुद्ध आत्मामें अपने आत्माको स्थिर कर देना चाहिये । इसको लोकानुप्रेक्षा कहते हैं ।। ३९२ ।। ३९३ ।।

प्राप्य स्वात्मोपलब्धिं च भवक्लेशादिनाशिनीम् ।
गतप्राणोऽपि कार्यो न प्रमादो भवबर्द्धकः ।। ३९४ ।।
स्वात्मबाह्यं कृतं कार्यं बहुवारं भवप्रदम् ।
ज्ञात्वेति मोक्षदं कार्यं कर्तव्यं शांतिदायकम् ।। ३९५ ।।

अपने शुद्ध आत्मा की उपलब्धि संसारके समस्त क्लेशोंको नाश करने वाली है उसको पाकर अपने प्राण जानेपर भी संसारके जन्म मरणको बढ़ाने वाला प्रमाद कभी नहीं करना चाहिए । इस संसार में इस जीवमे अपने आत्मस्वरूपसे रहित और संसारको बढ़ाने वाले कार्य अनेक वार किये हैं । यही समझकर अब मोक्ष देनेवाले और सर्वथा शांति उत्पन्न करने वाले कार्य इस जीवको सदा करते रहना चाहिये । इसको बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं ।। ३९४ ।। ३९५ ।।

प्रमादः प्राप्य कार्यो न धर्मं स्वर्मोक्षदायकम् ।
धर्मप्रसादाज्जीवेन लभ्यते वाञ्छितं फलम् ।। ३९६ ।।
स्वानन्दस्वादतः शीघ्रं स्वराज्यं लभतेऽचलम् ।
ज्ञात्वेत्यर्हत्प्रभोर्धर्मः कार्यः स्वर्मोक्षहेतवे ।। ३९७ ।।

स्वर्गमोक्ष देनेवाले इस जैनधर्मको पाकर कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये । क्योंकि यह जीव इस धर्मके प्रसादसे ही इच्छानुसार फलको प्राप्त होता है । अपने आत्मजन्य आनन्दामृत-रसका स्वाद लेनेसे इस जीवको शीघ्र ही मोक्ष रूप अचल स्वराज्य की प्राप्ति हो जाती है । यही समझ कर भव्यजीवों को स्वर्गमोक्ष प्राप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने के लिए भगवान अरहंत देवका कहा हुआ जिनधर्म अवश्य धारण करना चाहिये इसको धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं ।। ३९६ ।। ३९७ ।।

परवस्तु परित्यज्य ध्यातव्यं स्वात्मवस्तु हि ।
सारांश इति बोद्धव्यः स्वरसरसिकैर्जनैः ।। ३९८ ।।

इन सब बारह अनुप्रेक्षाओंके चिंतन करने का वा कहनेका मुख्य सारांश यही है कि जो भव्य जीव अपने आत्मजन्य आनंद रसके रसिक हैं उन्हें परपदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और अपने शुद्ध आत्माका ध्यान करते रहना चाहिए ।। ३९८ ।।

सप्ततत्वानि लोकेऽस्मिन् सन्ति कानि जगद्गुरो !

प्रश्न - हे जगद्गुरो ! इस संसारमें सात तत्त्व कौन २ हैं ?

चिन्मात्रमूर्तिः परमार्थदृष्ट्या,
स्वभावकर्ता निजसौख्यभोक्ता ।
सर्वोऽपि जीवो व्यवहारदृष्ट्या,
कर्तास्ति भोक्तापि शुभाशुभस्य ।। ३९९ ।।
संयोगतः पुद्गलकर्मणोऽयं,
भवे महादुःखमये निमग्नः ।
शुद्धस्वभावो हृदि धारणीयः,
ज्ञात्वेति भव्यैर्निजराज्यहेतोः ।। ४०० ।।

परमार्थदृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह जीवचिन्मात्र मूर्ति वा चैतन्यस्वभाव रूप है, अपने निज स्वभाव का कर्ता है, और अपने आत्मजन्य सुखका भोक्ता है । यदि व्यवहार दृष्टिसे देखा जाय तो संसारी समस्त जीव शुभाशुभ कर्मोंके कर्ता हैं और उनके फलोंके भोक्ता हैं । पुद्गल कर्मोंके संयोगसे ये संसारी जीव अनेक महादुःखमय इस संसार में निमग्न हो रहे हैं । यही समझकर भव्य जीवोंको अपना शुद्ध आत्म-स्वरूप-स्वराज्य प्राप्त करनेके लिये अपने हृदयमें अपने शुद्ध आत्माका स्वस्थ चिन्तन करना चाहिये ।। ३९९ ।। ४०० ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मोऽप्यधर्मो गमनं च कालोऽ-,
जीवोऽप्यभूतों रहित: क्रियाभि: ।
गतिस्थितिस्थानविवर्तनादि,
स्तेषां स्वभावो भवति स्वभावात् ।। ४०१ ।।
प्रोक्त: सुमूर्त्त: खलु पुद्गलश्च,
स्पर्शादियुक्त: सहित: क्रियाभि: ।
ज्ञात्वेति भव्यैर्हृदि भावनीय,
मजीवतत्त्वं हि निजात्मबाह्यम् ।। ४०२ ।।

अब अजीव तत्त्वको कहते हैं । धर्म अधर्म आकाश और काल ये चारों अजीव द्रव्य अमूर्त्त हैं और क्रिया रहित हैं । इनमेंसे धर्मद्रव्यका स्वभाव जीव पुद्गलोंके गमन करनेमें सहायता देना है, अधर्म द्रव्यका स्वभाव जीव पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायता देना है, आकाशका स्वभाव समस्त द्रव्योंको अवकाश देना है और कालद्रव्यका स्वभाव द्रव्योंके परिवर्तन में सहायता देना है । इन द्रव्योंका यह स्वभाव स्वाभाविक है । इनके सिवाय अजीव तत्त्व एक पुद्गल और हैं । वह मूर्त्त है-स्पर्श रस गंध वर्णसहित है तथा क्रियासहित है । इसप्रकार अजीव तत्त्वके पांच भेद हैं । इन सबका स्वरूप समझकर भव्य जीवोंको अपने हृदय में इस अजीव तत्त्वको अपने आत्मस्वरूप से सर्वथा भिन्न समझना चाहिये, तथा आत्मासे भिन्न ही चन्तन करना चाहिये ।। ४०१ ।। ४०२ ।।

कर्मास्रवो यैश्च शुभाशुभैर्वा,
मिथ्यात्वरागादिकषायभावै: ।
भावास्रव: स्यात्खलु तन्निमित्ताद्,
द्रव्यास्रवो ज्ञानसुखादिहर्ता ।। ४०३ ।।
प्रोक्तं स्वबुध्द्यास्रवतत्त्वमेवं,
यथास्थितं भो व्यवहारदृष्ट्या ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निजात्मबाह्यो द्विविधास्रवोऽपि,
ज्ञातव्य एवं परमार्थदृष्ट्या ।। ४०४ ।।

जिन मिथ्यात्व राग आदि कषायरूप शुभ अशुभ परिणामोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उसको भावास्रव कहते हैं । उस भावास्रवके निमित्तसे जो कर्म आते हैं उन कर्मोंके आनेको द्रव्यास्रव कहते हैं । यह द्रव्यास्रव ज्ञान सुख आदि आत्माके गुणोंको नष्ट करनेवाला है । इस प्रकार आस्रवका जैसा स्वरूप है वहीं मैने अपनी बुद्धिके अनुसार व्यवहारदृष्टिसे निरूपण किया है । परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो ये दोनों ही प्रकारके आस्रव अपने शुद्ध आत्मासे सर्वथा भिन्न है । इस प्रकार इनका स्वरूप समझना चाहिये ।। ४०३ ।। ४०४ ।।

भावेन येनात्मन एव यश्च,
भवत्यवश्यं खलु कर्मबन्धः ।
स भावबंधः सुखशांतिहर्ता,
सर्वात्मदेशे खलु कर्मबन्धः ।। ४०५ ।।
स द्रव्यबंधो भवदुःखदो वा,
प्रोक्तो यथावद् व्यवहारदृष्ट्या ।
निजात्मबाह्ये द्विविधोऽपि बंधो,
ज्ञातव्य एवं परमार्थदृष्ट्या ।। ४०६ ।।

आत्माके जिन परिणामोंसे कर्मोंका बंध अवश्य होता है उन परिणामोंको भावबंध कहते हैं यह भावबंध सुख और शान्ति को हरण करनेवाला है तथा आत्माके समस्त प्रदेशोंमें जो कर्मोंका बंध होजाता है उसको द्रव्यबंध कहते हैं । यह द्रव्यबंध भी संसारके समस्त दुःखोंको देनेवाला है । इस प्रकार दृष्टिसे दोनों प्रकारके बंधका स्वरूप कहा है । यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो दोनों प्रकारका बंध अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न है । ऐसा भव्य जीवोंको समझना चाहिये ।। ४०५ ।। ४०६ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावैर्हि कर्मागमनस्य यैश्चा-,
त्मनो हि मार्गश्च निरुध्यते सः ।
भावस्वरूपः खलु संवरो हि,
वा द्रव्यकर्मापि निरुध्यते यतः ॥ ४०७ ॥
द्रव्यस्वरूपो भुवि संवरः स,
प्रोक्तो यथावद् व्यवहारदृष्ट्या ।
निजात्मरूपो युगसंवरोऽपि,
ज्ञातव्य एवं परमार्थदृष्ट्या ॥ ४०८ ॥

आत्माके जिन परिणामोंसे कर्मोंके आनेका मार्ग रुक जाता है उसको भावसंवर कहते हैं तथा उन परिणामोंसे जो द्रव्यकर्मोंका रुक जाना है उसको द्रव्य संवर कहते हैं । यह भावसंवर और द्रव्य संवरका स्वरूप व्यवहार दृष्टिसे जैसा है वैसा ही कहा है । यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो दोनों प्रकारका संवर अपने आत्मस्वरूप ही है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४०७ ॥ ४०८ ॥

यैरात्मनः शुद्धतरैश्च भावै,
र्भवेदवश्यं खलु निर्जराद्या ।
भावस्वरूपा खलु निर्जरा सा,
नश्यन्ति कर्माणि यदा तपोभिः ॥ ४०९ ॥
द्रव्यस्वरूपा ननु निर्जरा सा,
प्रोक्ता यथावद् व्यवहारदृष्ट्या ।
निजात्मरूपा युगनिर्जरापि,
ज्ञेया त्रिलोके परमार्थदृष्ट्या ॥ ४१० ॥

आत्माके जिन शुद्ध परिणामोंसे कर्मोंकी निर्जरा होती है उन परिणामोंको भावनिर्जरा कहते हैं । तथा तपश्चरणके द्वारा जो कर्म नष्ट होते हैं उन कर्मोंके नाश होनेको द्रव्यनिर्जरा कहते हैं । इस प्रकार इन दोनों निर्जराओंका यथार्थ स्वरूप व्यवहार दृष्टिसे कहा गया है । यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो तीनों लोकोंमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोनों प्रकारकी निर्जरायें अपने आत्मस्वरूप ही हैं ॥ ४०९ ॥ ४१० ॥

भावैश्च यैरात्मन एव शुद्धैः,
प्रणश्यते चाखिलकर्मबन्धः ।
स भावमोक्षः सुखशांतिरूपः,
यदात्मनो यः सकलप्रदेशात् ॥ ४११ ॥
पृथग्भवेद्वाखिलकर्मबन्धः,
स द्रव्यमोक्षो व्यवहारदृष्ट्या ।
निजात्मरूपो द्विविधोऽपि मोक्षः,
सुखप्रदोऽयं परमार्थदृष्ट्या ॥ ४१२ ॥

आत्माके जिन शुद्ध परिणामों से समस्त कर्मोंका बंध नष्ट होजाता है उसको भावमोक्ष कहते हैं । यह भावमोक्ष सुख और शांतिस्वरूप है । तथा जब आत्माके समस्त प्रदेशोंसे समस्त कर्मबंध अलग हो जाता है उसको द्रव्यमोक्ष कहते हैं । यह सब कथन व्यवहारदृष्टिसे समझना चाहिये । परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो अनंत सुख देनेवाला दोनों प्रकारका मोक्ष अपने आत्मस्वरूप ही है ॥ ४११ ॥ ४१२ ॥

व्यसनानां गुरो ! ब्रूहि लक्षणानि च साम्प्रतम् ?

प्रश्न - हे गुरो ! अब कृपाकर व्यसनोके लक्षण कहिये ?

स्थानं सकलपापानां चिन्तानामपि चापदाम् ।
व्याधीनामपि दुःखानां मूर्खाणां चिह्नमेव च ॥ ४१३ ॥
सर्वदुष्कर्मणां स्वामी द्यूत एवास्ति तत्त्वतः ।
त्याज्यो ज्ञात्वेति स द्यूतः सर्वथा स्वात्मतत्परैः ॥ ४१४ ॥

उत्तर :- पहला व्यसन जुआ खेलना है । यह जुआ खेलना समस्त पापोंका स्थान है, समस्त चिन्ताओं का और समस्त आपत्तियोंका स्थान है, समस्त व्याधियोंका स्थान है, समस्त दुःखोंका स्थान है, मूर्खता का चिन्ह है और समस्त पापकर्मोंका स्वामी है । वास्तवमें यह जुआ ऐसा ही है । यही समझकर अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले भव्य पुरुषोंको इस जुआका सर्वथा त्याग कर देना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिये ।। ४१३ ।। ४१४ ।।

सद्बुद्धिर्मांसलुब्धानां दयाधर्मः पलायते ।
पुण्यपापविचारोऽपि न्यायनीतिर्विनश्यति ।। ४१५ ।।
मूर्खता बर्द्धतेऽशांतिर्ज्ञात्वेति मांसभक्षणम् ।
स्पर्शनं वापि धर्मज्ञैर्न कार्यं धर्मवत्सलैः ।। ४१६ ।।

दूसरा व्यसन मांसभक्षण है । जो मनुष्य मांस भक्षणके लोलुपी हो जाते हैं उनकी सद्बुद्धि नष्ट हो जाती है, दयाधर्म दूर भाग जाता है, पुण्यपापका विचार नष्ट हो जाता है, न्याय और नीति नष्ट हो जाती है, मूर्खता बढ़ जाती है और अशांति बढ़ जाती है । यही समझकर धर्ममें प्रेम रखनेवाले और धर्मके स्वरूपको जाननेवाले भंव्य जीवोंको मांसका भक्षण कभी नहीं करना चाहिये तथा उसका स्पर्श भी कभी नहीं करना चाहिये ।। ४१५ ।। ४१६ ।।

क्षमा कृपा दमः शांतिर्लज्जापि मद्यपायिनाम् ।
कुलजातिपवित्रत्वं स्वात्मबुद्धिर्विनश्यति ।। ४१७ ।।
मलिनत्वमविवेकोऽनात्मता परिवर्द्धते ।
ज्ञात्वेति मदिरापानं न कार्यं भवभीरुभिः ।। ४१८ ।।

तीसरा व्यसन मद्यपान है । जो जीव मद्यपान करते हैं उनकी क्षमा, कृपा, इंद्रियदमन, शांति, लज्जा, कुल, जाति, पवित्रता और स्वात्मबुद्धि आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं, तथा मलिनता, अविवेक और अनात्मता (आत्मविचारका अभाव) बढ़ जाती है । यही समझकर संसारसे भयभीत रहनेवाले भव्य जीवोंको यह मद्यपान कभी नहीं करना चाहिये ।। ४१७ ।। ४१८ ।।

क्रूरतारवेटलुब्धानां मूर्खताऽन्यायताखिला ।
निर्दयता पशुत्वं च पापक्रिया प्रबर्द्धते ।। ४१९ ।।
विवेको न्यायतास्तिक्ये दयाधर्मो विनश्यति ।
कार्यं ज्ञात्वेति नाखेटं कदापि स्वात्मतत्परैः ।। ४२० ।।

चौथा व्यसन शिकार खेलना है । जो मनुष्य शिकार खेलनेके लोलुपी होते हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनकी क्रूरता बढ़ जाती है, सब प्रकारकी मूर्खता और अन्यायता बढ़ जाती है तथा निर्दयता पशुपनां और सब पापक्रियाएं बढ़ जाती हैं। इसीप्रकार उनका विवेक, न्यायपना, आस्तिक्य और दयाधर्म सब नष्ट हो जाता है। यही समझकर अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले भव्य जीवोंको यह शिकार खेलनेका पाप कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४१९ ॥ ४२० ॥

कौ वेश्यासेबिनां बुद्धिः कुलं जातिर्बलं वपुः ।
मान्यताचारमार्गोऽपि शुभशीलं प्रणश्यति ॥ ४२१ ॥
दारिद्र्यं मूर्खता व्याधिरपात्रता प्रवर्द्धते ।
न वेश्यासेवनं कार्यं ज्ञात्वेति धर्मवत्सलैः ॥ ४२२ ॥

पांचवा व्यसन वेश्यासेवन है। इस संसारमें जो मनुष्य वेश्यासेवन करते हैं उनकी बुद्धि, कुल, जाती, बल, शरीर, मान्यता, आचारमार्ग, और शुभ शील सब नष्ट हो जाता हैं, तथा दरिद्रता, मूर्खता, व्याधियां और अपात्रता आदि दुर्गुण सब बढ़ जाते हैं। यही समझकर धर्ममें प्रेम रखनेवाले भव्य जीवोंको वेश्यासेवन कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४२१ ॥ ४२२ ॥

स्वपरज्ञानहीना हि स्तेयं कुर्वन्ति तत्त्वतः ।
अतः पदे पदे तेषां निंदा वा ताडनं भवेत् ॥ ४२३ ॥
स्वपरज्ञानिनः स्तेयं न कुर्वन्ति कदाचन ।
ज्ञात्वेति धर्मतत्त्वज्ञैः स्तेयं कार्यं कदापि न ॥ ४२४ ॥

छठा व्यसन चोरी करना है। जो पुरुष स्वपरज्ञान रहित हैं वास्तवमें वे ही चोरी करते हैं और इसीलिये पद पद पर उनकी निंदा होती है अथवा ताड़ना होती है। जो पुरुष अपने आत्माका तथा परपदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानते हैं वे कभी चोरी नहीं करते। यही समझकर धर्म और तत्त्वोंके स्वरूप को जाननेवाले भव्य जीवोंको कभी चोरी नहीं करनी चाहिये ॥ ४२३ ॥ ४२४ ॥

तिरस्कारापमानादिः परस्त्रीसेबिनां सदा ।
सूतकं पातकं पापं कुलजातिच्युतिर्भवेत् ॥ ४२५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्द्धते वैरं क्लेशोऽपि ज्ञात्वेति श्रावका जनाः ।
परस्त्रीसेवनं त्यक्त्वा भवेयुर्धर्मतत्पराः ।। ४२६ ।।

सातवां व्यसन परस्त्रीसेवन है । जो पुरुष परस्त्री सेवन करते हैं उनका स्थान स्थानपर तिरस्कार वा अपमान होता है । उनके सूतक, पातक, पाप, कुलकी भ्रष्टता, जाति की भ्रष्टता, वैर और क्लेश आदि सदा बढ़ते रहते हैं । यही समझकर श्रावक लोगोंको सदाके लिये परस्त्रीका त्याग कर देना चाहिये और सदाकाल धर्ममें तत्पर रहना चाहिये ।। ४२५ ।। ४२६ ।।

पंच पापानि कान्येव तत्त्यागाद्वा व्रतानि च ?

प्रश्न - हे गुरो ! पांच पाप कौन २ हैं और उनके त्याग करनेसे व्रत कहलाते हैं ?

भवन्ति दुःखिनो जीवा म्रियन्ते प्राणनाशतः ।
ज्ञात्वेति सर्वजीवानां योनिस्थानानि यत्नतः ।। ४२७ ।।
केषामपि च जीवानां प्रमादान्नैव हिंसनम् ।
स्यादहिंसाव्रतं पूतं कौ स्वपरात्मरक्षकम् ।। ४२८ ।।

उत्तर - ये संसारी प्राणी प्राणोंके नाश होनेसे अत्यंत दुःखी होते हैं और मर जाते हैं । अतएव भव्य जीवोंकी सबसे पहले यत्नपूर्वक जीवोंकी ८४ लाख योनिस्थानोंको जानना चाहिये और फिर अपने प्रमादसे किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिये । इसको अहिंसाव्रत कहते हैं । यह अहिंसाव्रत पवित्र है और अपने आत्माकी तथा अन्य सब जीवोंकी रक्षा करनेवाला है ।। ४२७ ।। ४२८ ।।

त्याक्त्वा मिथ्यावचो निंद्यं स्वपरात्मविघातकम् ।
क्लेशवैरक्रियाकारि नितान्तं भ्रांतिभीतिदम् ।। ४२९ ।।
यथार्थ शांतिदं मिष्टं वैरक्लेशादिनाशकम् ।
सापेक्षमीदृशं वाक्यं तत्सत्यं यत्र भाष्यते ।। ४३० ।।

इस संसारमें मिथ्यावचन अत्यंत निंद्य कहलाते हैं, ये मिथ्यावचन अपने आत्माका घात करनेवाले हैं और अन्य जीवोंका घात करनेवाले हैं, क्लेश और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैर बढ़ानेवाली क्रियाओंको करनेवाले हैं, अत्यंत भ्रांति और भय को उत्पन्न करनेवाले हैं । ऐसे मिथ्यावचनोंका त्याग कर जहांपर यथार्थ, शांति उत्पन्न करनेवाले, मिष्ट, वैरक्लेशको नाश करनेवाले और अपेक्षासहित वचन बोले जाते हैं उसको सत्यव्रत कहते हैं यह दूसरा व्रत है ॥ ४२९ ॥ ४३० ॥

अदत्तं पतितं त्यक्तं ग्रामे मार्गे वनादिके ।
स्थापितं विस्मृतं गुप्तं स्वरसास्वादकैर्जनैः ॥ ४३१ ॥
परद्रव्यं स्वकीयं वा यदि चेत्संशयास्पदम् ।
न ग्राह्यं श्रावकैर्नित्यं तदचौर्यव्रतं भुवि ॥ ४३२ ॥

जो दूसरेका द्रव्य किसी गांवमें, मार्गमें वा वन पर्वत पर गिर गया है, वा कोई छोड़ गया है वा कोई रख गया है, वा भूलगया है वा छिपा गया है ऐसे परद्रव्यको बिना दिये अपने आत्मजन्य आनंदरसका पान करनेवाले भव्य श्रावकों को कभी नहीं लेना चाहिये । यदि कोई द्रव्य अपना ही हो परंतु यह मेरा है वा नहीं इसप्रकारका जिसमें संदेह उत्पन्न हो जाय ऐसा द्रव्यभी बिना दिया हुआ श्रावकोंको ग्रहण नहीं करना चाहिये । ऐसे इन व्रतको इस संसारमें अचौर्यव्रत कहते हैं ॥ ४३१ ॥ ४३२ ॥

सम्यग्ज्ञानमयैर्जीवैर्यदि स्वस्त्री न वर्ज्यते ।
त्यज्यास्तथापि सर्वाश्च त्रियोगैः परयोषितः ॥ ४३३ ॥
वैराग्यभावतस्त्यक्त्वा योषिन्मात्रं निजात्मनि ।
ये रमन्ते व्रतं ब्रह्म पूर्णं तेषां प्रपद्यते ॥ ४३४ ॥

ये समस्त जीव सम्यग्ज्ञानमय हैं । ऐसे इन जीवोंसे यदि अपनी स्त्रीका त्याग नहीं किया जाता है तो भी उनको मन वचन कायसे समस्त परस्त्रियोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये । इसको ब्रह्मचर्यव्रत कहते हैं । इसके सिवाय जो पुरुष वैराग्य कर और स्त्रीमात्रका त्याग कर अपने आत्मामें लीन हो जात हैं उनके यह ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण रीतिसे प्रगट हो जाता है ॥ ४३३ ॥ ४३४ ॥

बाह्यान्तरंगं संगं यस्त्यक्त्वा क्लेशादिवर्द्धकम् ।
स्वाध्यायादौ रतस्तस्य संगत्यागव्रतं भवेत् ॥ ४३५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परचतुष्टयं पश्चात्त्यक्त्वा संतापकारकम् ।
आनन्दमंदिरं सोऽयं यस्तिष्ठेत्स्वचतुष्टये ।। ४३६ ।।

जो मनुष्य क्लेश और दु:खोंको देनेवाले अंतरंग और बाह्य परिग्रहों का त्याग कर स्वाध्यायादिकमें लीन होता है उसके परिग्रहत्याग नामका व्रत कहलाता है । तदनंतर संताप उत्पन्न करनेवाले परचतुष्टयका त्यागकर जो अपने स्वचतुष्टयमें लीन रहता है उसे ही इस संसारमें आनंदका घर समझना चाहिये ।। ४३५ ।। ४३६ ।।

पापव्यसनयोर्मध्ये को भेदोऽस्ति गुरो वद ?

प्रश्न - हे गुरो ! अब कृपाकर कहिये कि पाप और व्यसनमें क्या भेद है ?

येनात्माधमकार्येण बिनायं नैव तिष्ठति ।
तदेव व्यसनं प्रोक्तं वैरक्लेशादिवर्द्धकम् ।। ४३७ ।।
स्वपदायोग्यकार्यं हि तीव्रकर्मोदये सति ।
कदाचित्क्रियते यद्धि प्रोक्तं पापं तदेव च ।। ४३८ ।।

उत्तर - यह आत्मा जिस नीचकार्यके बिना न रह सके उस वैर क्लेश आदि बढ़ानेवाले कार्यको व्यसन कहते हैं । तथा अपने तीव्र कर्मोंके उदयसे जब यह आत्मा अपने पदस्थके अयोग्य कार्यको कर बैठता है तब उसको पाप कहते हैं ।। ४३७ ।। ४३८ ।।

इति श्री १०८ मुनिराज कुंथुसागर विरचिते बोधामृतसार ग्रंथे अनुप्रेक्षासप्ततत्त्वव्यस पापवर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः ।

इस प्रकार मुनिराज श्री १०८ कुंथुसागरविरचित बोधामृतसार नामके ग्रंथमें अनुप्रेक्षा सप्ततत्त्व व्यसन पापको वर्णन करनेवाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रावकः पाक्षिकः कोऽसौ गुरो ! मे वद साम्प्रतम् ?

प्रश्न - हे गुरो ! अब मेरे लिए कहिए कि पाक्षिक श्रावक किसको कहते हैं ?

विनष्टघातिकर्मत्वाल्लोकालोकादिबोधनात् ।
स्वप्रदेशे स्थिरत्वाद्धि तृप्तत्वात्स्वचतुष्टये ।। ४३९ ।।
अर्हन्नेव भवेद्देवो यो वा स्वर्मोक्षदायकः ।
श्रद्धेति निश्चयो यस्य धर्मज्ञः स च पाक्षिकः ।। ४४० ।।

उत्तर - भगवान अरहंत देवने अपने समस्त धाति कर्मोंका नाश करदिया है, लोक अलोक का तथा समस्त पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न कर लिया है, वे अपने आत्मप्रदेशोंमें ही सदा स्थिर रहते हैं और अपने ही चतुष्टय में सदा तृप्त रहते हैं इसीलिए वे अरहंत भगवान देव कहलाते हैं, तथा वे ही भगवान स्वर्ग मोक्षको देनेवाले हैं । जिस किसी पुरुषके इस प्रकारकी श्रद्धा वा निश्चय है उस धर्मात्मा पुरुषको पाक्षिक श्रावक कहते हैं ।। ४३९ ।। ४४० ।।

ज्ञानध्यानक्षमादक्षः स्वानन्दास्वादाकः सदा ।
तरणे तारणे शक्तो निरारंभोऽपरिग्रहः ।। ४४१ ।।
वंद्यः पूज्यः सदा सेव्यो निर्ग्रंथो गुरुरेव हि ।
श्रद्धेति निश्चयो यस्य धर्मज्ञः स च पाक्षिकः ।। ४४२ ।।

जो गुरु ज्ञान ध्यान और क्षमा धारण करनेमें चतुर हैं, अपने आत्मजन्य आनंद रसका स्वाद लेनेवाले हैं इस संसारमें स्वयं पार होने और अन्य जीवोंको पार करने में समर्थ हैं, जो आरंभरहित हैं और परिग्रहरहित हैं वे निर्गंथ गुरु ही सदा पूजा वंदना करने योग्य हैं और सेवा करने योग्य हैं । जिस किसी पुरुषको इस प्रकारकी श्रद्धा वा निश्चय है उस धर्मात्मा पुरुषको पाक्षिक श्रावक कहते हैं ।। ४४१ ।। ४४२ ।।

नयप्रमाणसिद्धं च सापेक्षकथनाश्रितम् ।
पदार्थानां यथावद्धि द्योतकं भ्रान्तिनाशकम् ।। ४४३ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्रं जिनोक्तमेवं च ग्राह्यं वंद्यं सुखप्रदम् ।
श्रद्धेति निश्चयो यस्य धर्मज्ञः स च पाक्षिकः ।। ४४४ ।।

जो नय और प्रमाणोंसे सिद्ध पदार्थोंका कथन करते हैं जो अपेक्षापूर्वक तत्त्वोंका कथन करते हैं, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको दिखलाते हैं और भ्रांति वा संदेह को नष्ट कग्ते हैं ऐसे भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्र ही पठन पाठन करने योग्य हैं, वंदना करने योग्य हैं और सुख देनेवाले हैं ऐसी श्रद्धा और निश्चय जिस किसी पुरुषके होता है वही धर्मात्मा पुरुष पाक्षिक श्रावक कहलाता है ।। ४४३ ।। ४४४ ।।

यस्य चित्ते दयाधर्मो वर्द्धते स्वात्मपोषकः ।
मैत्रीप्रमोदभावोऽपि वैरक्लेशादिनाशकः ।। ४४५ ।।
यश्च तीव्रोदयादेव ह्यप्रत्यख्यानकर्मणः ।
त्यक्तुं कान्यपि वस्तूनि न शक्नोति तथापि यः ।। ४४६ ।।
क्षयोपशमयोगाच्चानन्तानुबंधिकर्मणः ।
ग्रहीतुमपि स्वपरज्ञानतो नेच्छति स्वयम् ।। ४४७ ।।
उच्चकुलादिसंस्कारादहिंसाधर्मपक्षतः ।
स्वभावात्पंचपापानि न कुर्याद् व्यसनादिकम् ।। ४४८ ।।
शास्त्रोक्तविधिना येन धृतं यज्ञोपवीतकम् ।
पाक्षिकः स च विज्ञेयो मद्यमांसादिदूरगः ।। ४४९ ।।

जिसके हृदयमें अपने शुद्ध आत्मा को पुष्ट करनेवाला मैत्रीभाव और प्रमोदभाव भी बढ़ रहा है, जो अप्रत्यख्यानावरण कर्मके तीव्र उदयसे किसी भी पदार्थ के त्याग करनेमें समर्थ नहीं है तथापि अनन्तानुबंधि कर्मके क्षयोपशम होनेसे और स्वपरज्ञान प्रगट हो जानेसे उन परपदार्थोंको ग्रहण करने की स्वयं इच्छा नहीं करता । जो उच्च कुलके संस्कार होनेसे तथा अहिंसा धर्मकी पक्ष होनेसे स्वभावसे ही पांचों पापोंको नहीं करता और न व्यसनोंका सेवन करता है तथा शास्त्रोक्तविधि से जिसने यज्ञोपवीत धारण कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रक्खा है और मद्य मांसादिकसे सदा दूर रहता है उसको पाक्षिक श्रावक समझना चाहिए ॥ ४४५ - ४४९ ॥

मुक्त्वैनं पाक्षिकं शेषाः श्राद्धाः सर्वेऽपि नैष्ठिकाः
अथ तेषां क्रमाच्चिह्नं यथावत्कथयाम्यहम् ॥ ४५० ॥

पाक्षिकको छोड़कर बाकीके सब श्रावक नैष्ठिक कहलाते हैं । अब आगे अनुक्रमसे इन नैष्ठिक श्रावकोंके यथार्थ चिन्ह कहते हैं ॥ ४५० ॥

क्षयोपशमयोगाद्धि योऽप्रत्याख्यानकर्मणः ।
निर्दोषान्पालयेन्मूलगुणान् पापभयेन यः ॥ ४५१ ॥
पंचविंशतिदोषान्यस्त्यक्त्वा सम्यक्त्वघातकान् ।
देवशास्त्रगुरुश्रद्धां करोति व्यसनोज्झितः ॥ ४५२ ॥
पंचाणुव्रतपूर्त्यर्थं द्वितीयां प्रतिमां तथा ।
ग्रहीतुं यतते नित्यं त्यक्तुं क्रोधादिकं जवात् ॥ ४५३ ॥
परमानन्दपानार्थ स्वर्मोक्षहेतवे तथा ।
पूर्वोक्तधर्मयुक्तो यः पूतो दर्शनिको नरः ॥ ४५४ ॥

जो मनुष्य अप्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेसे पापोंके डरसे समस्त मूलगुणोंको अतिचाररहित पालन करता है, सम्यग्दर्शनको घात करनेवाले पच्चीसों दोषोंका त्यागकर तथा देवशास्त्र गुरु में अटल श्रद्धान रखता है । इसके सिवाय पांचों अणुव्रतोंको पूर्ण करने के लिए दूसरी प्रतिमाको धारण करने का प्रयत्न करता है तथा क्रोधादिको छोड़नेका शीघ्र प्रयत्न करता है और स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिए आत्मजन्य परमानन्दको पीने का प्रयत्न करता है । इस प्रकार ऊपर कहे हुए धर्मोंको जो पालन करता है उस पवित्र मनुष्यको पहिली दर्शनप्रतिमाकी धारण करनेवाला कहते हैं ॥ ४५१ - ४५४ ॥

भवेयुरेवं ज्ञात्वेति मुनिवत्स्वात्मरक्षकाः ।
दर्शनप्रतिमायाश्च धारकाः प्रतिपालकाः ॥ ४५५ ॥

यही समझकर भव्यजीवोंको यह दर्शन प्रतिमा धारण करनी चाहिए, पालन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करनी चाहिये और मुनियोंके समान अपने आत्माकी रक्षा करनेवाले बन जाना चाहिए ॥ ४५५ ॥

यः पंचाणुव्रतं धीरो गृहीत्वा स्वात्मसाधकम् ।
रक्षति स्वात्मवन्नित्यं निरतिचारपूर्वकम् ॥ ४५६ ॥
गुणव्रतं तथा धृत्वाणुव्रतवर्द्धकं सदा ।
चतुःशिक्षाव्रतं धृत्वा यन्मुनिव्रतशिक्षकम् ॥ ४५७ ॥
भेदविज्ञानशस्त्रं यः करे धृत्वैव तिष्ठति ।
द्वितीयप्रतिमाधारी श्रावकः स च धार्मिकः ॥ ४५८ ॥

जो धीर वीर पुरुष अपने शुद्ध आत्माको सिद्ध करने वाले पांचों अनुव्रतोंको धारण करता है तथा अपने आत्माके समान सदा काल अतिचाररहित उनकी रक्षा करता है, इनके सिवाय जो अणुव्रतोंको बढ़ानेवाले गुण व्रतों को सदाके लिए धारण करता है, जो मुनियों के व्रतोंकी शिक्षा देता हैं ऐसे चारों शिक्षा व्रतोंको धारण करता है और जो अपने हाथ में सदा भेदविज्ञानरूप शास्त्रको धारण करता रहता है। उस धार्मिक श्रावक को दूसरी व्रत प्रतिमा को धारण करनेवाला कहते हैं ॥ ४५६ - ४५८ ॥

अणुव्रतानि कानीह गुणशिक्षाव्रतानि च ।
के वा तेषामतीचारा भो गुरो वद साम्प्रतम् ? ॥

प्रश्न - है गुरो ! अब यह बतलाइये कि इस संसारमें पांच अणुव्रत कौन २ हैं तीन गुणव्रत कौन २ हैं और चार शिक्षाव्रत कौन २ हैं, तथा उन सब व्रतोंके अतिचार कौन २ हैं ।

जीवानां द्रव्यभावानां प्राणानां द्वेषरागतः ।
व्यपरोपणमेव स्याद्धिंसा स्वात्मबिनाशिनी ॥ ४५९ ॥
ज्ञात्वेति प्राणिनां कार्यं न प्राणव्यपरोपणम् ।
तदाहिंसाव्रतं पूतं भवेद् वाञ्छितदं क्रमात् ॥ ४६० ॥

उत्तर - किसी रागसे या द्वेषसे जीवोंके द्रव्यप्राण वा भावप्राणोंका व्यपरोपण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना वियोग करना हिंसा कहलाती है । यह हिंसा अपने ही आत्माका नाश करनेवाली है । यही समझकर भव्य जीवोंको प्राणियोंके प्राणोंका वियोग कभी नहीं करना चाहिये । इसीको पवित्र अहिंसा व्रत कहते हैं । यह अहिंसाव्रत अनुक्रमसे इच्छानुसार स्वर्गमोक्षके फल देनेवाला है ॥ ४५९ ॥ ४६० ॥

वधबन्धादिकश्छेदोऽतिभारारोपणं तथा ।
अन्नपाननिरोधोऽपि न कार्यो धर्मवत्सलैः ॥ ४६१ ॥

धर्ममें प्रेम रखनेवाले भव्य पुरुषोंको वध अर्थात् लकड़ी थप्पडसे मारना, बंध अर्थात् किसी जीवको रस्सी संकलसे बांधना, छेद अर्थात् नाक कान वा अन्य अंगोंकी छेदना, अतिभारारोपण अर्थात् अधिक बोझा लादना और अन्नपान निरोध अर्थात् समयपर खाने पीनेको न देना वा भोजन पान रोक देना आदि इस अहिंसाव्रतके अतिचारोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । भावार्थ ये अहिंसा-गुणव्रतको अतिचार हैं इन का भी त्याग कर देना अत्यावश्यक है ॥ ४६१ ॥

यत्रासदभिधानं हि प्रोच्यते च प्रमादतः ।
तदेवेहानृतं प्रोक्तं सर्वपापप्रदं जवात् ॥ ४६२ ॥
ज्ञात्वेति धार्मिकैर्भव्यैः पुण्यधर्मप्रवृद्धये ।
वाच्यं सदभिधानं हि तत्सत्यव्रतमुच्यते ॥ ४६३ ॥

इस संसारमें जहांपर प्रमादके वश होकर असत् वा मिथ्याभाषण किया जाता है उसको असत्य भाषण कहते हैं । यह असत्य भाषण बहुत शीघ्र समस्त पापोंको उत्पन्न करनेवाला है । यही समझकर धर्मात्मा भव्य जीवोंको अपने पुण्य और धर्मकी वृद्धि करनेके लिये सदा सत्यभाषण ही करना चाहिये । इस सत्यभाषण करनेको सत्याणुव्रत कहते हैं ॥ ४६२ ॥ ४६३ ॥

एवं मिथ्योपदेशं च रहोऽभ्याख्यानकं तथा ।
कूटलेखक्रियादिश्च न्यासापहार एव च ॥ ४६४ ॥
साकारमंत्रभेदोऽपि न कार्यो धर्मवत्सलैः ।
सत्यव्रतातिचाराश्च त्याज्याः स्वात्मप्रशान्तये ॥ ४६५ ॥

इसी प्रकार किसी के मिथ्या उपदेश भी नहीं देना चाहिये, रहोऽभ्याख्यान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् एकांतमें कही हुई क्रियाओं को प्रगट नहीं करना चाहिये, झूठा लेख नहीं लिखना चाहिये, न्यासापहार अर्थात् किसी की धरोहर को मारना नहीं चाहिये और साकार मंत्रभेद अर्थात् मुख आदि की आकृतिसे किसी के हृदयकी बात जानकर भी उसको प्रगट नहीं करना चाहिये । इस प्रकार मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये पांच सत्यव्रतके अतिचार हैं । अपने आत्माको अत्यंत शांत करनेके लिये धर्ममें प्रेम रखनेवाले भव्य जीवोंको इन सब अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ।। ४६४ ।। ४६५ ।।

स्तेयं प्रमत्तयोगाद्धादत्तादानं ध्रुवं भवेत् ।
हिंसाकरं यतो लोके प्राणेभ्योऽपि धनं प्रियम् ।। ४६६ ।।
ज्ञात्वेति धार्मिकैर्नैव कार्यं स्तेयं भवप्रदम् ।
तदचौर्यव्रतं पूतं पालनीये प्रयत्नतः ।। ४६७ ।।

प्रमादके निमित्तसे बिना दिये हुए दूसरोंके पदार्थोंको लेलेना चोरी है । चोरी करना हिंसा ही करना है, क्योंकि इस संसारमें धन प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होता है । यही समझकर धार्मिक पुरुषोंको जन्म मरणरूप संसारको बढ़ाने वाली चोरी कभी नहीं करनी चाहिये । इस चोरी न करनेको पवित्र अचौर्यव्रत कहते हैं । यह अचौर्यव्रत प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये ।। ४६६ ।। ४६७ ।।

त्याज्यश्चौरप्रयोगश्च चौरार्थादानमेव च ।
राज्यविरुद्धकार्यं च प्रतिरूपक्रिया तथा ।। ४६८ ।।
नैव हीनाधिकः कार्यो मानोन्मानो भवप्रदः ।
स्वान्यशांत्यर्थिभिर्भव्यैर्व्रतादिपूर्णहेतवे ।। ४६९ ।।

चोरीका प्रयोग बताना, चोरी के पदार्थ अपने घरमें रखना या लेलेना, राज्यके विरुद्ध कार्य करना, अधिक मूल्यके पदार्थोंमें कम मूल्यके पदार्थ मिलाकर बेचना और तौलने वा नापने के साधनोंको छोटे बड़े रखना ये पांच अचौर्यव्रतके अतिचार हैं । ये अतिचार संसारको बढ़ाने वाले हैं इसलिये अपनी आत्मामें और अन्य जीवोंमें शांति चाहनेवाले भव्य जीवोंको अपना अचौर्यव्रत पूर्ण करनेके लिये इन अतिचारोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।। ४६८ ।। ४६९ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनसा वपुषा वाचा परस्त्री यत्र वर्ज्यते ।
चतुर्थं तद्व्रतं ज्ञेयं ब्रह्माणुव्रतसंज्ञकम् ।। ४७० ।।
मैथुनं तु महत्पापं बहुजीवविघातकं ।
तत्त्याज्यं दूरतो भव्यैश्चिदानन्देषु तन्मयैः ।। ४७१ ।।

जहांपर मन वचन कायसे परस्त्रीका त्याग किया जाता है उसको ब्रह्मचर्याणुव्रत नामका चौथा व्रत कहते हैं । मैथुनसेवन करना महापाप है और अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाला है । अत एव आत्मासे उत्पन्न हुए चिदानंदमें तल्लीन रहनेवाले भव्य जीवोंको इस मैथुन सेवन करनेका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ।। ४७० ।। ४७१ ।।

परिणीतेत्वरिकाया गमनं भववर्द्धकं ।
तथैवापरिणीताया अन्यस्योपशमस्तथा ।। ४७२ ।।
न कार्यं कामतीव्राभिनिवेशं पापकारणं ।
स्वानंदस्वादकैः कार्याऽनंगक्रीडा कदापि न ।। ४७३ ।।

किसी विवाही हुई कुलटा स्त्रीके यहां आना जाना, बिंना विवाही हुई कुलटा स्त्रीके यहां आना जाना, दूसरे के पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना, कामसेवनके तीव्रभाव रखना और अनंगक्रीड़ा करना ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार है । ये पांचोंही अतिचार संसारको बढ़ानेवाले हैं और पाप उत्पन्न करनेवाले हैं । अत एव अपने आत्मजन्य आनंदका स्वाद लेनेवाले भव्य जीवोंको इन सबका त्याग कर देना चाहिये । इन अतिचारों को कभी नहीं लगने देना चाहिये ।। ४७२ ।। ४७३ ।।

प्रमत्तयोगतो यत्र धनधान्यादि गृह्यते ।
परिग्रहो ध्रुवं तत्र भवेत्स्वर्मोक्षनाशकः ।। ४७४ ।।
ज्ञात्वेति धार्मिकैर्भव्यैर्न ग्राह्यं परवस्तु च ।
स्ववस्तुपरिमाणं च कर्तव्यं मोक्षहेतवे ।। ४७५ ।।

जहांपर प्रमादके निमित्तसे धन धान्यादिक का ग्रहण किया जाता है वहांपर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसको परिग्रह कहते हैं । यह परिग्रह ही स्वर्गमोक्षको नाश करनेवाला है । यही समझ कर धर्मात्मा भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये पर पदार्थोंका ग्रहण तो कभी करना ही नहीं चाहिये और जो अपने पादर्थ हैं उनका परिमाण नियत कर लेना चिहये । इसीको परिग्रह परिमाणुव्रत कहते हैं ।। ४७४ ।। ४७५ ।।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यस्य दासीदासधनस्य च ।
सुवर्णधान्यकुप्यादेः प्रमाणातिक्रमस्तथा ।। ४७६ ।।
न कार्यः क्रोधलोभोऽपि संसारमूलवर्द्धकः ।
स्वानन्दस्वादकैर्भव्यैर्व्रतानां परिपालकैः ।। ४७७ ।।

क्षेत्र, वास्तु, (खेत व घर) हिरण्य (चांदी) सुवर्ण, धन धान्य, दासी दास, और कुप्य (बर्तन वस्त्रादिक) ये सब बाह्य परिग्रह कहलाते हैं । इनके प्रमाणका उल्लंघन करना परिग्रहपरिमाणके अतिचार कहलाते हैं । क्रोध लोभ भी संसारके जन्ममरणको बढ़ानेवाले हैं । अतएव अपने आत्मजन्य आनंदका स्वाद लेनेवाले और व्रतोंको पालन करनेवाले भव्य जीवोंका इन सब अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये तथा क्रोध लोभका भी त्याग कर देना चाहिये ।। ४७६ ।। ४७७ ।।

निरोधार्थं च पापानां नानादुःखविधायिनां ।
नदीपर्वतदेशैश्च मर्यादीकृत्य भूतले ।। ४७८ ।।
प्रमाणं दशधा दिक्षु कार्यमामृत्यु गेहिभिः ।
संसारभोगकामार्थं न गच्छामि ततो बहिः ।। ४७९ ।।
इति संकल्प एव स्याद्दिग्व्रतं शांतिदायकं ।
प्रोक्तं जिनेन्द्रदेवेन सर्वपापप्रणाशकम् ।। ४८० ।।

अनेक प्रकारके दुःख देनेवाले पापोंको रोकने के लिये श्रावकोंको अपने मरणपर्यन्त इसी पृथ्वीपरके नदी पर्वत और देशोंके द्वारा मर्यादा नियत कर दशों दिशाओंका परिमाण नियत कर लेना चाहिये तथा इस मर्यादाके बाहर संसार भोग और कामादिक के लिये कभी नहीं ज़ाऊंगा ऐसा संकल्प कर लेना चाहिये । इसी संकल्पको वा दशों दिशाओंके परिमाण करनेको दिग्व्रत कहते हैं । यह दिग्व्रत अत्यंत शांति देनेवाला है, समस्त पापोंको नाश करनेवाला है और भगवान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ४७८ - ४८० ॥

न चोर्ध्वातिक्रमः कार्यो नैबाधोऽतिक्रमस्तथा ।
तिर्यग्व्यतिक्रमो नैव क्षेत्रवृद्धिर्न दुःखदा ॥ ४८१ ॥
नैवं विस्मरणं कार्यं मर्यादायाः सुगेहिभिः ।
इति पंचातिचाराश्च त्याज्याः सकलधार्मिकैः ॥ ४८२ ॥

समस्त धर्मात्मा श्रावकोंको ऊर्ध्व दिशा की मर्यादाका उल्लंगन नहीं करना चाहिये, अधोदिशाकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, तिरछी ओर की आठों दिशाओंकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, मर्यादा किये हुए क्षेत्रको बढ़ाना नहीं चाहिये और मर्यादा को भूलना नहीं चाहिये । भावार्थ-ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् दिशाओंका उल्लंघन करना, क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ालेना और मर्यादा भूल जाना ये पांच दिग्व्रतके अतिचार हैं । धर्मात्मा श्रावकोंको इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ४८१ ॥ ४८२ ॥

पक्षमासादिपर्यन्तं गृहग्रामवनैः सदा ।
मर्यादीकृत्य देशस्य परिमाणं सुगेहिभिः ॥ ४८३ ॥
कार्यं प्रतिदिनं तत्तु व्रतं देशावकाशिकं ।
सर्वपापबिनाशार्थमहिंसाव्रतवृद्धये ॥ ४८४ ॥

श्रावकोंको पक्ष महिना आदि काल की मर्यादा नियत कर घर गांव बगीचा आदिके द्वारा देशकी मर्यादा नियत कर प्रतिदिन उस देशका परिमाण नियत कर लेना चाहिये । भावार्थ - दिग्व्रतमें जो जन्मभरके लिये मर्यादा नियत की है उसमेंसे प्रतिदिन घटाकर थोड़ी रखनी चाहिये । इसको देशावकाशिक व्रत कहते हैं यह व्रत समस्त पापोंको नाश करनेके लिये और अहिंसाव्रत की वृद्धि करनेके लिये किया जाता है ॥ ४८३ ॥ ४८४ ॥

आनयनाद्बहिर्देशात्प्रेष्यप्रयोगतस्तथा ।
शब्दानुपाततो ज्ञेया रूपानुपाततोऽपि ॥ ४८५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुद्गलादिप्रयोगाद्वातिचाराः पंच दुःखदाः ।
श्रावकैः परिहर्तव्या ज्ञात्वेति धर्मधारकैः ।। ४८६ ।।

मर्यादा किये हुए देशके बाहरसे किसी को बुलाना वा कोई चीज मंगाना, किसी को भेजना वा कोई पदार्थ भेजना, मर्यादा बाहर अपने शब्दके द्वारा कोई संकेत करना, अपना रूप दिखाकर कोई संकेत करना और पुद्गल वा कंकड़, पत्थर फेंककर कोई संकेत करना ये पांच देशावकाशिकव्रतके अतिचार हैं । धर्मको धारण करनेवाले श्रावकोंको इनका स्वरूप समझकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ।। ४८५ ।। ४८६ ।।

पापशिक्षामपध्यानं हिंसादानं च दुःश्रुतिः ।
प्रमादाचरणं कार्यं श्रावकैस्तु कदाऽपि न ।। ४८७ ।।
धर्मविरुद्धं यत्कार्यं कुलजातिबिनाशकं ।
न कार्यं तत्तु विज्ञेयं तृतीयं च गुणव्रतम् ।। ४८८ ।।

श्रावक लोगोंको पापरूप शिक्षा वा उपदेश कभी नहीं देना चाहिये, अपध्यान अर्थात् किसीके लिये बुरा चिन्तन नहीं करना चाहिये, हिंसा करनेके साधनोंको देना नहीं चाहिये, पाप उत्पन्न करनेवाले शास्त्रोंको सुनना नहीं चाहिये और बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदना, पानी फैलाना, अग्नि जलाना, वनस्पति तोड़ना आदि जीवोंको सतानेवाले कार्य नहीं करना चाहिये । इसीप्रकार जो धर्मविरुद्ध कार्य हैं अथवा कुल जातिको नष्ट करनेवाले कार्य हैं वे भी कभी नहीं करने चाहिये । इसको अनर्थदंडविरति नामका तीसरा गुणव्रत कहते हैं ।। ४८७ ।। ४८८ ।।

निंद्यं कन्दर्पकौत्कुच्यं मौखर्यं पापवर्द्धकं ।
उपयोगोऽविचार्यैव भोगोपभोगवस्तुनः ।। ४८९ ।।
अप्रयोजनभूतस्य संग्रहकरणं तथा ।
ज्ञात्वा पंचातिचाराश्च त्याज्या एवं प्रयत्नतः ।। ४९० ।।

हंसीसे मिले हुए भंड वचनोंको कंदर्प कहते हैं भंड वचनोंके साथ शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है ये दोनों ही क्रिया अत्यंत निंदनीय हैं । बिना प्रयोजन बहुत बोलनेको मौखर्य कहतेहैं । मौखर्य भी पाप बढ़ानेवाला है । इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार तीन तो ये, तथा भोगोपभोग के पदार्थोंका बिना विचार किये उपयोग करना और अपने काममें न आनेवाले बहुतसे पदार्थोंका संग्रह करना ये पांच अनर्थदंडव्रत के अतिचार हैं इनको समझकर प्रयत्न पूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ ४८९ ॥ ४९० ॥

मनो वचश्च कायं च सम्यग्निरुध्य यत्नतः ।
प्रियाऽप्रिये पदार्थे च स्वात्मबाह्ये बिनाशिनि ॥ ४९१ ॥
त्रिकाले समतां धृत्वा कर्तव्यं स्वात्मचिंतनं ।
जपोऽनाहतमंत्रस्य ज्ञेयं सामायिकं व्रतम् ॥ ४९२ ॥

मन वचन कायको प्रयत्न पूर्वक अच्छीतरह रोक कर तथा आत्मासे सर्वथा भिन्न और अवश्य नाश होनेवाले ऐसे प्रिय वा अप्रिय पदार्थोंमें समता धारण कर तीनों समय अपने आत्माका चिन्तन करना चाहिये अथवा अनाहत मंत्रका (पंच नमस्कार मंत्रका) जप करना चाहिये इसको सामायिक व्रत कहते हैं ॥ ४९१ ॥ ४९२ ॥

मनोदुष्प्रणिधानं च संसारक्लेशवर्द्धकं ।
वचोदुष्प्रणिधानं चाशांतिदुःखप्रदायकम् ॥ ४९३ ॥
कायदुष्प्रणिधानं च विस्मरणमनादरः ।
एते पंचातिचाराश्च त्याज्या ज्ञात्वेति धार्मिकैः ॥ ४९४ ॥

सामायिक करते समय अपने मनको किसी बुरे चिन्तनमें लगाना संसारके क्लेशोंको बढ़ानेवाला है, वचनको अशुभ कार्यमें लगाना अशांति और दुःख देनेवाला है, इसी प्रकार कायको अशुभक्रिया में लगाना, सामायिक की क्रियाओंको वा पाठको भूल जाना और सामायिकका अनादर करना वा सामायिक के समय का भी किसी क्रियाका अनादर करना ये पांच सामायिकके अतिचार कहलाते हैं । धर्मात्मा भव्य पुरुषोंको इनका स्वरूप समझकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ४९३ ॥ ४९४ ॥

गृहस्थानामहोरात्रं धर्मध्यानं न सम्भवेत् ।
विचर्यैवं सदाष्टम्यां चतुर्दश्यां चतुर्विधम् ॥ ४९५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यक्त्वाहारं कषायादिं गृहारंभादिकं तथा ।
उपवास: प्रकर्तव्य: स्वात्मचिंतनपूर्वक: ॥ ४९६ ॥

गृहस्थोंके रात दिन धर्मध्यानका होना असंभव है । यही समझकर उनको अष्टमी और चतुर्दशीके दिन चारों प्रकारके आहारका त्याग कर तथा कषाय और घर संबंधी आरंभ परिग्रह आदिका त्याग कर सदाकाल (प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को) उपवास धारण करना चाहिये । और उस दिन अपने शुद्ध आत्माका चिन्तन करते रहना चाहिये । इसको प्रोषधोपवासव्रत कहते हैं ॥ ४९५ ॥ ४९६ ॥

बिनावलोकनेनैव बिना सम्मार्जनेन च ।
शास्त्रोपकरणादीनां ग्रहणं स्थापनं तथा ॥ ४९७ ॥
मलमूत्रदिकानां वा यत्र तत्र विसर्जनं ।
सर्वेषां संस्तरादीनां स्थापनं वा प्रमादत: ॥ ४९८ ॥
प्रमादवर्द्धकं ज्ञेयं विस्मरणं ह्यनादर: ।
अतिचारा इमे त्याज्या: श्रावकैर्धर्मतत्परै: ॥ ४९९ ॥

बिना देखे और बिना कोमल पीछी वस्त्र आदिसे शोधे शास्त्र वा पूजाके उपकरणोंको ग्रहण करंना वा स्थापन करना, बिना देखे शोधे मलमूत्र कफ आदिको चाहे जहां छोड़ देना, सोने बैठनेकी चटाई आदिको प्रमाद पूर्वक बिना देखे शोधे रखना, प्रमादको बढ़ानेवाला विस्मरण करना, अर्थात् उपवास वा उस दिनके कर्तव्यको भूल जाना तथा उपवास वा पर्वके दिनका अनादर करना ये पांच प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार हैं । धर्ममें तत्पर रहनेवाले श्रावकोंको इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ४९७ - ४९९ ॥

कषायविषयादीनां नाशार्थं मोहवैरिण: ।
वस्त्रान्नपानभार्याया: गंधमाल्यदिवस्तुन: ॥ ५०० ॥
प्रतिदिनं प्रमाणं च कार्यं वाहनगीतयो: ।
स्वानन्दस्वादकैर्भव्यै: स्वरसरसिकैस्तथा ॥ ५०१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो श्रावक अपने आत्मजन्य आनंदका स्वाद लेते रहते हैं, और आत्मजन्य आनंद रस के रसिक हैं उनको अपने कषाय और विषयोंका नाश करनेके लिए तथा मोहरूपी शत्रुको नाश करने के लिए तथा भोजन, पान, वस्त्र, स्त्री, गंध, माला, सवारी, गीत नृत्य आदि भोगोपभोगके पदार्थोंका प्रतिदिन प्रमाण कर लेना चाहिए। इसको भोगोपभोग परिमाण व्रत कहते हैं ॥ ५०० ॥ ५०१ ॥

सचित्तस्तस्य सम्बंधः सम्मिश्राभिषवस्तथा।
दुष्पक्वाहार एवाऽपि दुःखदो व्रतनाशकः ॥ ५०२ ॥
प्रोक्ताः पंचातिचाराश्च संसारपरिवर्द्धकाः।
ज्ञात्वेति वस्तुतो भव्यैस्त्यक्तव्या मोक्षहेतवे ॥ ५०३ ॥

सचित्त पदार्थोंको काममें लाना, सचित्तसे संबंध रखनेवाले पदार्थोंको काममें लाना, सचित्त मिले हुए पदार्थोंको काममें लाना, पौष्टिक आहारका सेवन करना और कच्चे अथवा आवश्यकतासे अधिक पके हुए पदार्थोंको सेवन करना ये पांच भोगोपभोग परिमाणके अतिचार हैं। ये अतिचार दुःख देनेवाले हैं, व्रतों को नाश करनेवाले हैं और संसारको बढ़ानेवाले हैं। अतएव भव्य जीवोंको उचित है कि उनका वास्तविक स्वरूप समझकर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए इनका सर्वथा त्याग कर देवें ॥ ५०२ ॥ ५०३ ॥

आत्मरताय भव्याय गृहादिवर्जिताय च।
रागद्वेषविमुक्ताय स्वपरहितहेतवे ॥ ५०४ ॥
भक्त्या त्रिविधपात्राय दानं देयं चतुर्विधं।
अतिथिसंविभागाख्यं व्रतं प्रोक्तं सुखप्रदम् ॥ ५०५ ॥

इस संसारमें उत्तम मध्यम जघन्य के भेदसे पात्र तीन प्रकारके हैं। ये सब पात्र अपने आत्मामें लीन रहने वाले हैं, भव्य हैं, घर आरंभ परिग्रह आदिसे रहित हैं। इनको अपने और उन त्यागी व्रतियोंका कल्याण करनेके लिए भक्तिपूर्वक चारों प्रकारका दान देना चाहिए। इस को अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं। यह अतिथिसंविभाग व्रत अनेक सुखोंको देनेवाला है ॥ ५०४ ॥ ५०५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निद्यं: सचित्तनिक्षेपो वा सचित्तापिधानकं ।
अपरव्यपदेशश्च कालातिक्रम एव च ।। ५०६ ।।
मात्सर्यं दु:खदात्रैतेऽतिचारा: पंचदु:खदा: ।
सन्तीति परिहर्तव्या ज्ञात्वा स्वर्मोक्षवांछकै: ।। ५०७ ।।

इस अतिथिसंविभाग व्रतके भी पांच अतिचार हैं पहला निंदनीय सचित्त निक्षेप अर्थात् मुनिको देने योग्य आहार को सचित्त पदार्थपर रखदेना है । दूसरा अतिचार सचित्त पदार्थसे ढक देना है, तीसरा अतिचार किसी दूसरेको आहार देनेके लिए कहना अथवा न देने की नियत से किसी अपने पदार्थ को दूसरे का बतला देना चौथा अतिचार है । आहार का समय बीत जाने पर दान देनेके लिए खड़े होना है और अनेक दु:ख और चिंताओंको देने वाला पांचवा अतिचार अन्य दाताओंके साथ ईर्षा करना है । इस प्रकार दु:ख देनेवाले ये पांच अतिचार हैं । स्वर्ग मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको इनका स्वरूप समझकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ।। ५०६ ।। ५०७ ।।

मांसादिदर्शनात् ज्ञेय: स्पर्शनादस्थिचर्मण: ।
हिंसाकरं वच: श्रुत्वा भुक्त्वा वा त्यक्तवस्तुन: ।। ५०८ ।।
मनोग्लानिर्यदा जाता अंतरायस्तदा तदा ।
त्याज्यश्च सर्व आहारो व्रतपूर्णै: सुगेहिभि: ।। ५०९ ।।

मांसादिक पदार्थोंके दृष्टिगोचर होने से हड्डी, चमड़ा आदिके स्पर्श होनेसे हिंसा करनेवाले वचनोंको सुनकरके त्यागी हुई वस्तुको खाकरके और जब मन में ग्लानी आजाय तब भोजनके अंतराय माने जाते हैं । उस समय समस्त व्रतोंसे सुशोभित रहनेवाले श्रावकोंको सब तरहके आहारका त्याग कर देना चाहिए ।। ५०८ ।। ५०९ ।।

भगवंस्त्वत्प्रसादेन व्रतानां लक्षणानि च ।
तथातिचारा: सर्वेषां ज्ञाता: स्वात्मविशुद्धये ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सद्य: शेषप्रतिमानां लक्षणानि निरूपय ।

धृत्वा ता: श्रावक: पश्चाद् मुनिर्भूत्वा शिवं व्रजेत् ।।

प्रश्न - हे भगवन् आपके प्रसादसे अपने आत्माको शुद्ध करने के लिये समस्त व्रतोंके लक्षण और अतिचार जान लिये । अब कृपाकर बाकीकी प्रतिमाओंको लक्षण कहिये । जिन्हे धारणकर यह श्रावक अंतमें मुनि होकर मोक्षमें जा विराजमान होता है ।

रागद्वेषं परित्यज्य समो भूत्वा प्रियाऽप्रिये ।

पदार्थे स्वात्मबाह्ये च दु:खदे स्वात्मनाशिनि ।। ५१० ।।

द्वात्रिंशद्दोषमेवाऽपि त्याक्त्वा संसारदं तथा ।

मग्ना भवंति शुद्धेऽस्मिन् स्वात्मनि सौख्यदायिनि ।। ५११ ।।

तद्वा सामायिकं प्रोक्तं करणीयं त्रिकालके ।

तृतीया प्रतिमा ज्ञेया श्रावकस्य महात्मन: ।। ५१२ ।।

उत्तर - अब तीसरी प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं । जो पुरुष रागद्वेषको छोड़कर तथा आत्मासे भिन्न और आत्माको नाश करनेवाले और दु:ख देनेवाले प्रिय अप्रिय समस्त पदार्थोंमें समता धारण कर और जन्ममरण रूप संसारको बढ़ानेवाले बत्तीस दोषोंका त्यागकर सुख देने वाले अपने शुद्ध आत्मामें लीन होते हैं, उसको सामायिक कहते हैं । यह सामायिक महात्मा श्रावकोंको तीनों समय करना चाहिए । इसको तीसरी प्रतिमा कहतै हैं ।। ५१० - ५१२ ।।

सर्वारम्भं परित्यज्याहारं चतुर्विधं तथा ।

कषायविषयान् त्यक्त्वा संसारदु:खदायिन: ।। ५१३ ।।

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां कर्तव्यो निश्चयेन च ।

यथाशक्त्युपवासश्च कामदो मोक्षहेतवे ।। ५१४ ।।

चिदानन्दपदे शुद्धे स्वात्मनि सुखदे सदा ।

उपवेशनमेव स्यादुपवासश्च मोक्षद: ।। ५१५ ।।

अब चौथी प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं, चौथी प्रतिमा धारण करने वाले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रावकको अष्टमी और चतुर्दशी के दिन सब तरहके आरंभोंका त्याग कर तथा चारों प्रकारके आहारोंका त्याग कर और संसारके महादुःख देने वाले कषाय तथा विषयोंका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अपनी शक्तिके अनुसार इच्छानुसार फल देनेवाला उपवास अवश्य करना चाहिए । अथवा शुद्ध चिदानंद स्वरूप और सुख देनेवाले अपने आत्मामें तल्लीन रहना मोक्ष देनेवाला उपवास कहलाता है । यह भी श्रावकको धारण करना चाहिए । इसको प्रोषधोपवास प्रतिमा कहते हैं ॥ ५१३ - ५१५ ॥

फलमूलादिकानां चापक्वानां ह्यनलादिभिः ।
न कार्यं भक्षणं भव्यैर्दयाधर्मप्रवर्द्धकैः ॥ ५१६ ॥
निजपरात्मशान्त्यर्थं पंचाक्षरोधहेतवे ।
स्वार्मोक्षवाञ्छकैर्भव्यैः स्वरसरसिकैः सदा ॥ ५१७ ॥

जो पुरुष स्वर्ग मोक्ष की इच्छा करनेवाले भव्य है, दयाधर्मको बढ़ानेवाले हैं और आत्मजन्य आनंदरस के रसिक हैं उनको पंचेंद्रियोंका निरोध करनेके लिए, और अपनी आत्माको तथा अन्य समस्त जीवोंको शान्ति प्राप्त करनेके लिए अग्नि आदिके द्वारा नहीं पके हुए फल पत्र मूल आदिको कभी भक्षण नहीं करना चाहिए । इसको सचित्तत्याग नामकी पांचवी प्रतिमा कहते हैं ॥ ५१६ ॥ ५१७ ॥

मनोवचनकायैश्च कृतकारितसम्मतैः ।
दिवसे मैथुनं त्याज्यं दुःखदं निशि भोजनम् ॥ ५१८ ॥
शान्तिवैराग्यवृध्द्यर्थं स्वात्मचिंतनमेव च
व्रतं स्वर्मोक्षदं स्याद्धि रात्रिभोजनवर्जनम् ॥ ५१९ ॥

छट्ठी प्रतिमा धारण करनेवालोंको मन, वचन, काय और कृत कारिता अनुमोदनासे दिनमें मैथुनसेवन करनेका त्याग कर देना चाहिए और महादुःख देनेवाला रात्रिभोजनका त्याग कर देना चाहिए । तथा शांति और वैराग्यको बढ़ानेके लिए अपने आत्माका चिन्तन करना चाहिए । इसको स्वर्गमोक्ष देनेवाला रात्रिभोजन त्याग नामका व्रत कहते हैं । इसको पालन करना छठी प्रतिमा है ॥ ५१८ ॥ ५१९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समस्तयोषिन्मात्रं च त्यक्त्वा वाक्कायचेतसा ।
तदतिचारमेवाऽपि संसारपरिवर्द्धकम् ।। ५२० ।।
चिदानन्दमये शुद्धे परमात्मनि सौख्यदे ।
स्वात्मबाह्यजनासाध्ये रत्नत्रयमये पदे ।। ५२१ ।।
नित्यं निवेशनार्थं च स्वरसस्वादहेतवे ।
यतते यः स एवास्ति ब्रह्मचारी दयापरः ।। ५२२ ।।

जो पुरुष मन वचन काय से समस्त स्त्रीमात्रका त्याग कर देता है और संसारको बढ़ानेवाले उनके समस्त अतिचारोंका भी त्याग कर देता है तथा जो अपने आत्म जन्य आनंदरसका स्वाद लेने के लिए शुद्ध रत्नत्रय से सुशोभित, आत्मज्ञानरहित मनुष्योंके द्वारा प्राप्त होने अयोग्य, चिदानंदमय और सुख देनेवाले अत्यंत शुद्ध परमात्मामें लीन होनेका सदा प्रयत्न करता है उसको दयालु ब्रह्मचारी कहते हैं । इस प्रकारका ब्रह्मचर्य नामकी सातवीं प्रतिमा कहलाती है ।। ५२० - ५२२ ।।

मस्यसिकृषिवाणिज्यं शिल्पसेवादिकं तथा ।
सर्वारम्भं परित्यज्य पापभीतेर्दयापरः ।। ५२३ ।।
स्वाध्यायं वा शुभध्यानं करोति स्वात्माचिंतनं ।
आरंभत्यागो विज्ञेयः पालनीयः सुगेहिभिः ।। ५२४ ।।

जो दयालु श्रावक पापोंके डरसे असि, मसि, कृषि, शिल्प, सेवा, वाणिज्य आदि समस्त आरंभोंका त्याग कर स्वाध्याय करता है, शुभ ध्यान करता है वा अपने आत्मा का चिन्तन करता है उसके इस व्रतको आरंभत्याग कहते हैं । श्रेष्ठ श्रावकोंको इसका सदा पालन करते रहना चाहिये । यह आठवीं प्रतिमाका स्वरूप है ।। ५२३ ।। ५२४ ।।

वस्त्रपात्रैर्विना सर्वं परिग्रहं भवप्रदं ।
मोहदिकं तथा त्याक्त्वा वैरक्लेशादिवर्द्धकम् ।। ५२५ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्रतोपवासं मौनं च कुर्वन् ध्यानं तपो जपं ।
स्वात्मानं चिंतयन् शुद्धं स्वपदे यश्च तिष्ठति ।। ५२६ ।।
स्वर्मोक्षवाञ्छकः शुद्धः संसारसुखदूरगः ।
श्रावकः स च विज्ञेयः परिग्रहविवर्जितः ।। ५२७ ।।

जो श्रावक वस्त्र और वर्तनों के बिना जन्ममरणरूप संसारको बढ़ानेवाले समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देता है, तथा वैर क्लेश आदि बढ़ानेवाले मोह वा रागद्वेष आदिका त्याग कर देता है और व्रत उपवास करता हुआ मौन धारण करता हुआ ध्यान, तप वा जप करता हुआ तथा अपने शुद्ध आत्माका चिंतन करता हुआ अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहता है । इसके सिवाय जो स्वर्गमोक्षकी इच्छा करता रहता है, सब तरहसे शुद्ध रहता है, और संसारिक सुखोंसे दूर रहता है उसको परिग्रहविरत श्रावक कहते हैं । यह नौवीं प्रतिमाका स्वरूप है ।। ५२५ - ५२७ ।।

संसारविषये निंद्ये दुःखे पापप्रदेऽशुभे ।
विवाहारम्भकार्यादौ व्याधिचिंतादिवर्द्धके ।। ५२८ ।।
निःसारे धर्मशून्ये वाऽनुमतिर्नास्ति यस्य च ।
संसारनाशकोऽयं सोऽनुमतिविरतो भवेत् ।। ५२९ ।।

ये विवाह खेती आदि आरंभके कार्य सांसारिक हैं निंद्य हैं, दुःख और पाप उत्पन्न करनेवाले हैं, अशुभ हैं, व्याधि चिंता आदि को बढ़ाने वाले हैं, साररहित हैं और धर्मरहित हैं, ऐसे कार्यों में जो उत्तम श्रावक अपनी संमति तक नहीं देता उसको जन्म मरण रूप संसारको नाश करनेवाला अनुमतिविरत नामका श्रावक कहते हैं । यह दशवीं प्रतिमा का स्वरूप है ।।५२८-५२९।।

सर्वसंगं परित्यज्य मोहलोभादिकं तथा ।
संसारतारकं प्राप्य सद्गुरुं शांतिसौख्यदम् ।। ५३० ।।
तस्माद् व्रतं गृहीत्वेति खण्डवस्त्रं च धारयन् ।
अनुद्दिष्टं सदाहारं गृह्णन् गुरुकुले वसन् ।। ५३१ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करोति ध्यानं स्वाध्यायं सर्वथा स्वात्मसाधनं ।
उत्तमः श्रावकः सोऽयमुद्दिष्टाहारवर्जितः ।। ५३२ ।।

जो पुरष समस्त परिग्रहोंका त्याग कर तथा लोभ मोहादिका त्याग कर संसार में पार करनेवाले और शांति सुखको देनेवाले श्रेष्ठ गुरुके समीप जाता है, तथा उन से व्रत धारण कर खंडवस्त्र धारण करता है, सदा उद्दिष्टरहित आहार लेता है, गुरुकुलमें ही निवास करता है तथा ध्यान स्वाध्याय और सब प्रकारसे अपने आत्माको शुद्ध करने का साधन किया करता है उसकी उद्दिष्टाहार त्यागी उत्तम श्रावक कहते हैं । यह ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप हैं ।। ५३० - ५३२ ।।

इति श्री १०८ मुनिराजकुंथुसागरविरचित
बोधामृतसारग्रंथे श्रावकधर्मवर्णनो नाम
चतुर्थोऽधिकारः ।

इस प्रकार मुनिराज श्री १०८ कुंथुसागरविरचित
बोधामृतसारनामके ग्रंथमें श्रावकधर्मको वर्णन
करनेवाला यह चौथा अधिकार
समाप्त हुआ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ प्रशस्तिः ।

प्रसिद्धे मूलसंघेऽस्मिन् शुद्धे सेनान्वये वरे ।
गच्छे पुष्करके जातो जिनसेनो महाकविः ॥ १ ॥
देवेंद्रकीर्तिः संजातस्तस्य शिष्यान्वये शुभे ।
धर्मस्य नेता तच्छिष्यः सूरिः श्रीशांतिसागरः ॥ २ ॥

इस प्रसिद्ध शुद्ध मूलसंघके सेनगण और पुष्कर, गच्छमें प्रसिद्ध आचार्य जिनसेन महाकवि हुए हैं । उन आचार्य जिनसेन की शिष्यपरंपरामें मुनिराज देवेन्द्रकीर्ति हुए हैं, और उन देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य धर्मके मुख्य नेता आचार्य शान्तिसागर हुए हैं ॥ १ - २ ॥

आसीदयं महासूरिर्भोजग्रामनिवासिनः ।
भीमगौडस्य सत्याया सुपुत्रः सातगौडकः ॥ ३ ॥
मुनिदीक्षां समादाय प्राप्तः सूरिपदं क्रमात् ।
मम दीक्षागुरुः सोऽयं जीयादाचंद्रतारकम् ॥ ४ ॥

ये आचार्य शान्तिसागर महाराज भोज (बेलगांव) गांवके रहने वाले पाटील भीमगौडके सुपुत्र थे, उनका नाम सातगौड था और उनकी माताका नाम सत्यवती था । उन सातगौडने मुनिदीक्षा ग्रहण कर अनुक्रमसे आचार्य पद प्राप्त किया है । वेही आचार्य श्री शान्तिसागर मेरे दीक्षागुरु हैं और वे मेरे दीक्षागुरु आचार्य शान्तिसागर इस पृथ्वीपर जबतक चन्द्र और नक्षत्रगण रहे तबतक जयवंत रहें ॥ ३ - ४॥

मुमुक्षुस्तस्य शिष्योऽहं मुनिः श्रीकुंथुसागरः ।
अन्ये च बहवः शिष्याः संजातास्तस्य योगिनः ॥ ५ ॥

अर्थ - मोक्षकी इच्छा रखनेवाला मैं मुनि श्री कुंथुसागर उन्हीं आचार्य शान्तिसागरका शिष्य हूं । उन आचार्यके मेरे सिवाय और भी बहुतसे शिष्य हैं ॥ ५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीवरिसागरो विद्वान् गुणज्ञौ नेमिसागरौ ।
श्रीचन्द्रसागरो योगी दयालुः पायसागरः ॥ ६ ॥
नमिसागरयोगीशो मुमुक्षुरादिसागरः ।
स्मार्तो वक्ता तपस्वी च मुनिः सुधर्मसागरः ॥ ७ ॥

विद्वान् वीरसागर, अनेक गुणोंको जानने वाले दोनों नेमिसागर, योगिराज चन्द्रसागर, दयानिधि पायसागर योगिराज नमिसागर, मोक्षकी इच्छा रखनेवाले आदिसागर और स्मृति शाखोंके ज्ञाता परम वक्ता तथा तपस्वी मुनिराज सुधर्मसागर आदि अनेक उनके शिष्य हैं ॥ ६ - ७ ॥

मध्यभारतदेशस्थचावलीग्रामवासिनः ।
तोतारामस्य मेवाया धर्मज्ञो वरनन्दनः ॥ ८ ॥
नन्दनलालश्च विद्वान् मुनिर्भूत्वा सुधर्मधीः ।
सुधर्मसागरो जातः सूरिकल्पः प्रपाठकः ॥ ९ ॥
सुधर्मध्यानदीपादिशास्त्राणां मूलकारकः ।
सुधर्मसागरः सोऽयं जीयाद्विद्यागुरुर्मम ॥ १० ॥

मध्यभारतके चावली गांवके रहनेवाले तोताराम के उनकी धर्मपत्नी मेवासे उत्पन्न हुआ एक धर्मात्मा सुपुत्र था नन्दनलाल उसका नाम था । वह नंदनलाल विद्वान था और सद्बुद्धि को धारण करता था । वही नन्दनलाल मुनिदीक्षा लेकर सुधर्मसागर के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । वे आचार्य के समान सबको पढ़ानेवाले हैं और मेरे विद्यागुरु हैं । ऐसे वे सुधर्मसागर मुनि सदा जीवित हैं ॥ ८ - १० ॥

एनापुरस्थतातप्पासरस्वत्योः सुतोत्तमः ।
रामचन्द्रः सुदीक्षित्वा जातोऽहं कुंथुसागरः ॥ ११ ॥

एनापुर (बेलगांव) के रहनेवाले सातप्पा और सरस्वतीका उत्तम पुत्र रामचन्द्र मुनिदीक्षा लेकर मैं कुंथुसागर मुनि हुआ हूं ॥ ११ ॥

चतुर्विंशतितीर्थेशस्तुतिः पंचगुरुस्तुतिः ।
चरित्रं शांतिसिंधोश्च भावना रचिता मया ॥ १२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैने अबतक चतुर्विंशति तीर्थंकर की स्तुति-पंचपरमेष्ठी स्तुति, आचार्य शांतिसागरजी का चरित्र और आत्मभावना आदि ग्रंथोंकी रचना की है ॥ १२ ॥

उदगिरे पुरे श्रेष्ठी गंगासानामकोऽभवत् ।
तद्भार्या रुक्मिणी ज्ञेया रामचन्द्रः सुतस्तयोः ॥ १३ ॥
सूरेराज्ञां समादाय मयैव कुंथुसिंधुना ।
दीक्षितः सोऽपि भव्यात्मा विद्वान् सुमतिसागरः ॥ १४ ॥

ऊदगिरि नगरमें एक सेठ गंगासा रहते हैं उनकी स्त्रीकी नाम रुक्मिणी है उन दोनोंके रामचन्द्र नामका पुत्र था । मुझ कुंथुसागर मुनिने आचार्य शान्तिसागर की आज्ञा लेकर उस भव्य और विद्वान रामचन्द्रको मुनि दीक्षा दी है और सुमतिसागर उनका नाम निर्देश किया है ॥ १३ - १४ ॥

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा स्खलनं यदि मे भवेत् ।
ग्रंथेऽस्मिन् तद्बुधा नित्यं श्रमणाः शोधयंत्विति ॥ १५ ॥

मेरे अज्ञान वा प्रमाद से यदि इस ग्रंथमें कुछ कमी वा भूल रह गई हो तो विद्वान मुनियों को उसे शुद्ध कर लेना चाहिये ॥ १५ ॥

जयतु जयतु देवः शांतिनाथो जिनेन्द्रः ।
सुरनरमुनिपूज्यो वर्द्धमानो जिनेशः ॥
शिवरससुखदात्री वीरवाणी सदैव ।
मम शुभमतिदाता शांतिसिंधुः सुधर्मः ॥ १६ ॥

परमदेव भगवान शान्तिनाथ जिनराज सदा जयवंत रहें । देव मनुष्य और मुनियों के द्वारा पूज्य श्रीवर्धमान भगवान सदा जयवंत रहें । इसीप्रकार मोक्ष सुख देनेवाली, भगवान महावीर स्वामी की वाणी सदा जयवंत रहे और मुझको शुभबुद्धि देनेवाले आचार्य शान्तिसागर तथा सुधर्मसागर सदा जयवंत रहे ॥ १६ ॥

छंदोलंकारशास्त्रे वा न च काव्यकलादिकं ।
नैव नीत्यादिशास्त्रं च न्यायव्याकरणादिकम् ॥ १७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषं धर्मशास्त्रं वा नैव जानामि तत्त्वतः ।
तथापि केवलं भक्त्या लिखितोऽयं मयाधुना ॥ १८ ॥

यद्यपि मैं छंदः शास्त्र, अलंकार शास्त्र वा काव्य शास्त्र और कलादिकों को नहीं जानता हूं, न मैं नीतिशास्त्रको जानता हूं और न न्याय व्याकरणादिक जानता हूं । तथा विशेष रीति से धर्मशास्त्रको भी अच्छी तरह नहीं जानता तथापि केवल भक्तिके वश होकर मैने इस समय यह शास्त्र लिखा है ॥ १७ - १८ ॥

दीक्षागुरोरेव च शांतिसिंधोः,
संसारहर्तुः शिवसौख्यदातुः ।
कृपाप्रसादाद्धि सुधर्मनाम्नो,
विद्यागुरोरेव दयार्द्रमूर्तेः ॥ १९ ॥
श्रीकुंथुनाम्ना मुनिना स्वबुध्द्या,
स्वजन्ममृत्योश्च बिनाशहेतोः ।
तथा परेषां सुखशांतिहेतो-,
र्यथार्थधर्मस्य च बोधहेतोः ॥ २० ॥
नाम्ना हि बोधामृतसार एव,
ग्रंथो मनोज्ञो रचितश्च भक्त्या ।
अज्ञानहर्ता निजबोधकर्ता,
भेत्ता ध्रुवं क्रोधचतुष्टयस्य ॥ २१ ॥

जन्ममरणरूप संसारको हरण करनेवाले और मोक्ष सुखको देनेवाले आचार्य श्रीशांतिसागरजी महाराज मेरे दीक्षा गुरु हैं तथा दयाकी मूर्ति ऐसे मुनिराज सुधर्मसागरजी महाराज मेरे विद्यागुरु हैं । उन्हीं दोनों गुरुओंकी कृपाके प्रसादसे मुझे कुंथुसागर मुनिने अपने जन्म मरण को नाश करने के लिए, अन्य जीवोंको सुख शांति प्राप्त करनेके लिए और यथार्थ धर्मके ज्ञानका प्रचार करनेके लिए यह बोधामृतसार नामका ग्रन्थ अपनी बुद्धिके अनुसार बनाया है । यह ग्रन्थ अत्यंत मनोज्ञ है, अज्ञानको हरण करनेवाला है अपने आत्मज्ञान को उत्पन्न करने वाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है और क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चारों कषायोंको नाश करनेवाला है। ऐसे इस ग्रन्थकी रचना मैने भक्तिपूर्वक की है ।। १९ - २१ ।।

ग्रंथं ह्यमुं वांच्छितदं सदैव,
स्मरान्ति गायन्ति पठन्ति भक्त्या ।
श्रृण्वन्ति वाञ्छन्ति नमन्ति यान्ति,
त एव भव्या भुवि सारसौख्यम् ।। २२ ।।

जो भव्य पुरुष इच्छानुसार फल देनेवाले इस ग्रंथको सदा स्मरण करते हैं, गाते हैं, पढ़ते हैं, भक्तिपूर्वक सुनते हैं, पढ़ने सुननेकी इच्छा करते हैं, नमस्कार करते हैं और इसका संबंध प्राप्त करते हैं वे भव्य जीव इस संसारमें सारभूत सुखको पाकर धन धान्यादिकसे परिपूर्ण साम्राज्य लक्ष्मीको पाकर और धर्मानुकूल कुटुंब वर्गको पाकर अनुक्रमसे शीघ्र ही सदा अजर अमर रहनेवाले अपने आत्म-जन्य अनंत सुखको प्राप्त होते हैं ।। २१ - २२ ।।

साम्राज्यलक्ष्मीं च धनादिपूर्णां,
धर्मानुकूलं च कुटुंबवर्गम् ।
लब्ध्वैव शीघ्रं ह्यजरामरत्वं,
क्रमाल्लभन्ते निजसौख्यसारम् ।। २३ ।।
सिद्धिं विशुद्धिं विमलां समाधिं,
पुत्रादिपौत्रं सुखशान्तिकान्तिम् ।
शौर्यं सुविद्यां सुधृतिं हि तेजः,
स्वर्मोक्षलक्ष्मीं विदधातु देवः ।। २४ ।।

अंतमें वे भगवान अरहंतदेव इस ग्रंथको पढ़ने सुननेवालोंके लिये सिद्ध अवस्था प्रदान करें, विशुद्ध और निर्मल समाधि प्रदान करें, पुत्र पौत्र देवें, सुख शांति कांति शूरवीरता, श्रेष्ठविद्या, धैर्य और तेज प्रदान करें तथा स्वर्ग मोक्षकी लक्ष्मी प्रदान करें ।। २३ - २४ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्षं गते महावीरे सुखशान्तिप्रदायके ।
चतुर्विंशतिसंख्याते वा त्रिषष्ट्यधिके शते ।। २५ ।।
सिते कार्तिकपक्षे च द्वितीयायां शुभे दिने ।
ईडरराज्यान्तर्गते भिलोडातिसमीपगे ।। २६ ।।
स्थित्वा शुभमऊग्रामे वर्षायोगे शुभप्रदे ।
लिखितोऽयं मया ग्रंथो जीयादाचन्द्रतारकम् ।। २७ ।।

सुख और शांति देनेवाले भगवान महावीर स्वामीके मोक्ष जानेके बाद चौबीससौ तिरेसठ वर्ष बीत जानेपर कार्तिक शुक्ल पक्षके शुभ द्वितीया के दिन ईडर राज्यके अंतर्गत भिलोडा के समीप श्रेष्ठ मऊ गांवमें कल्याण करनेवाले वर्षायोगमें ठहर कर मैने यह ग्रन्थ लिखा है । इस पृथ्वीपर जबतक चन्द्र और नक्षत्रगण विद्यामान रहे तबतक यह ग्रन्थ सदा चिरंजीव बना रहे ।। २५ - २७ ।।

इति शम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

|| श्री वीतरागाय नमः ||

लघुबोधामृतसार ।

मंगलाचरण

ज्ञानभानुं जिनं नत्वा, श्रीदं स्वर्मोक्षदायकम् ।
लघुबोधामृतं सारं, वक्ष्ये सद्बोधहेतवे ।। १ ।।

संस्कृतार्थ : सुज्ञानसूर्य वीतरागपरमदेवं नत्वा सकलैश्वर्य प्रदायकमभ्युदयनिश्रेयससाधकम् लघुबोधामृतसारं भव्यानां बोधहेतवे वक्ष्ये इति प्रतिज्ञां करोत्याचार्यः ।। १ ।।

THE AUSPICIOUS PRAYER.

Having bowed to Jina (God), the sun of knowledge, who gives wealth and final beautitude. I (Kunthusagar) tell a short essence of nectar of advice to enable the good for its achievement. (1)

अर्थ - सुज्ञानसूर्य वीतराग परमदेव भगवंतको नमस्कार कर आचार्य ग्रंथ-निर्माणकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

कुत्रागतोऽहं गमनीयमस्ति, कुतः सदा किं करणीयमेवं ।।
संसारवृत्तांतविदा नरेण, सदैव चित्ते खलु चिंतनीयं ।। २ ।।

संस्कृतार्थ - स्वपरहितमभिवांच्छन भवभ्रमणदुःखमनुभवन् प्रत्यहमात्महितैषिणा एवं चिंतनीयम्, अहं कुत्रागतः, केन भवेनाहमत्रागतः, कुत्र च गमनीयमस्ति, कृ गतौ गमनीयमस्ति, अत्र च मनुष्य भवे किं कर्तव्यमस्ति ।। २ ।।

Where have I come, where I am to go, what is worth to be done, a learned man should always consider these regarding the world. (2)

अर्थ - अपने हितको चाहनेवाले मनुष्यको प्रतिनित्य मैं कहांसे आया हूं, कहां जाना है और यहांपर मेरा कर्तव्य क्या है? इत्यादि विषयोंका विचार अवश्य करना चाहिए ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस संसारमें समस्त भोगोपभोग पदार्थ नाशशील हैं । इष्टवियोग अनिष्टसंयोग का संबंध इस आत्माको प्रतिसमयमें होता रहता है । जब कि षट्खंडवैभवभोगी चक्रवर्तिकी अखंड संपत्ति, अन्यदुर्लभ श्रीतीर्थंकरपरमेष्ठीकी विभूतियां, और बलभद्रादि महापुरुषोंके सर्व वैभव भी नाशशील हैं, फिर हम लोगोंकी नश्वरसंपत्तिका तो कहना ही क्या है? क्या वह स्थिर रह सकती है? प्रात:कालमें सुखसे स्थित मनुष्य शाम को मरणोन्मुख होता है । सबेरे पुत्रजन्मसे हँसीखुशी मनानेवाले मनुष्य दुपहरको पुत्रवियोगसे दु:खसमुद्रमें गोते लगाते रहते हैं ।

यह जीवन जलबुदबुदके समान है । परंतु यह प्राणी इसके रहस्यको न समझकर मोह और अज्ञानकेवशीभूत होकर यह शरीर, जीवन, पुत्रमित्रादिबांधव और समस्त संपत्तिको स्थिर समझकर इस संसारमें परिभ्रमण करता रहता है ।

यह मनुष्य पर्याय ही सब पर्यायोंमें श्रेष्ठ है । इसी भवमें आकर यह जीव अपने शुभाशुभकर्मानुसार जिस तरह नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतियोंका टिकेट लेता है, उसी तरह संपूर्ण कर्मोंको नाश करके शिवपदको भी प्राप्त कर सकता है । परंतु ये सब इस मनुष्यके कर्तव्य और भावनापर निर्भर है ।

भो गुरो ! कीदृशो जीवो नरकं याति सत्वरम् ?

Question - Oh ! Preceptor ! tell me which being goes to hell ?

प्रश्न - हे गुरो ! कैसा जीव शीघ्र ही नरक पहुंचता है ?

अत्यंतकोपी कटुकप्रभाषी, धर्मस्य देवस्य गुरोर्विरोधी ।
धूर्तः शठः प्राणिवधे प्रवृत्तो, द्रोही च बंधोः कुलजातिलोपी ॥
दानादिधर्मेषु सदा रतानां, सुश्रावकाणां खलु निंदको यः ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्त, स एव पापी नरकस्य गामी ॥

संस्कृतार्थ - तीव्रकषाययुक्तः कठोरवचनप्रयोक्ता, देवस्य तथा सत्वहितसाधकाहिंसाधर्मस्य गुरोश्च निंदक, धूर्तः, परोपकारे निरतश्शठः, सत्वानां वधे प्रवृत्तः, हिंसकः, स्वबांधवानां द्रोही, स्वेच्छाचारमाचरन्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुलजातिमर्यादालोपकः, सत्पात्रदानदेवपूजादिसत्कार्येषु रतानां भव्यानां सदा दूषकः, पापोतीव्राशुभकर्योदयापात्तनिमित्तेन श्वभ्रगतिं याति ।। ३ - ४ ।।

That sinful man goes to hell who at once becomes angry; who speaks bitter words; who objects to religion, God and the preceptor; who is a cunnning rogue; who is inclined to kill animals; who is treacherous to his fellowmen and who wants to destroy the family and the caste; and who always reproaches the good house-holders who take interest in duties such as giving donation etc. and the one who porssesses bad feelings in his mind, as are mentioned above. (3-4)

अर्थ - जो अत्यंत क्रोधी है, कटुक भाषण करनेवाला है जो देव, धर्म और गुरुका विरोधी है, जो धूर्त है, मूर्ख है, प्राणियोंकी हिंसामें सदा प्रवृत्त रहता है, जो अपने भाई बंधुओंका द्रोही है, जो कुल और जातिका लोप करनेवाला है और जो दान पूजा आदि धर्ममें सदा लीन रहनेवाले श्रेष्ठ श्रावकोंकोंकी सदा निंदा करता रहता है, जिस जीवके ऊपर लिखे हुए भाव विद्यमान रहते हैं वही जीव पापी और नरकगामी समझना चाहिए ।

प्रश्न - कितने वर्षोंतक जीव नरकगतिमें रहता है ?

उत्तर - उत्कृष्ट ३३ सागरवर्ष पर्यंत, जघन्य दस हजार वर्ष पर्यंत और मध्यम अपनी स्थितीके अनुसार अर्थात् दस हजार वर्षोंसे लेकर अन्तर्मूहूर्तविभागक्रमसे तेतीस सागर वर्ष पर्यंत अपनी २ स्थितिके अनुसार वहांपर रहता है ।

प्रश्न - कोडाकोडी किसे कहते है ?

उत्तर - एक कोटीसे एक कोटीको गुणाकार करनेपर जो लब्ध आता है उसे कोडाकोडी कहते हैं ।

प्रश्न - सागर किसे कहते हैं ?

उत्तर - दस कोडाकोडी अद्धापल्यको सागर कहते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्न - अद्धपल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर - दो हजार कोश गहरे और दो हजार कोश चौड़े गोल गड्ढेमें कैंचीसे जिसका दूसरा भाग न हो सके ऐसे मेंढेके बालोंको भरना । जितने बाल उसमें समावे, उसमेंसे एक एक बालको सौ सौ वर्ष बाद निकालना । जितने वर्षोंमें वे सब बाल निकल जावे, उतने वर्षोंके जितने समय हो उसको व्यवहारपल्य कहते है । व्यवहारपल्यसे असंख्यात गुणा उद्धारपल्य होता है । उद्धारपल्यसे असंरख्यात गुणा अध्दापल्य होता है ।

प्रश्न - नरकगतिमें किस तरह दु:ख भोगना पड़ता है ?

उत्तर - नरकमें रहनेवाले नारकी जीव सदा अशुभतर लेश्यावाले, अशुभतर परिणामवाले, अशुभतर देहके धारक अशुभतर वेदनावाले और अशुभतर विक्रिया करनेवाले होते हैं । निरन्तर अशुभकर्मका उदय रहनेके कारण उनके परिणाम आदि सदा अशुभ ही रहते हैं नारकी जीव परस्पर कुत्तोंकी तरह निरंतर लड़ते झगड़ते रहते हैं और अंबांवरीष जीतिके संक्लिष्ट परिणामवाले असुरोंके द्वारा भी दु:खी किये जाते हैं अर्थात् जिस प्रकार लोकमें अनेक अज्ञानी पुरुष मेंढे, भैंस, हाथियोंको मद्य पिलाकर परस्पर लड़ाते हैं और उनकी हार-जीतसे आनंद मनाते हैं वा तर्माशा देखते हैं । उसी प्रकार तीसरे नरक तकके नारकी जीवोंको दुष्ट कौतुकी देव अवधिज्ञानसे उनके पूर्व वैरोंका स्मरण कराकर परस्पर लड़ाते तथा दु:खित करते रहते हैं और आप तमाशा देखते हैं और भी अनेक प्रकारके दु:ख होते हैं ।

तिर्यग्गतिं च को जीवो गुरो ! गच्छति भो वद ?

Question - Oh Preceptor ! Tell me which being goes to the organic world ?

प्रश्न - हे गुरो ! यह बतलाइये कि तिर्यचगति में कोनसा जीव जाता है ?

आचारहीनो हि विचारशून्यो, मिथ्याप्रलापी च बहुप्रमादी
अभक्ष्य भक्षी विपरीतवृत्ति-र्बह्वन्न भोजी निजधर्मबाह्यः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दंभी च लोभी विषये निमग्नो, दानादिधर्माद्धि सदैव दूर: ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्त: स एव गंता च गतिंतिरश्चाम् ।।

संस्कृतार्थ - यश्च सदाचारविरहित:, विवेकविहीन:, अतिप्रलापी, अतिप्रमादी, भक्ष्यभक्ष्यविवेकरहित:, बह्मन्नभोक्ता, स्वधर्ममार्गदूर:, अहंकारयुक्त:, लोभी, विषयविषे निमग्न:, सत्पात्रदानादि सत्कार्योपेक्षक:, मायाचारसहित: स च स्वोपात्तै: भावैर्स्तिग्गति याति ।। ५ - ६ ।।

The person goes to the organic world, who has renounced all customary observances, who is thoughtless, who tells a lie, who makes many mistakes, who eats prohibited articles, whose nature is crooked, who eats too much and who does not follow religion, who is a pretender, who is covetous, who is plunged in sensual objects, who always keeps aloof from duties like giving donation, etc. and one who has the bad qualities described above. (5-6)

अर्थ - जो पुरुष आचाररहित है, विचाररहित है, सदा मिथ्या बकवाद करता रहता है, अत्यंत प्रमादी है, अभक्ष्य भक्षण करनेवाला है, अपनी प्रवृत्ति सदा धर्मसे विपरीत रखता है, जो अधिक अन्न भक्षण करनेवाला है निजधर्मसे पराङ्मुख है, मायाचारी है, लोभी है, विषयोंमें सदा लीन रहता है और दानपूजा आदि धर्मसे सदा दूर रहता है, जो जीव ऊपर कहे अनुसार अशुभ भावोंको धारण करता है, उसे तिर्यंच गतिमें जानेवाला समझना चाहिए ।

प्रश्न - तिर्यंत गतिमें कितने समयतक रहना पड़ता है ?

उत्तर - वहांपर उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य, और जधन्य अन्तर्मुहूर्त तक रहती है । और अपनी २ स्थित्यनुसार मध्यम विकल्प असंख्यात है ।

प्रश्न - वहां किस तरहके दु:ख भोगने पड़ते हैं ?

उत्तर - वहां पराधीनतासे उत्पन्न छेदन, भेदन बंधन आदि अनेक दु:ख प्राप्त होते हैं । और समय २ में आहार-पानादिक का नहीं मिलना, तथा असह्य उष्ण, शीत आदि दु:ख, मलमूत्रादिके ऊपर ही सोना, उठना, बैठना, अपने दु:खोंको दूसरेसे कहनेकी असमर्थता इत्यादि दु:ख तीन पल्यतक भोगने पड़ते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। यह मनुष्य उपरोक्त प्रकारके भावोंकी तरतमतासे कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, गधा, हाथी आदि नाना प्रकारसे तिर्यंच होकर जन्म लेता है। अत:मायाचारादिक दुर्वासना न करते हुए शुभभावोंसे अपना समय व्यतीत करना चाहिये।

मनुष्योनिं को जोवो यातीति वद भो गुरो !

Question - Oh, preceptor, tell me which being is born as man.

प्रश्न - हे गुरो ! मनुष्योनिमें जाकर कौनसा जीव उत्पन्न होता है ?

य:स्वल्पलोभी विमलप्रवृत्ति:, संसारभीरुश्च दयार्द्रचित: ।
विनीतवृत्ति: समशांतियुक्तो, धर्मप्रचारी च कुकर्मलोपी ॥
रुचिं विधत्ते गुरुदेवशास्त्र, धर्मे सुदाने यजनेऽपि दक्ष: ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्त:, स एव धीरो नरजन्मगामी ॥

संस्कृतार्थ - यश्च मानव:, स्वल्पसंतुष्ट:, निर्मलाचारमार्गप्रवृत्त:, संवेगपरायण:, दयालु:, विनयशील: शांतिसमतासाधक:, धर्मप्रभाव कोऽवर्मविरोधिश्च, देवगुरुश्रुतभक्त:, सद्धर्मे सत्पात्रदाने तथा यजनयाजनादिके सत्कार्ये दक्ष:, धीरश्च स्वोपात्तमध्यपरिणामवशंगत: मनुष्यगतिं याति ॥ ७ - ८ ॥

That wise being is born as man, who covets little, who is pure, who fears the worldly affairs, who is kind in his heart, who is modest by nature, who is equally peaceful at all times, who spreads the religion, who destroys bad deeds, who takes interest in the preceptor, God and the religious books, who is deligent in religion, in giving donation and in worshipping God and one who possesses the qualities described above. (7-8)

अर्थ - जो जीव बहुत ही कम लोभ करता है, जो अपनी प्रवृत्तिको सदा निर्मल रखता है, जो संसारसे भयभीत है, जिसका हृदय सदा दयालु बना रहता है, जो सदा विनयपूर्वक रहता है, जो समता और शांतिको सदा धारण करता रहता है धर्मका प्रचार करता रहता है, कुकर्मोंको नष्ट करता रहता है, देवशास्त्रगुरुमें सदा श्रध्दान धारण करता है, जो धर्म धारण करने, दान देने और पूजा करनेमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्यंत चतुर हैं । इस प्रकार के शुभ भावोंसे जो सुशोभित है वह धीरवीर मनुष्यगति में जाकर जन्म लेता है ।

प्रश्न - मनुष्यगतिमें कितने कालतक रहना पड़ता है ?

उत्तर - भोगभूमिकी अपेक्षासे उत्कृष्ट तीन पल्य वर्ष, कर्मभूमि व विदेह क्षेत्रकी अपेक्षासे एक कोटी पूर्वकाल और जधन्य अन्तमुहूर्तकाल तक रहना पड़ता है । मध्यम विकल्प असंख्यात हैं ।

प्रश्न - भोगभूमि किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिस स्थानमें असि, मसि, कृषि, वाणिज्यादि षट्कर्मोंमेंसे जीवनोपाय करनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल भाजनांग भोजनांगादि दशविध कल्पवृक्षोंसे इच्छित द्रव्य, घर, आहार, वर्तन इत्यादि सब भोगोपभोग मिलते हैं, ऐसे सुखमय स्थानोंको भोगमूमि कहते हैं ।

प्रश्न - विदेहक्षेत्र किसे कहते हैं ?

उत्तर - जहां जीव असंख्यात वर्षकालके आयुको पाकर, श्री तीर्थंकरोंके चरणकमलोंकी साक्षात् सेवा कर, मोक्ष जाने की योग्यता प्राप्त होती है उसे विदेहक्षेत्र कहते हैं । यह विदेह क्षेत्र इस जम्बूद्वीपके बीचमें है । वहांपर अनवरत धर्मका उद्योत होता रहता है । और पुण्यजीव ही वहां उत्पन्न होते हैं । इस पंचमकालमें भरतक्षेत्रसे मुक्ति न होनेपर भी इस मनुष्य भवमें विशिष्ट पुण्यसंचय करके विदेहक्षेत्रमें जन्म पाकर उसी भवसे मोक्ष जा सकते हैं । अतःभव्य प्राणियोंको शुभ भावनाओंसे विदेहक्षेत्रमें जन्म लेनेका प्रयत्न करना चाहिए ।

स्वर्गतिं कीद्दशो जीवो याति भो सद्गुरो वद !

Question - Oh, good priest ! what kind of being goes to haven ?

प्रश्न - हे गुरो! अब यह बतलाइये कि स्वर्गगतिमें कैसा जीव जाता है ?

भोगाच्छरीराच्च भवाद्विरक्तो, देशव्रती वा सकलव्रती वा
सम्यक्त्वयुक्तश्चरमांगहीनः, स्वाध्यायलीनस्तपसा प्रयुक्तः ॥
निजात्मशुद्धिं स्वपरोपकार, कर्तुं सदा संयतते प्रयत्नात् ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्तः, स एव भव्यो भुवि नाकगामी ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृतार्थ - यश्च संसारभोगशरीरनिर्विण्ण:, स्वहितार्थं देशव्रतं सकलव्रतं वा गृहीत:, सद्दृष्टिसहित:, अपितु चरमशरीरविहीन:, स्वाध्यायजपतपादिकार्ये लीन:, निजात्मविचारं स्वपरोपकारविचारं च कर्तुं सदा उद्युक्त:, स: स्वोपात्तशुभभावोदयेन स्वर्गतिं प्रयाति ।। ९ - १० ।।

Only that fortunate being on this world goes to heaven, who is free from enjoyment or body, who observes the five vows in some respects (अणुव्रत) or completely (महाव्रत), who believes in god, who is not against religious principles, who is absorbed in reading religious books, who does pennance, who always tries to keep his soul pure and tries to do good to others, and one who possesses the feelings mentioned above. (9-10)

अर्थ - जो मनुष्य संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त है, जो देशव्रती है वा सकलव्रती है, जो सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है, परंतु जो चरमशरीरी नहीं है, जो स्वाध्यायमें लीन रहता है, तपश्चरणसे सुशोभित है और जो अपने आत्माकी शुद्धि, अपने आत्माका कल्याण तथा अन्य जीवोंका कल्याण करनेके लिए प्रयत्न पूर्वक सदा उद्योग करता रहता है, इस प्रकार जो ऊपर लिखे शुभ भावोंसे सदा सुशोभित रहता है वही भव्य स्वर्ग जानेवाला समझना चाहिए ।

प्रश्न - स्वर्गमें रहनेवाले जीवोंकी कितनी स्थिति है ?

उत्तर - उत्कृष्टायु तेतीस सागर वर्ष, जघन्यायु दसहजार वर्ष और मध्यम विकल्प अनेक प्रकार है ।

(सागरका प्रमाण नरकगतिके वर्णनमें कहा गया है)

प्रश्न - स्वर्गमें कैसे सुख मिलते हैं ?

उत्तर - स्वर्गमें अनेक देवांगना, अप्सरादि देवियोंसे उत्पन्न सुख देवगण भोगते हैं, वहां कृष्यादि आरंभ क्रिया नहीं हैं । जब वहां उत्पन्न होते हैं सभी सोलहवर्षके युवकके समान उपपाद शय्यासे उठ बैठते हैं । उसी समय देवांगनायें रत्नवस्त्राभरणोंको लेकर दास दासी वगैरे आकर सामने खड़े होते हैं । दश विध कल्पवृक्षोंसे जो चाहे वस्तु मिलते हैं । जो सम्यग्दृष्टि देव हैं वे अपने विमानमें बैठकर अनेक तीर्थस्थान नंदीश्वर आदि द्वीपोंमें और जहां २ अकृत्रिम जैत्यालय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं, वहां पहुंचकर वंदना करते हैं । विशेष पुण्यसे देवेंद्रपद मिलता है । सातिशय पुण्यसे यह जीव दूसरे भवसे मोक्षको प्राप्त करने योग्य लौकांतिक देव या अहमिंद्र पदको प्राप्त करता है । अपनी आयुमें छह महिने अवशेष रहनेपर उन देवोंकी पुष्पमाला आभारणादिकोकी कांति कम हां जाती है, तब उनको अपरिमित दुःख नहीं होता है । सम्यग्दर्शनके फलसे स्वर्ग मिलता है । शुभकार्योंके फलसे भवनवासी आदि देव होते हैं । अतः सम्यग्दर्शन प्राप्त करके अतिशय पुण्य पाकर मोक्ष प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिये ।

कीदृशः पुरुषो लोके मोक्षं गच्छति भो गुरो !

Question - What kind of man obtains the final beatutude ?

प्रश्न - हे गुरो ! इस संसारमें कैसा मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है ?

महाव्रतं वा समितिं दधानो, निजात्मनिष्ठश्चरमांगधारी।
कर्तुं स्वराज्यं यतते सदैव, स्वात्मानुभूत्यां स्वपदऽस्ति लीनः
ध्यानेन शुक्लेन ज कर्महंताः द्रष्टा प्रबोद्धा च निजात्मनो यः ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्तः स एव योगी भुवि मोक्षभागी ॥

संस्कृतार्थ - यश्च मानवः पंचमहाव्रतं धारयन् पंचसमिति पालयति, स्वात्मानंदमग्नः, चरमशरीरधारकः, स्वात्मपदं प्राप्तुं यतते, स्वानुभूति चानुभवतिं, शुक्लध्यानानलेन कर्मेधनं दहति, आत्मानो द्रष्टा प्रबोद्धा च सः स्वात्मजन्मविशुद्धभावबलेन मोक्षमाश्रयति तथा च अनंतकालपर्युंतं परमानंदपरिपूर्णं स्वराज्यमधिगच्छति ॥ ११ - १२ ॥

Only that fortunate being on this world is fit to get the final betitude, who observes the the five vows completely, or who follows the five rules of behaviour (समिति). who is obsorbed in his soul, who follows the religions principles, who always tries to get inependence, who is inclined in his own experience and his own position (Station), who destroys the evil deed by his pure meditation, who sees and advise his own soul, and one who possesses the things metioned above. (11-12)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ - जो मुनि महाव्रत व समितिको धारण करते हैं, जो अपने आत्मामें सदा निमग्न रहते हैं, चरमशरीरी हैं, जो मोक्षरूप स्वराज्य प्राप्त करनेके लिए सदा प्रयत्ने करते रहते हैं स्वत्मानुभूति और स्वात्मपदमें सदा लीन रहते हैं। जो शुक्ल ध्यानके द्वारा कर्मोंको नश करनेवाले हैं और अपने शुद्ध आत्माके ज्ञाता द्रष्टा है, इस प्रकार जो मुनि शुद्धभावोंसे सुशेभित हैं वे ही मुनि इस संसारमें मोक्ष जाते हैं।

प्रश्न - मुनियोंके आवश्यकीय मूलगुण कितने हैं ?

साधुके लिए निम्न लिखित अठ्ठाईस मूलगुणोंका पालन करना अनिवार्य है।

(१) अहिसा महाव्रत - पूर्ण अहिंसा धर्मका पालन करना (२) सत्यमहाव्रत - पूर्ण सत्यधर्मका पालन करना, (३) अस्तेय महाव्रत - पूर्ण अस्तेयधर्मका पालन करना, (४) ब्रह्मचर्यमहाव्रत - पूर्ण ब्रह्मचर्यधर्मको पालन करना, (५) अपरिग्रमहाव्रत - पूर्ण अपरिग्रहधर्मको निर्वाह करना, (६)ईर्यासमिति - प्रयोजन वश जंतुरहित मार्गसे चार हाथ जमीन देखकर चलना, (७) भाषासमिति - निर्दोष वचन बोलना (८) एषणासमिति - शुद्धभोजन जो गृहस्थने अपने लिए तैयार किया हो, उसे भिक्षा रूपसे भक्ति एवं निःस्वार्थ भावसे दिये जानेपर ही लेना (९) आदाननिक्षेपणा समिति - अपना शरीर और अन्य वस्तु जो कुछ भी हो उसे देख - भालकर उठाना एवं रखना, (१०) उत्सर्ग समिति - मलमूत्रादिका त्याग जीवरहित स्थानमें करना (११) चक्षुर्निरोधव्रत - सुंदर और असुंदर दर्शनीय वस्तुओंमें रागद्वेष तथा आसक्तिका त्याग करना, (१२) करणेंद्रियनिरोधव्रत - सुंदर और असुंदर स्वरमें विरक्ति एवं आसक्तिका परिहार (१३) घ्राणेंद्रियनिरोधव्रत - सुगंध तथा दुर्गंधमें राग - द्वेषका त्याग करना, (१४) रसनेंद्रियनिरोधव्रत - जिह्वाकी लोलुपताका त्याग करना (१५) स्पर्शनेद्रियनिरोधव्रत - मृदु रूक्ष आदि आठ प्रकार के दुःख अथवा सुखरूप स्पर्शमें हर्ष विषादसे वंचित रहना (१६) सामायिक - जीवन - मरण, संयोग - वियोग, सुख - दुःख आदि में राग - द्वेष रहित समभाव रखना (१७) स्तवन (१८) वंदना, (१९) प्रतिक्रमण - किये गयेदोषोंको शोधना (२०) प्रत्याख्यान - आगामी कालकेलिये अयोग्यवस्तुका त्याग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना, (२१) कायोत्सर्ग, (२२) केशलोंच - तीन चारमहिने होनेपर उपवास पूर्वक अपने हाथसे मस्तक एवं मूछके बालोंको उखाड़ना (२३) नग्नता - वस्त्र, चर्म, तृण आदिसे शरीरको न ढकना अर्थात् दिगम्बर वेषमें जीवन बिताना (२४) अस्नान - स्नान, उबटन अंजन लेपन आदिका त्याग करना (२५) क्षितिशयन - जीव - वाधारहित गुप्त प्रदेशमें दण्ड अथवा धनुषके समान करवटसे थोड़े समयके लिए सोना (२६) अदंतधावन - हरीदातुन अथवा मंजन आदिसे दंतधावन नहीं करना (२७) स्थितिभोजन - अपने हाथोंको पात्र बनाकर दीवाल आदिका सहारा न लेकर चार अंगलके अंगुलके अंतरसे सम - पाद खड़े होकर शुद्धतासे आहारग्रहण करना (२८) एकभुक्त - सूर्यके उदय और अस्तकालकी तीन घड़ी छोड़कर एकबार भोजन करना ।

इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणोंको धारणकर बाईस परिषहों को भी शांत हृदयसे जीतना चाहिए ।

पश्न - मोक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर - यह आत्मा ज़ब ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंको नाश कर, इस संसार-बंधनसे पार होकर, अनंतज्ञान, अनंतदर्शनादि आठ जो गुणोंको प्राप्त करता है उसे मोक्ष कहतें हैं । श्री उमास्वामी आचार्यश्रीने ऐसा कहा है कि 'कृत्स्नकर्मविप्र-मोक्षो मोक्षः' यह मोक्ष लोकके अग्रभागमें है । उस स्थानको प्राप्त करनेपर यह जीवात्मा परमात्मा हो जाता है । वह फिर जन्ममरणरूप संसारमें आकर दुःख नहीं भोगता है । उस स्थानको प्राप्त कर लेके बाद राग, द्वेष, मद, मात्सार्यादि विकार उस आत्मामें उत्पन्न नहीं होते हैं । जिस प्रकार एक बीजको जलानेपर फिर उसमें अंकुरोत्पत्तिकी योग्यता नहीं रहती है, तद्वत् उस आत्मा में रागद्वेषादि विकारभाव उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, परंतु फिर वहांसे कभी न कभी इस संसारमें जीवको आना पड़ता है ऐसा कहते हैं । यदि यह बात है तो उसे वह यथार्थ सुख नहीं है । क्यों कि उसके बाद दुःख समुद्रमें फिर पड़ता है । परंतु अनेकांतवादी (जैन) मोक्षके स्वरूपको ऐसा नहीं मानते हैं । जैनमतके अनुसार परमात्मा अनंतानंतकालतक परमानंदपदमें मग्न होकर सुख भोगता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसे परम पवित्र स्थानको प्राप्त करना हरएक मनुष्यका कर्तव्य है और उसके लिए अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिए । यही आत्मकल्याणकी व जीवात्माकी उन्नतिकी पराकाष्टा और आदिम ध्येय है ।

आत्मकल्याण चाहनेवाला भव्य जीव सद्गुरुओंके पादमूलमें जाकर सद्धर्मोंको श्रवण कर एवं आत्मकल्याणके साधक मार्गका अवलंबन करें । यह आत्मा अनादिकालसे कर्मबद्ध होकर क्रोधादि विकारमें सुखानुभव करता हुआ आ रहा है । आत्माको उन कर्मोंसे मुक्त होनेके लिए एक नियत समय है । उसे ही काललब्धि कहते हैं । केवल आंख मीचकर खोलनेसे मोक्ष नहीं मिलता है । उसके लिए देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, स्तोत्र आदि शुभकार्योंमें अपने समयको व्यतीत करना चाहिए । अनेक भवोंमें इंद्रियनिग्रह, परीषह जय, कायक्लेश करके अनशनादि तपोंका आचरण करना चाहिये । ये सब आत्मामें विद्यामान कषायोंकी मन्दस्थिति करनेके लिए और शुभपरिणामोंके वर्धनके लिए कारण हैं । शुभपरिणामोंकी वृद्धिसे आत्माके अशुभकर्मोंका नाश होकर उसमें निर्मलज्ञानका विकास होता है । ज्ञानके विकाससे आत्माको संसारकी परिस्थितिका परिज्ञान होता है । फलत:यह आत्मा तत्त्वविचार करके आत्मा और देहके भेदको समझने लगता है और उसे देहादि पदार्थ नाशशील और हेय एवं ज्ञानादिगुण शाश्वत और उपादेय इस प्रकारका ज्ञान होता है परव्यामोहसे खोये हुए निज गुणोंको प्राप्त करनेके लिए गुरुओंके उपदेशानुसार प्रयत्न करता है । आगममें वर्णित मार्गसे कर्मपरतंत्रताको दूर करके आत्माके निजगुणोंको प्राप्त करता है । इसी अवस्थाको मोक्ष वा स्वराज्य कहते हैं । ऐसे स्वराज्यको प्राप्त करनेके लिए हर एक भव्यप्राणी अनवरत अवश्य प्रयत्न करें ।

स्वराज्य प्राप्तिके सरलमार्गको ``बृहत् बोधामृतसार'' में विस्तारसे वर्णन किया है, वहांसे जान लेना चाहिए । यहांपर संक्षेपसे दिग्दर्शन मात्र किया है ।

समाप्त:

46.45
27-11-2000

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi